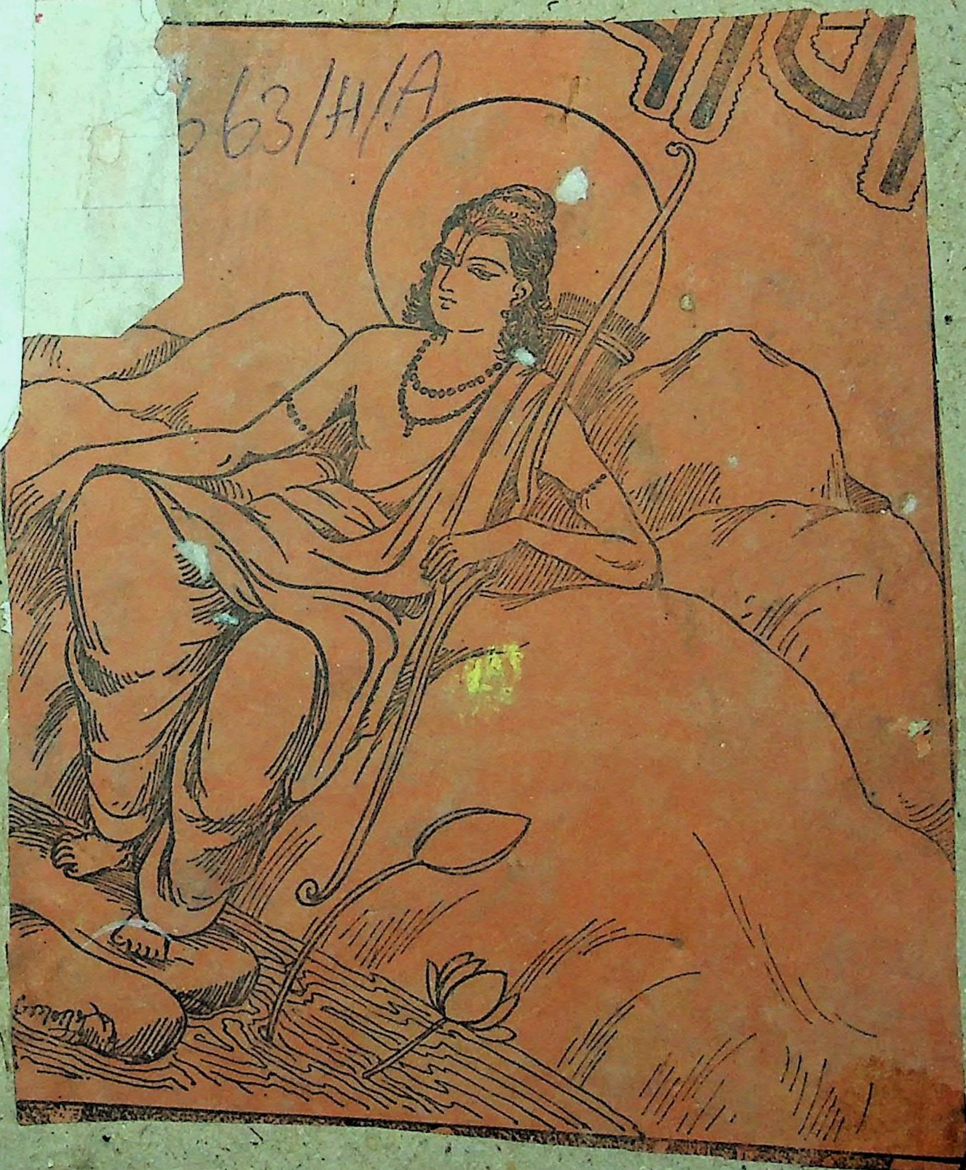
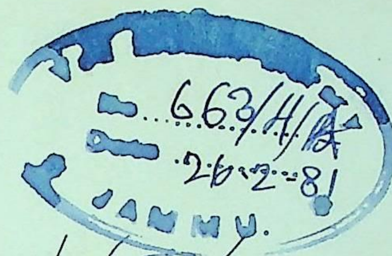


मानस-
मुक्तावली



मानस

बिरला अकादमी आफ

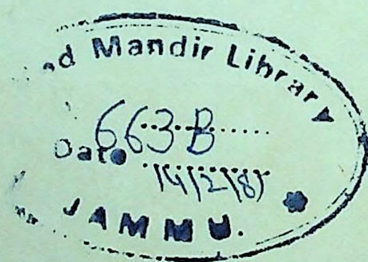


२

मुक्तावली

रचयिता
रामकिंकर उपाध्याय

आर्ट एण्ड कल्चर कलकत्ता



प्रकाशक : बिरला अकादमी आफ आर्ट एण्ड कल्चर
१०८/१०६ सदर्न एवेन्यू कलकत्ता २६

मूल्य : पच्चीस रुपये

संस्करण : रामनवमी संवत् २०३१ (१ अप्रैल १६७४)

मुद्रक : रूपक प्रिंटर्स
के १७ नवीन शाहदरा दिल्ली ३२


श्रीराम जय राम जय जय राम श्रीराम जय राम जय जय राम श्रीराम जय राम जय जय राम श्रीराम जय राम जय जय राम
श्रीराम जय राम जय जय राम श्रीराम जय राम जय जय राम श्रीराम जय राम जय जय राम श्रीराम जय राम जय जय राम

सविनय

हमारे धर्म, दर्शन एवं विश्व-साहित्य का महाकाव्य **रामचरितमानस** विगत ४०० वर्षों से 'वुध' तथा 'जन'-मानस में समान रूप से प्रतिष्ठित है। सर्वाङ्गीण विलक्षण तत्त्वों से ओत-प्रोत **रामचरितमानस** हमारी अनुपम निधि है एवं विश्व-साहित्य की उत्कृष्ट थाती है। प्रकाश-अवतरण के समय से ही **रामचरितमानस** अनवरत 'सुरसरि सम सब कर हित' करता हुआ आज भी सनातन है और चिर शाश्वत रहेगा।

'रामअनन्त, अनंत गुण, अमित कथा विस्तार'—अनेक विद्वानों ने समय-समय पर रामायण की कथा से साहित्य को समृद्ध किया है लेकिन सन्त-शिरोमणि **गोस्वामी तुलसीदास** के **रामचरितमानस** के अवदान से तो हम धन्य-पूरित हैं। वेदों, पुराणों, उपनिषदों एवं अन्य महाग्रन्थों में निहित गूढ़ तत्त्वों को ऐसी सुगम एवं बोधगम्य भाषा में निवद्ध कर प्रातःस्मरणीय गोस्वामीजी के माध्यम से **रामचरितमानस** का प्राकट्य, हमारी संस्कृति एवं साहित्य का चिरन्तन स्रोत रहेगा।

ऐसे महाग्रन्थ की कथा-प्रवचनों की परम्परा में विगत लगभग २० वर्षों से **पं० रामकिंकरजी उपाध्याय** ने अपनी विशिष्ट शैली में विलक्षण पैठ से जिस प्रकार सर्वसाधारण को आकर्षित एवं प्रभावित किया है, वह अतुलनीय है। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि इधर कई वर्षों में आदरणीय पंडितजी द्वारा लिखित कई प्रकाशन भी हुए हैं जो हमारे साहित्य की समृद्धि हैं। हमारा सौभाग्य है कि बिरला-परिवार पर आदरणीय पंडितजी की स्नेहपूर्ण कृपा रहती है। मानस-चतुःशती वर्ष के उपलक्ष में **मानस-मुक्तावली** के प्रकाशन से संवद्ध होकर बिरला अकादमी अपने को गौरवान्वित समझती है और तदर्थ हम **पं० रामकिंकरजी** महाराज के अत्यन्त आभारी हैं। प्रस्तुत योजना की परिकल्पना से लेकर कार्यान्विति तक श्री रमणलाल बिन्नानी का सहयोग उल्लेखनीय रहा है।

ऐसे महामहिमामय महाकाव्य के चतुःशती-वर्ष के ऐतिहासिक स्वर्ण सुअवसर पर हम उस विराट् महाकवि को हृदय से अपनी श्रद्धा निवेदित करते हैं। **मानस-मुक्तावली** का प्रकाशन बिरला अकादमी का विनम्र अर्घ्य है।

सरला बिरला

महाशिवरात्रि
संवत् २०३०

प्रेरणा से प्रकाशन तक

"रामचरितमानस चतुःशती के सन्दर्भ में आपका अवदान क्या होगा ?" सुहृद् श्री रमणलालजी बिन्नानी ने मुझसे प्रश्न किया। प्रश्न प्रेरक प्रतीत हुआ। यह प्रश्न भी तो प्रभु ने ही उनके मुख से कराया होगा, ऐसा मन में भाव बना। चतुःशती है तो क्यों न इसके बहाने मानस की चार सौ पंक्तियों पर कुछ विचार प्रस्तुत किए जाएँ, इस तरह का संकल्प बना। समय की सीमा से कुछ सुविधाएँ थीं तो असुविधा भी थी। समय की सीमा शीघ्रता से कार्य सम्पन्न करने की प्रेरणा देती है, किन्तु यह भी तो भय था ही कि संकल्प पूरा न हुआ तो ? पर मुझे इतनी चिन्ता क्यों करनी चाहिए ? प्रभु चाहेंगे तो करा लेंगे। यदि नहीं भी पूरा हुआ तो जिस सीमा तक होगा, वही सही ! इस तरह के संकल्प-विकल्प मन में उठते रहे।

बिन्नानीजी ने यह भी सूचना दी, "इस संकल्प की बात सुनकर श्री बसन्तकुमार जी बिरला और सौजन्यमयी सरलाजी बिरला बड़े आनन्दित हुए हैं।" उन्होंने स्वयं भी मिलकर इस विषय में उत्सुकता और उत्साह दोनों प्रकट किये। मुझे लगा, संकल्प के साकार होने पर उसे लोगों तक पहुँचाने के लिए यजमान भी प्रभु ने ही खोज लिया है। इस तरह ग्रन्थ-रचना का आधार बन गया। सौ पंक्तियों का यह द्वितीय खण्ड प्रकाशित हो रहा है। चार सौ पंक्तियों पर विचार चार खण्डों में प्रकाशित किए जाएँ, ऐसी योजना है। पूरा करना प्रभु के हाथ में है।

बिरला-परिवार ने विविध क्षेत्रों में देश को अवदान दिए हैं। बिरला अकादमी के माध्यम से संस्कृति, साहित्य और कला के क्षेत्र में उत्कर्ष की उनकी योजना है। प्रकाशन की यह योजना अकादमी के माध्यम से ही सम्पन्न होने जा रही है। इसके लिए मैं सौ० सरलाजी और श्री बसन्तकुमारजी का आभारी हूँ।

—रामकिंकर

मुक्तावली-क्रम

।। श्रीराम: शरणं मम ।।

भूमिका

"अरथ अमित अरु आखर थोरे"

सृष्टि में नश्वरता और परिवर्तन की प्रक्रिया केवल भौतिक पदार्थों के विषय में ही यथार्थ नहीं है, अधिकांश कवि और लेखक जिस शब्द-सृष्टि की रचना करते हैं, वे भी इसी परिधि में आ जाती हैं। किसी देश, काल और व्यक्ति के संदर्भ में जिन रचनाओं को लोग हृदय के सिंहासन पर अभिषिक्त करते हैं, समय पाकर उन्हें सत्ताच्युत कर देने और बिसरा देने में भी संकोच का अनुभव नहीं करते। पुराणों में गिनाए गए राजाओं की वंश-परम्परा की नामावली की भाँति उनकी स्मृति केवल भाषा के इतिहास में ही अवशिष्ट रह जाती है; पर कुछ रचनाएँ इसका अपवाद भी होती हैं। 'रामचरित मानस' उनमें से एक है। 'मानस' की इस अमृत शक्ति का रहस्य क्या है?

क्षणिक रचनाओं की तुलना उस नदी से की जाती है जो वर्षा के जल पर आश्रित हैं। अध्ययन के समुद्र से विचार के मेघ मस्तिष्क में उमड़ पड़ते हैं और शब्दों की झड़ी लग जाती है और इस तरह रचना की वेगवती नदी प्रवाहित हो जाती है। तत्कालीन पाठक उसकी विशालता से अभिभूत हो उठता है, किन्तु समय के प्रवाह में रचना का रस सूख जाता है।

कालजयी कृति गंगा की भाँति है, जिसका मूल स्रोत बाहर न होकर हृदय-हिमालय का 'गोमुख' है—अजस्र और कभी न सूखने वाला स्रोत! उद्‌गम में उसका रूप अत्यन्त सूक्ष्म प्रतीत होता है, किन्तु क्रमश: वह वामन से विराट् बन जाती है। पौराणिक दृष्टि से गंगा का प्राकट्य भी तो भगवान् विष्णु के विराट् रूप से हुआ था और यह विराट् भी पहले वामन के ही रूप में दिखायी पड़े थे। अमर कृतियों का गौरव भी वामन से विराट् बन जाता है। क्षणिक रचनाएँ प्रारम्भ में विराट् प्रतीत होकर अन्त में वामन बन जाती हैं।

बामन और विराट् के सन्दर्भ में मानस की एक पंक्ति का स्मरण आता है, जिसे गोस्वामीजी श्रीभरत की वाणी की सराहना में प्रयुक्त करते हैं। उनकी वाणी

में अल्प शब्द होते हुए भी उसका अर्थ अमित है :

सुगम अगम मृदु मञ्जु कठोरे।
अरथ अमित अरु आखर थोरे॥

थोड़े वाक्यों में अमित अर्थ का तात्पर्य भी वामन से विराट् का विस्तार ही है। संसार में बौनों की कमी नहीं है। उसमें से अनेक भिक्षा माँगते हुए दिखायी देते हैं। वे याचना करते हुए जो शब्द कहते हैं, उनका अर्थ बड़ा सीधा-सादा है। वे अभाव-ग्रस्त हैं और उनकी पूर्ति चाहते हैं। किन्तु अनोखा दृश्य तब था, जब भगवान् विष्णु ही बलि की यज्ञशाला में पधारे और उन्होंने दैत्यराज बलि से तीन पग भूमि की याचना की। वामन की बलि से याचना का तात्पर्य क्या था? बलि ने उसका सीधा-सा अर्थ लिया और वह इसीलिए हंस पड़ा। इतने महान् दाता के पास पहुँचकर इतना क्षुद्र दान माँगना उसे हास्यास्पद लगा। बलि कह भी उठा—"वटु! लगता है तुम शरीर से ही वामन नहीं हो, तुम्हारी बुद्धि भी बौनी है।" किन्तु सत्य यह था कि बलि ही वामन के वाक्यों का अर्थ नहीं समझ पाया था। इसका ज्ञान तो उसे तब हुआ, जब वटु ने विराट् बनकर दो पग में समग्र ब्रह्माण्ड को नाप लिया। भगवान् वामन के इस नन्हे-से वाक्य का वास्तविक अर्थ क्या था? 'अमित अर्थ' की सार्थकता यही है। यह वाणी ईश्वर की पूर्ण और शाश्वत वाणी है। इसके अर्थों की कोई सीमा नहीं है। देश, काल और व्यक्तियों के सन्दर्भ में इसका अर्थ परिवर्तित होता रहेगा। मुझे उन लोगों की बुद्धि पर तरस आता है जो सही अर्थ को लेकर तर्क-वितर्क में उलझ जाते हैं। प्रश्न यह नहीं है कि वास्तविक अर्थ क्या है, अपितु महत्त्वपूर्ण यह है कि आत्म-कल्याण की दृष्टि से किसके लिए कौन-सा अर्थ लेना उपयोगी है?

भगवान् वामन के इस वाक्य का चिन्तन करते हुए अनेक अर्थ स्फुरित होते हैं। प्राचीन काल से अनगिनत लोगों की दृष्टि इस कथा की ओर गयी है। विद्वानों से लेकर साधारण जन-समूह तक ने इसमें से भिन्न-भिन्न अर्थ ग्रहण किये है। हिन्दी भाषी प्रदेशों में प्रचलित लोकोक्ति है—

माँगन के बराबर और काम नहिं खोटा।
माँगन गए बलि के द्वार राम भए छोटा॥

"याचना से बढ़कर कोई बुरा कार्य नहीं है। इसीलिए भगवान् को भी याचक वृत्ति स्वीकार कर लेने पर वामन बन जाना पड़ा।"—इस प्रकार का अर्थ लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। पर प्रश्न तो यह है कि इस प्रकार का अर्थ किसे लेना चाहिए। याचक को या दाता को? एक याचक के लिए यह वाक्य प्रेरक सिद्ध हो सकता है, यदि इसे पढ़कर उसे याचना की क्षुद्रता का भान हो और वह दैन्य से मुक्त होकर मांगना बन्द कर दे। उसे लगना चाहिए कि तीन पग की

याचना करते-करते सारा ब्रह्माण्ड पा लेने पर भी वामन को संतोष नहीं हुआ। इसके द्वारा भगवान् ने शिक्षा दी कि याचक सर्वदा छोटी-सी माँग रखता है पर जीवन-भर उसकी माँग बनी ही रहती है। नित्य ही तो यह दृश्य देखने को मिलता है। भिखारी पुकार उठते हैं—"बाबा ! एक पैसा मिल जाय।" पर दिन-भर न जाने कितनी बार एक पैसा पाकर भी उनका माँगना समाप्त नहींहोता है। प्रति-दिन और प्रतिक्षण इसकी पुनरावृत्ति होती रहती है। किन्तु यह अर्थ कल्याण-कारी तभी है जब याचक इस अर्थ को ले।

दाता के लिए इसका अर्थ सर्वथा भिन्न है। दाता स्वयं को श्रेष्ठ और याचक को हीन दृष्टि से देखता है। प्रत्यक्ष रूप से यहाँ भी यही दृष्टिगोचर हो रहा था। दाता बड़ा और याचक वामन दिखायी पड़ा। किन्तु अन्त में याचक इतना बड़ा हो गया कि दाता ही क्षुद्र सिद्ध हो गया। सारा ब्रह्माण्ड प्रभु का है। स्वयं को स्वामी समझकर दातापन का दावा धृष्टता है। बलि की मिथ्या मान्यता को ईश्वर ने विराट् बनकर नष्ट कर दिया।

भक्त इसमें भगवान् की महती कृपा का अर्थ पा लेता है। बलि भक्तराज प्रह्लाद का पौत्र था, अतः वह प्रभु की कृपा का वास्तविक अधिकारी था। इसी-लिए यज्ञ के अन्त में साक्षात् यज्ञ पुरुष प्रभु पधारे। ईश्वर की उपलब्धि तभी होती है जब 'अहं' का समग्र विनाशहो जाता है। किन्तु इस अहं का विनाशप्रभु के द्वारा ही संभव था; इसीलिए वे विराट् बनकर ब्रह्माण्ड को नहीं, बलि के सात्त्विक अहं को ही नाप लेते हैं। अहं की क्षुद्रता सिद्ध करते हुए दान की पूर्णता के लिए अपना श्रीचरण उसके मस्तष्क पर रखकर उसे कृतकृत्य कर देते हैं।

ज्ञानी को इस गाथा में बन्धन और भक्ति का रहस्य दृष्टिगोचर होता है। बलि ने सारा विश्व दान में दे दिया। फिर भी वह भगवान् के द्वारा बाँध लिया गया। अतः सत्कर्म के प्रति आसक्ति भी व्यक्ति को बद्ध बना देती है। मुक्ति तो एकमात्र ज्ञान से होती है—"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः"। ज्ञान का सच्चा अर्थ है, "मिथ्या मान्यताओं से मुक्ति" और स्वयं के स्वरूप को जान लेना। बलि व्यष्टि-अहंकार से ऊपर उठकर मुक्ति का भागी बन गया। भगवान् वामन ने ब्रह्माण्ड को नापकर समस्त लोकों के सुख को ससीम सिद्ध कर दिया। दैत्यराज बलि की इन्द्र से स्पर्धा थी। पर उसे ज्ञात हो गया कि स्वर्गलोक की तो बात ही क्या, ब्रह्म-लोक भी ससीम है—एकमात्र ब्रह्म ही असीम है !

तीन पग की याचना भी अद्भुत थी। उपनिषदों ने ब्रह्म का वर्णन चतुष्पाद के रूप में किया है। सारा ब्रह्माण्ड उसके एक पाद में निवास करता है। स्वयं वह त्रिपाद विभूति में स्थित है। बलि उस एक पाद ब्रह्माण्ड का एक क्षुद्र जीव होकर दाता बन बैठा। उसकी घोषणा थी कि याचक जो भी चाहेगा, उसे मिलेगा।

इस प्रकार का दावा तो त्रिपाद विभूति में स्थित ईश्वर ही कर सकता है जो स्वयं पूर्ण है। भगवान वामन की याचना में इस धृष्टता पर व्यंग था। अगर वह तात्त्विक अर्थों में नापता तो सारा ब्रह्माण्ड एक पग भी सिद्ध न होता। वह एक पाद् ब्रह्माण्ड में स्थित होकर जिस विराट् रूप को प्रकट करता है, वह वामन की तुलना में विराट् है। वस्तुत: वह वामन और विराट् ही नहीं, उससे भी परे था। इसीलिए वह ढाई पग में ब्रह्माण्ड को नापकर बलि को यह बता देना चाहता है कि तू दान में अर्थ अथवा काम को ही दे सकता है। अधिक-से-अधिक आधा और भी माँगा जा सकता है। दान एक महान् धर्म है। उसे भी एक चरण माना जा सकता था। पर वह धर्म भी दातापन के गर्व के कारण अधूरा था। इसीलिए बलि केवल ढाई पग ही दे पाया। ब्रह्माण्ड में तीन पग के रूप में अर्थ, धर्म और काम हैं। किन्तु चौथा पग तब भी शेष रह जाता है। वह मोक्ष ईश्वर की कृपा से उपलब्ध होता है। बलि को दान की अपूर्णता के लिए बाँधने के पश्चात् प्रभु ने उसे बाद में बन्धन-मुक्त करते हुए, अपनी करुणा और अपने स्वरूप, दोनों का परिचय दिया।

माया ईश न आपु कहँ जान कहिय सो जीव।
बन्ध मोच्छप्रद सर्ब पर, माया प्रेरक सींव।।

उपर्युक्त दोहे में जीव और ईश्वर की जो परिभाषा की गयी है, वह इस प्रसङ्ग में पूरी तरह घटित होती है। "माया, ईश्वर और स्वयं को न जानने वाला ही जीव है।" बलि की भी यही स्थिति थी। ईश्वर स्वयं माया का आश्रय लेकर वामन-वेष में उसके समक्ष खड़ा था, पर बलि उसे नहीं पहचान पाया। यदि वह स्वयं की सीमाओं को जानता तो सब कुछ दे सकने की घोपणा न करता। दूसरी ओर ईश्वर की व्याख्या प्रभु ने " 'बन्ध और मोक्ष' दोनों ही देने की सामर्थ्य जिसमें हो" इस तरह से की है। भगवान् वामन ने इन दोनों ही सामर्थ्यों का परिचय दिया।

ऐतिहासिक सन्दर्भ में उसका एक निम्न तात्पर्य था। यह देवताओं और दैत्यों के शाश्वत संघर्ष का ही एक भाग था। देवता और दैत्य एक ही पिता के पुत्र होते हुए भी परस्पर एक-दूसरे के विरोधी हैं। महर्षि कश्यप की दो पत्नियों के गर्भ से इन दो जातियों की उत्पत्ति होती है—दिति से दैत्य, अदिति से देवता। इनमें सत्ता के लिए संघर्ष चलता ही रहता है। जय और पराजय का क्रम परिवर्तित होता रहता है। इन्द्र ने बलि को परास्त किया। युद्धस्थल में मृत बलि को शुक्राचार्य ने जीवन-दान दिया। विश्वजित् यज्ञ से उसे नवीन शक्ति प्राप्त हुई। इस बार इन्द्र पराजित होकर स्वर्ग छोड़कर भाग गया। स्वर्ग पर दैत्यों का अधिकार हो गया। अदिति ने व्यथित होकर भगवान् की आराधना की और उनसे

पुत्रों का ऐश्वर्य लौटाने की प्रार्थना की। भगवान् वामन के रूप में अदिति के गर्भ से अवतरित होकर बलि की यज्ञशाला में जाते हैं और दो पग में सारी भूमि नाप कर इन्द्र को पुनः स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित करते हैं।

बहिरङ्ग दृष्टि से ईश्वर इसमें पक्षपाती और छली के रूप में दिखाई देता है। क्या ईश्वर में भी विषमता है ? क्या वह भी छल का आश्रय लेता है ? सारी कथा बड़ी ही अटपटी प्रतीत होती है। किन्तु श्रीमद्भागवत में इसका बड़ा ही मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया गया है। गहराई से अध्ययन करने पर जो निष्कर्ष निकलता है वह जीवन के यथार्थ स्वरूप को प्रस्तुत करता है। सफलता और विफलता के आधार पर जीवन की व्याख्या व्यक्ति को कभी सही निष्कर्ष तक पहुँचने ही नहीं देती है। परन्तु व्यवहार में हम इसी दृष्टि से सोचने के अभ्यस्त हैं। एक धार्मिक व्यक्ति के उत्थान और सफलता को देखकर धर्म के प्रति आस्थावान् व्यक्ति कह उठता है कि यह उसके धर्म का परिणाम है। किन्तु एक ऐसा व्यक्ति जो हमारी दृष्टि में अधार्मिक है, जब चरम उत्कर्ष पर पहुँच जाता है, तब व्यक्ति का मन संशयालु हो उठता है। जिनकी आस्था किन्हीं आदर्शों के प्रति नहीं है, वे इससे सन्तुष्ट होते हैं। उन्हें लगता है कि सफलता ही सब-कुछ है। इसके लिए किसी भी साधन का आश्रय लेने में कोई संकोच नहीं करना चाहिए। इस समस्या का जो समाधान पौराणिक परम्परा में प्रस्तुत किया गया है, उसे संक्षेप में इस रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

पुनर्जन्म और कर्म-सिद्धान्त के द्वारा यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया जाता है कि व्यक्ति के जीवन का जो भाग प्रत्यक्ष है, वही तो सब-कुछ नहीं है। व्यक्ति के पहले भी अगणित जन्म हो चुके हैं, उनका परिणाम भोगना भी अवश्यंभावी है। यदि कोई सफलता, समृद्धि और उत्थान प्राप्त करता है तो हो सकता है कि वह उसके किसी अन्य जन्म के कर्म का परिणाम हो। कर्म की इस मान्यता से अनेक लोगों को सन्तोष नहीं होता। पुनर्जन्म आस्था का विषय है। व्यक्ति के कर्म प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देते। इस उलझन के समाधान के लिए 'काल-सिद्धान्त' प्रस्तुत किया जाता है। सृष्टि में निरन्तर काल-चक्र गतिशील है। कोई भी वस्तु जब चक्राकार चलती है तब उसमें प्रत्येक तीली का क्रमशः ऊँचे या नीचे जाना स्वाभाविक ही है। समाज, जाति या व्यक्ति उत्थान और पतन के चक्र से अछूता रह ही नहीं सकता है। विश्व का सारा इतिहास भी इसी का साक्षी है :

बीर सुधीर धुरन्धर देवा।
साधु समाज सदा तुम्ह सेवा।।
जनम मरन सब सुख दुःख भोगा।
हानि लाभ प्रिय मिलन बियोगा।।

काल करम बस होहिं गोसाईं।
बरबस राति दिवस की नाईं॥

ऐसी स्थिति में धर्म या दर्शन अपरिहार्य को अस्वीकार नहीं करते हैं; किंतु जो अनिवार्य है उसे हम किस रूप में ग्रहण करें, यही उनकी प्रेरणा का मुख्य विषय है। बलि के सारे उपाख्यान को इसी दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। दैत्य-राज बलि का जीवन अपनी समग्र सफलता-विफलता में विलक्षण है। दैत्य शब्द के प्रति हमारे संस्कारों में जो विपरीत धारणा हो गयी है, वे उसके प्रतीक नहीं हैं। दैत्य दर्शन में जो कुछ उत्कृष्ट है वह तो उनके रक्त में विद्यमान ही था; देवत्व की समग्र परिणति भी उनके चरित्र में अभिव्यक्त होती है।

देवता पुण्य का प्रतीक है। वह कर्म-सिद्धान्त की अनिवार्यता स्वीकार करता है। सौ अश्वमेध यज्ञ करने पर इन्द्र पद प्राप्त होता है। नियति के इस सारे क्रम के प्रति उसकी अपार श्रद्धा है। सृष्टि-व्यवस्था में उसका बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग है। प्रजापति ब्रह्मा सृष्टि के सम्यक् सञ्चालन के लिए उसे अनिवार्य मानते हैं। वे मानव जाति को आदेश देते हैं कि वह यज्ञों के द्वारा देवताओं का यजन करे और बदले में देवता भी उसकी कामना पूर्ण करें:

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥ ३-१०-११

दैत्य इस व्यवस्था का विरोध करते हैं। वे विद्रोही हैं। देवत्व की प्रतीक्षा उसके लिए सम्भव नहीं है। देवताओं का वैभव और भोग उन्हें असहिष्णु बनाता है। अदिति के पुत्र अल्प पुरुषार्थी होते हुए भी स्वर्ग पर शासन करते रहें, यह स्थिति उन्हें असह्य प्रतीत होती है। वे तेजस्वी हैं। पुरुषार्थ पर उनका विश्वास है। वे तेजोमयी दिति के बेटे हैं। अपने पुरुषार्थ से वे स्वर्ग पर अधिकार करने का प्रयास करते हैं। कभी वे सफल होते हैं तो कभी असफल। उनका तेजस्वी स्वभाव जहाँ पुरुषार्थ की प्रेरणा देता है, वहीं ईश्वर के प्रति उपेक्षा और विरोध की वृत्ति को भी जन्म देता है। ईश्वर की स्वीकृति में जिन अनिवार्य पराधीन-ताओं को स्वीकार करना पड़ता है, वे उन्हें स्वीकार कर ही नहीं सकते।

प्रह्लाद दैत्य जाति में जन्म लेकर भी दैत्य-दर्शन को पूरी तरह अस्वीकार कर देते हैं। हिरण्यकशिपु दैत्य-दर्शन का प्रतिनिधित्व करता है। वह केवल देव-ताओं को ही अस्वीकार नहीं करता वरन् ईश्वर को भी अपना शत्रु मानता है। इस विषय में वह इतना असहिष्णु है कि ईश्वर-भक्ति करने वाले अपने ही पुत्र प्रह्लाद को अपना शत्रु मान लेता है। इस प्रयास का अन्तिम परिणति हिरण्य-

कशिपु के वध के रूप में होती है। बलि इन्हीं प्रह्लाद का पौत्र था। उसमें दैत्य जाति की तेजस्विता के साथ-साथ प्रह्लाद की भक्ति के संस्कार भी विद्यमान थे। बलि स्वर्ग पर देवताओं के अधिकार को चुनौती देता है। एक बार पराजित होने पर भी उसका उत्साह समाप्त नहीं होता है और अन्त में वह इन्द्र को स्वर्ग से निष्कासित करने में समर्थ होता है। अन्त में दिति, भगवान् की उपासना के माध्यम से अपने पुत्रों के खोये हुए ऐश्वर्य को पुनः प्राप्त करना चाहती है। ईश्वर उनकी कामना पूर्ण करने के लिए वामन के रूप में बलि की यज्ञशाला में जाते हैं और बलि से दान के रूप में सारा ऐश्वर्य लेकर इन्द्र को लौटा देते हैं। अदिति प्रसन्न हो जाती है। लगता है, इन्द्र ने जो खोया था, उसे पा लिया और बलि ने सब-कुछ खो दिया। यदि ऐसा होता तो इन्द्र प्रसन्न और बलि दुःखी हो जाता। ईश्वर एक का पक्षपाती और दूसरे का विरोधी सिद्ध हो जाता, किन्तु ऐसा नहीं हुआ। बलि जीवन का सही अर्थ लेना जानता था, इसलिए उसने भौतिक अर्थों में जो खोया, उसके बदले में वह पा लिया, जिससे बढ़कर कोई अन्य उपलब्धि नहीं हो सकती है।

बलि से तीन पग भूमि की याचना करते हुए भगवान् वामन के रूप में थे और लेते समय विराट् बन गए। यह दैत्यों की दृष्टि से छल था। इसलिए वे ब्रह्म का प्रतिकार करने के लिए प्रस्तुत हो गए। शस्त्र लेकर वे युद्ध के लिए एकत्र हो गए, किन्तु कालज्ञ बलि ने विचारपूर्ण शब्दों में इसका निषेध किया :

हे विप्रचित्ते ! हे राहो ! हे नेमे ! श्रूयतां वचः।
मा युध्यत निवर्तध्वं न नः कालोऽयमर्थकृत् ॥
यः प्रभुः सर्वभूतानां सुखदुःखोपपत्तये।
तं नातिवर्तितुं दैत्याः पौरुषैरीश्वरः पुमान् ॥
यो नो भवाय प्रागासीदभवाय दिवौकसाम्।
स एव भगवानद्य वर्तते तद्विपर्ययम् ॥
बलेन सचिवैर्बुद्ध्या दुर्गैर्मन्त्रौषधादिभिः।
सामादिभिरुपायैश्च कालं नात्येति वै जनः ॥
भवद्भिर्निर्जिता ह्येते बहुशोऽनुचरा हरेः।
दैवेनर्द्धैस्त एवाद्य युधि जित्वा नदन्ति नः ॥
एतान वयं विजेष्यामो यदि दैवं प्रसीदति।
तस्मात् कालं प्रतीक्षध्वं यो नोऽर्थत्वाय कल्पते ॥

श्रीमद्भागवत ८/२१/१९-२४

"भाइयो, मेरी बात सुनो ! लड़ो मत ! वापस लौट जाओ ! यह समय हमारे काय के अनुकूल नहीं है। दैत्यो ! जो काल समस्त प्राणियों को सुख और दुःख

देने की सामर्थ्य रखता है, उसे यदि कोई पुरुष चाहे कि मैं अपने प्रयत्नों से दबा दूँ तो यह उसकी शक्ति से बाहर है। जो पहले हमारी उन्नति और देवताओं की अवनति के कारण हुए थे, वही काल भगवान्, अब उनकी उन्नति और हमारी अवनति के कारण हो रहे हैं। बल, मंत्री, बुद्धि, दुर्ग, मन्त्र, औषधि और सामादि उपाय—इनमें से किसी भी साधन के द्वारा अथवा सबके द्वारा मनुष्य काल पर विजय नहीं प्राप्त कर सकता। जब दैव तुम लोगों के अनुकूल था, तब तुम लोगों ने भगवान् के इन पार्षदों को कई बार जीत लिया था। पर देखो, आज वे ही युद्ध में हम पर विजय प्राप्त करके सिंहनाद कर रहे हैं। यदि दैव हमारे अनुकूल हो जाएगा तो हम भी इन्हें जीत लेंगे। इसीलिए उस समय की प्रतीक्षा करो, जो हमारी कार्य-सिद्धि के लिए अनुकूल हो।"

बलि के द्वारा दैत्यों का किया जाने वाला यह उद्‌बोधन उसके मस्तिष्क के सन्तुलन का परिचायक तो है ही, वह इससे भी आगे बढ़ जाता है। प्रह्लाद के पौत्र का हृदय भक्ति-भावना से पूर्ण था। इस अवसर पर भक्तराज प्रह्लाद भी वहाँ पधारते हैं। वे भगवान् से यह प्रार्थना करने नहीं आये थे कि भगवान् वामन उनके पौत्र का ऐश्वर्य उसे लौटा दें। वे तो इसमें प्रभु की परम कृपा का साक्षात्कार कर रहे थे। प्रह्लाद ने भगवान् से यही कहा कि आपका देना और लेना दोनों महान् हैं:

त्वयैव दत्तं पदमैन्द्रमूर्जितं
हृतं तदेवाद्य तथैव शोभनम्।
मन्ये महानस्य कृतो ह्यनुग्रहो
विभ्रंशितो यच्छ्रिय आत्ममोहनात्॥

बलि को स्वर्गलोक के स्थान पर सुतल लोक में जाने का आदेश प्राप्त हुआ। भौतिक अर्थों में स्वर्ग ऊपर है और सुतल लोक नीचे। किन्तु क्या यह बलि का पतन था? नही, स्वयं भगवान् वामन ने आशीर्वाद देते हुए उसे यह आश्वासन दिया कि मैं तुम्हारी रक्षा करते हुए सदैव तुम्हारे समीप रहूँगा:

तावत् सुतलमध्यास्तां विश्वकर्म विनिर्मितम्।
यन्नाधयो व्याधयश्च क्लमस्तन्द्रा पराभवः॥
नोपसर्गानिवसतां सम्भवन्ति ममेक्षया।
इन्द्रसेन महाराज याहि भो भद्रमस्तु ते॥
सुतलं स्वर्गिभिः प्रार्थ्य ज्ञातिभिः परिवारितः।
न त्वामभि भविष्यन्ति लोकेशाः किमुता परे॥
त्वच्छासनातिगान् दैत्यांश्चक्रं मे सूदयिष्यति।
रक्षिष्ये सर्वतोऽहं त्वां सानुगं सपरिच्छदम्॥

सदा सन्निहितं वीर तत्र मां द्रक्ष्यते भवान्।
तत्र दानवदैत्यानां सङ्गात् ते भाव आसुरः॥
दृष्ट्वा मदनुभावं वै सद्यः कुण्ठो विनङ्क्ष्यति।
श्रीमद्भागवत २१/८/३२-३६

भगवान् वामन कहते हैं—"सार्वाणि मन्वन्तर में यह बलि ही इन्द्र बनेगा। तब तक जाकर यह सुतल लोक में रहे":

एष में प्रापितः स्थानं दुष्प्रापममरैरपि।
सावर्णेरन्तरस्यायं भवितेन्द्रो मदाश्रयः॥
श्रीमद्भागवत ८/२२/३१

यही भक्ति का जीवन-दर्शन है। जीवन को सही दृष्टि से देखकर और उसके अर्थ को ग्रहण करने वाला धन्य हो जाता है। वामन के रूप में बलि की यज्ञशाला में पधारने वाला ईश्वर ही श्रीराम के रूप में अवतरित होता है। श्रीराम को युवराज-पद पर अभिषिक्त किये जाने की घोषणा की जाती है। कैकेयी उनका राज्य छीनकर अपने पुत्र भरत को देने का निश्चय करती है। कैकेयी की कल्पना थी कि यह समाचार सुनकर श्रीराम मर्माहत हो जायेंगे। किन्तु श्रीराम का आनन्द चौगुना हो उठा, क्योंकि वे सही अर्थ लेना जानते थे। उन्हें लगा आज ब्रह्मा पूरी तरह मेरे सम्मुख है। वन में मुनियों का मिलन, माँ की अभीष्ट-सिद्धि, पिता के सत्य की रक्षा और प्राण-प्रिय भरत को राज्य की उपलब्धि :

मुनिगन मिलन बिसेष वन, सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि, सम्मत जननी तोर॥
भरत प्रान प्रिय पावइ राजू।
बिधि सब बिधि मोहिं सम्मुख आजू॥

कैकेयी के वाक्यों का यह अर्थ भी सम्भव है, इसे वे स्वप्न में भी नहीं सोच सकती थीं। पर राम ने उसे एक नया अर्थ प्रदान किया। जीवन स्वयं एक काव्य है और इसका रचयिता है ईश्वर—"पश्य देवस्य काव्यं" में इसी की ओर इङ्गित है। जिस काव्य का आधार शाश्वत और पूर्ण ईश्वर होगा उसकी विलक्षणता यही होती है। देश काल और व्यक्ति के भिन्न सन्दर्भों में उसके अर्थ परिर्वातित हो जाते हैं।

यों तो सारा रामचरित मानस "अरथ अमित अरु आखर थोरे" का दृष्टान्त है, पर उसमें भी अयोध्याकाण्ड तो इसी दृष्टि से सर्वथा अप्रतिम है।

—रामकिंकर

मानसमुक्तावली-२

मानस-मुक्तावली भाग-२ में जिन पंक्तियों के आधार पर व्याख्या प्रस्तुत की गई है, वे निम्नलिखित हैं :—

१. श्री गुरु चरन सरोज रज, निज मन मुकुरु सुधारि।
बरनउँ रघुबर बिमल जसु, जो दायकु फल चारि।।

२. राय सुभाय मुकुर कर लीन्हा। बदन बिलोकि मुकुट सम कीन्हा।।
श्रवन समीप भए सित केसा। मनहुँ जरठपन अस उपदेसा।।
नृप जुबराज राम कहँ देहू। जीवन जनम लाहु किन लेहू।।

३. सकल कहहिं कब होइहि काली। बिघन मनावहिं देव कुचाली।।
तिन्हहि सोहाइ न अवध बधावा। चोरहिं चाँदिनि राति न भावा।।
सारद बोलि बिनय सुर करहीं। बारहिं बार पायँ लै परहीं।।
बिपति हमारि बिलोकि बड़ि, मातु करिअ सोइ आज।
राम जाहिं बन राज तजि, होइ सकल सुर काज।।

४. नामु मंथरा मंदमति, चेरी कैकइ केरि।
अजस पेटारी ताहि करि, गई गिरा मति फेरि।।
दीख मंथरा नगरु बनावा। मंजुल मंगल बाज बधावा।।
पूछेसि लोगन्ह काह उछाहू। राम तिलकु सुनि भा उर दाहू।।
करइ बिचारु कुबुद्धि कुजाती। होइ अकाजु कवनि बिधि राती।।
देखि लागि मधु कुटिल किराती। जिमि गवँ तकइ लेउँ केहि भाँती।।

५. बाल सखा सुनि हिय हरषाहीं। मिलि दस पाँच राम पहिं जाहीं।।
प्रभु आदरहिं प्रेम पहिचानी। पूछहिं कुसल खेम मृदु बानी।।
फिरहिं भवन प्रिय आयसु पाई। करत परसपर राम बड़ाई।।
को रघुबीर सरिस संसारा। सील सनेह निबाहनिहारा।।
जेहि जेहि जोनि करम बस भ्रमहीं। तहँ-तहँ ईसु देउ यह हमहीं।।
सेवक हम स्वामी सियनाहू। होउ नाथ एहि ओर निबाहू।।

६. कवने अवसर का भयउ, गयउ नारि बिस्वास।
जोग सिद्धि फल समय जिमि, जतिहिं अबिद्या नास।।

७. निरखि बदन कहि भूप रजाई। रघुकुल दीपहि चले लेवाई ।।

जाइ दीख रघुबंस मनि, नरपति निपट कुसाजु।
सहमि परेउ लखि सिंहनिहि, मनहुँ बृद्ध गजराजु ।।

मन मुसुकाइ भानुकुल-भानू। राम सहज आनन्द-निधानू ।।

८. बोले बचन बिगत सब दूषन। मृदु मंजुल जनु बाग विभूषन ।।
सुनु जननी सोइ सुत बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी ।।
तनय मातु पितु तोषनिहारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा ।।
मुनिगन मिलन बिशेष बन, सबहिं भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि, सम्मत जननी तोर ।।

९. धर्म धुरीन धरम गति जानी। कहेउ मातु सन अति मृदु बानी ।।
पिता दीन्ह मोहि कानन राजू। जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू ।।
आयसु देहि मुदित मन माता। जेहि मुद मंगल कानन जाता ।।

१०. तात तुम्हारि मातु वैदेही। पिता राम सब भाँति सनेही ।।
अवध तहाँ जहँ राम निवासू। तहइँ दिवस जहँ भानु प्रकासू ।।
जौं पै सीय राम बन जाहीं। अवध तुम्हार काज कछु नाहीं।
गुरु पितु मातु बन्धु सुर साईं। सेइअहिं सकल प्रान की नाईं ।।
राम प्रान पिय जीवन जी के। स्वारथ-रहित सखा सबही के ।।
पूजनीय पिय परम जहाँ ते। सब मानिअहिं राम के नाते ।।
अस जिय जानि संग बन जाहू। लेहु तात जग जीवन लाहू ।।
भूरि भाग भाजन भयहु, मोहि समेत बलि जाउँ।
जों तुम्हरे मन छाँड़ि छल, कीन्ह रामपद ठाउँ ।।

११. सहज सनेह बिबस रघुराई। पूंछी कुसल निकट बैठाई ।।

१२. नाथ आजु मैं काह न पावा। मिटे दोष दुख दारिद दावा ।।
बहुत काल मैं कीन्हि मजूरी। आजु दीन्ह बिधि बनि भलि भूरी ।।
अब कछु नाथ न चाहिअ मोरे। दीन दयाल अनुग्रह तोरे ।।

१३. राम सपेम कहेउ मुनि पाहीं। नाथ कहिअ हम केहि मग जाहीं।
मुनि मन बिहँसि राम सन कहहीं। सुगम सकल मग तुम्ह कहँ अहहीं ।।

मुनि वटु चारि संग तब दीन्हे। जिन्ह निज जनम सुकृत वहु कीन्हे।।

१४. राम सपेम पुलकि उर लावा। परम रंक जनु पारस पावा।।
मनहुँ पेम परमारथ दोऊ। मिलत धरे तन कह सब कोऊ।।

१५. राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे।।
तुम्ह जो कहहु करहु सबु साँचा। जस काछिअ तस चाहिअ नाचा।।
पूँछहु मोहि कि रहौं कहँ, मैं पूंछत सकुचाउँ।
जहँ न होहु तहँ देहु कहि, तुम्हहि देखावौं ठाउँ।।

सुनहु राम अब कहउँ निकेता। जहाँ वसहु सिय लखन समेता।।

१६. रामहि केवल प्रेम पिआरा। जानि लेहु जो जाननिहारा।।

१७. तापस अंध साप सुधि आई। कौसल्यहि सब कथा सुनाई।।
भयउ बिकल बरनत इतिहासा। रामरहित धिग जीवन आसा।।
सो तन राखि करब मैं काहा। जेहि न प्रेम पनु मोर निवाहा।।

१८. पुरजन मिलहिं न कहहिं कछु, गवँहि जोहारहिं जाहिं।
भरत कुसल पूंछि न सकहिं, भय विषाद मन माहिं।।

सजि आरती मुदित उठ धाई। द्वारेहिं भेंटि भवन लेइ आई।।

सुतहि ससोच देखि मनु मारे। पूंछति नैहर कुसल हमारे।।
सकल कुसल कहि भरत सुनाई। पूंछी निज कुल कुसल भलाई।।

तात बात मैं सकल सँवारी। भै मंथरा सहाय बिचारी।।
कछुक काज बिधि बीच बिगारेउ। भूपति सुरपति पुर पगु धारेउ।।

बिकल बिलोकि सुतहि समुझावति। मनहुँ जरे पर लोनु लगावति।।

सुनि सुठि सहमेउ राजकुमारू। पाके छत जनु लाग अँगारू।।
धीरज धरि भरि लेहिं उसासा। पापिनि सबहि भाँति कुल नासा।।

१९. ग्रह ग्रहीत पुनि बात बस, तेहि पुनि बीछी मार।
तेहि पिआइअ बारुनी, कहहु काह उपचार।।

आपनि दारुन दीनता, कहउँ सबहिं सिरु नाइ।
देखे बिन रघुनाथ पद, जिय कै जरनि न जाइ।।

२०. मीन पीन पाठीन पुराने। भरि-भरि भार कहारन्ह आने।।

राम सखा सुनि स्यंदनु त्यागा। चले उतरि उमगत अनुरागा।।
गाउँ जाति गुहँ नाउँ सुनाई। कीन्ह जोहारु माथ महि लाई।।

करत दंडवत देखि तेहि, भरत लीन्ह उर लाइ।
मनहुँ लखन सन भेंट भइ, पेम न हृदयँ समाइ।।

२१. प्रमुदित तीरथराज निवासी। बैखानस बटु गृही उदासी।।
कहहिं परसपर मिलि दस पाँचा। भरत सनेह सील सुचि साँचा।।

२२. सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ। निज अपराध रिसहिं न काऊ।।
जो अपराध भगत कर करई। राम रोषु पावक सो रजई।।
लोकहुँ बेद बिदित इतिहासा। यह महिमा जानहिं दुरवासा।।
भरत सरिस को राम सनेही। जग जप राम राम जप जेही।।

२३. भरतहि दोष देइ को जाए। जग बौराइ राजपद पाए।।
ससि गुरु तियगामी नघुषु, चढ़ेउ भूमिसुर जान।
लोक बेद ते बिमुख भा, अधम न बेन समान।।
सहसबाहु सुरनाथु त्रिसंकू। केहि न राजमदु दीन्ह कलंकू।।

२४. कही तात तुम्ह नीति सुहाई। सब तें कठिन राज-मदु भाई।।
जौं अँचवत नृप मातहिं तेई। नाहिन साधु-सभा जेहिं सेई।।

२५. बचन सप्रेम लखन पहिचाने। करत प्रनामु भरत जियँ जाने।।
बंधु सनेह सरस एहि ओरा। उत साहिब सेबा बस जोरा।।

कहत सप्रेम नाइ महि माथा। भरत प्रनाम करत रघुनाथा।।
उठे राम सुनि प्रेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा।।

२६. पग परि कीन्ह प्रबोधु बहोरी । काल करम बिधि सिर धरि खोरी ।।

२७. सकुचउँ तात कहत एक बाता । अरध तजहिं बुध सरबस जाता ।।
कानन करउँ जनम भरि बासू । एह ते अधिक न मोरि सुपासू ।।

२८. भरत बिनय सादर सुनिअ, करिअ बिचार बहोरि ।
करब साधुमत लोकमत नृपनय निगम निचोरि ।।

२९. राखेउ राउ सत्य मोहि त्यागी । तनु परिहरेउ प्रेम पन लागी ।।
तासु बचन मेटत अति सोचू । तेहि ते अधिक तुम्हार सँकोचू ।।

३०. भरत अवधि सनेह ममता की । जद्यपि राम सीम समता की ।।

३१. ज्ञान निधान सुजान सुचि, धरम-धीर नरपाल ।
तुम्ह बिन असमंजस-समन, को समरथ एहि काल ।।

३२. मुखिया मुख सो चाहिए, खान पान कहँ एक ।
पालइ पोषइ सकल अँग, तुलसी सहित बिबेक ।।
राजधरम सरबस इतनोई । जिमि मन माँह मनोरथ जोई ।।

३३. बंधु प्रबोध कीन्ह बहु भाँती । बिनु अधार मन तोष न साँती ।।
प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्हीं । सादर भरत सीस धरि लीन्हीं ।।

३४. सुनि सखि पाइ असीस बड़ि, गनक बोलि दिन साधि ।
सिंहासन प्रभु पादुका, बैठारे निरुपाधि ।।

३४. नित पूजत प्रभु पाँवरी, प्रीति न हृदयँ समाति ।
मागि-मागि आयसु करत, राज-काज बहु भाँति ।।

मानस-मुक्तावली
२

।। श्रीराम: शरणं मम ।।

श्री गुरु चरन सरोज रज, निज मन मुकुरु सुधारि।
बरनउँ रघुबर बिमल जसु, जो दायकु फल चारि।।

अर्थ—गुरुदेव के चरण-कमलों की रज से अपने मन-दर्पण को स्वच्छ करता हुआ, भगवान् श्रीराम के उस निर्मल यश का वर्णन करता हूँ जो अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष रूप चारों फलों का देने वाला है।

अयोध्याकाण्ड के प्रारम्भ में गुरुदेव की इस वन्दना ने अनेक आलोचकों को भ्रान्ति में डाल दिया है। कुछ आलोचकों की यह मान्यता है कि गोस्वामीजी ने रामचरितमानस में सर्वप्रथम अयोध्याकाण्ड की रचना की। इस मान्यता के समर्थन में दो तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं। प्रथम, अयोध्याकाण्ड की रचना-शैली अन्य काण्डों से सर्वथा भिन्न है। इस काण्ड में प्रत्येक दोहे के अन्तराल में आठ-आठ पंक्तियाँ विद्यमान हैं। इस नियम का पालन अन्य किसी भी सोपान में नहीं है। इस काण्ड के प्रारम्भ में गुरु-वन्दना का यह दोहा भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है। नियमानुकूल यह दोहा ग्रन्थ के प्रारम्भ में होना चाहिए था। अन्य किसी भी काण्ड में तुलसीदास गुरुदेव की पृथक् वन्दना नहीं करते हैं।

मुझे यह मत युक्ति-संगत नहीं प्रतीत होता है। किन्तु यह असंदिग्ध रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि अयोध्याकाण्ड उनकी सर्वोत्कृष्ट रचना है। इस काण्ड के प्रति उनकी आसक्ति के दो बड़े ही महत्त्वपूर्ण कारण हैं। अयोध्याकाण्ड में ही, उनके आदर्श श्रीभरत का चरित्र है। मानस में अनेक उत्कृष्ट पात्रों के

होते हुए भी गोस्वामीजी का सर्वाधिक अपनत्व श्रीभरत के प्रति है। अन्य पात्रों के अभाव में उनको अपनी कोई व्यक्तिगत हानि प्रतीत नहीं होती; किन्तु उन्हें ऐसा लगता है कि श्रीभरत के अभाव में तो वे श्रीराम के सम्मुख पहुँच ही नहीं सकते थे :

सिय-राम - प्रेम - पियूष - पूरन होत जनम न भरत को।
मुनि-मन-अगम जम-नियम-सम-दम-बिषम-ब्रत आचरत को॥
दुख, दाह, दारिद, दंभ, दूषन, सुजस-मिस अपहरत को।
कलि-काल तुलसी से सठन्हि हठि राम-सनमुख करत को॥

अयोध्याकाण्ड के प्रति उनकी आसक्ति का द्वितीय कारण चित्रकूट की दिव्य लीला है। चित्रकूट के प्रति उनका अमित आकर्षण उनकी अनेक रचनाओं में प्रकट होता है। श्रीअवध की पावन भूमि प्रभु की जन्मस्थली होते हुए भी उन्हें उतना आकृष्ट नहीं कर पाती जितना कि चित्रकूट की लीला-भूमि। गोस्वामीजी कहीं भी क्यों न हों, उनके मन में यदि कहीं पहुँचने की ललक उनको व्याकुल बना देती है तो वह है—केवल चित्रकूट। विनयपत्रिका में वे गा उठते हैं :

अब चित चेति चित्रकूटहिं चलु !
कोपित कलि लोपित मंगल मगु, बिलसत बढ़त मोह-माया मलु॥ १॥
भूमि बिलोकु राम-पद-अंकित, बन बिलोकु रघुबर बिहार थलु।
सैल सृंग भव भंग हेतु लखु, दलन कपट-पाखण्ड दम्भ-दलु॥ २॥
जहँ जनमे जग जनक जगतपति बिधि-हरि-हर परिहरि प्रपंच-छलु।
सकृत प्रबेस करत जेहि आस्रम, बिगत बिषाद भए पारथ नलु॥ ३॥
न करु बिलम्ब बिचारु चारुमति, बरष पाछिले सम अगिले पलु।
मंत्र सो जाइ जपहि जो जपि भे, अजर अमर हर अचइ हलाहलु॥ ४॥
राम-नाम जप-जाग करत नित, मज्जत पय पावन पीवत जलु।
करिहैं राम भावतो मन को, सुख साधन अनयास महाफलु॥ ५॥
काम दमनि कामता, कलपतरु, सो जुग-जुग जागत जगती-तलु।
तुलसी तोहि बिसेष बूझिए, एक प्रतीति प्रीति एकहिं बलु॥ ६॥

गीतावली में तो वे खुले शब्दों में श्रीअवध से चित्रकूट की तुलना कर बैठते हैं :

क्यों कहौं चित्रकूट गिरि सम्पति, महिमा मोद मनोहरताई।
तुलसी जहँ बस लखन-राम-सिय, आनँद अवधि अवध बिसराई॥

और यह पक्षपात अस्वाभाविक भी तो नहीं था; क्योंकि इसी दिव्य भूमि ने उनके जीवन को परिवर्तित कर दिया था। अपने आराध्य श्रीराम को जिस भूमि में उन्होंने अनेकों बार देखा, जिस रसस्थली में उनका प्रेम-प्यासा हृदय अनन्त रस को प्राप्त कर तृप्त हो सका, उस भूमि की तुलना में वे किसी अन्य को कैसे स्थान दे पाते ? उनके जीवन को समग्रता श्रीभरत और चित्रकूट की कृपा से ही प्राप्त हुई, और दोनों ही अयोध्याकांड के प्रतिपाद्य हैं। इसलिए अयोध्याकांड की प्रत्येक पंक्ति में तुलसी का हृदय बोलता है। जब वे यह कल्पना करते हैं कि अवध के दिव्य वैभव का परित्याग कर दीन जनों पर कृपा करने के लिए उनके रामभद्र चित्रकूट के कंटकाकीर्ण पथ पर चलते हैं, तब उनका हृदय श्रीराघवेन्द्र की करुणा से अभिभूत हो उठता है।

इस काण्ड के प्रारम्भ में गुरुदेव के पुन:स्मरण का तात्पर्य ही यह था कि वे इसकी रचना में गुरुदेव की विशेष कृपा प्राप्त करना चाहते थे। गुरुदेव के प्रति उनकी श्रद्धा की सीमा नहीं है और वह श्रद्धा वन्दना के वाक्यों में बोल रही है— "रज के द्वारा दर्पण स्वच्छ करना कितना विचित्र प्रतीत होता है ! धूल के पड़नेसे दर्पण मलिन हो जाता है, इसकी अनुभूति तो व्यक्ति को प्रतिदिन होती है क्योंकि दर्पण में आकृति को देखने के लिए उस पर पड़ी हुई रज को हटाना पड़ता है। किन्तु गुरुदेव के चरणों की रज ऐसी विलक्षण है कि वह दर्पण को स्वच्छ बनाती है।" ऐसा ही अनोखा वाक्य उन्होंने बालकाण्ड के प्रारम्भ में भी अपनी भावभरी लेखनी से अंकित किया है। वहाँ वे गुरुदेव की चरण-धूल को अञ्जन बनाकर उसे अपनी आँखों में आँजते हैं। धूल के आँखों में पड़ते ही दीखना बन्द हो जाता है, किन्तु तुलसी तो दृष्टि और दर्पण दोनों ही को धूल के द्वारा स्वच्छ करते हैं। रज को प्रतीक के रूप में चुनना उनके गम्भीर भाव-दर्शन को प्रगट करता है। सृष्टि में धूल को सर्वाधिक तुच्छ वस्तु माना जाता है। धूल निरन्तर दूसरों के चरण-प्रहार के द्वारा अपमानित होती रहती है :

रज मग परी निरादर लहई।
सब कर पग-प्रहार नित सहई॥

तुलसी ने अपने जीवन में इतना अधिक अपमान सहन किया था कि उसकी तुलना रज से ही की जा सकती थी। माता-पिता के द्वारा परित्यक्त अनाथ बालक जब भी किसी के द्वार पर पहुँचा, प्राय: अपमानित और तिरस्कृत हुआ। पेट की ज्वाला ने उसे कहाँ-कहाँ नहीं भटकाया ? "चारि फल मानौं बस चारि ही चनक को।" वह जिस-जिसके भी द्वार पर गया, सर्वत्र ठुकराया गया। अचानक गुरुदेव की दृष्टि पड़ी और करुणा-द्रवित सन्त ने इस अनाथ बालक को अपना लिया।

और जब वही बालक एक सन्त के रूप में संसार में समादृत हुआ, तब उसे ऐसा लगा कि यह तो गुरुदेव की ही करुणा थी कि मलिन बना देने वाली धूलि को वह ऐसी दिव्यता प्रदान कर दें, जिससे वह स्वच्छता लाने वाली बन जाय। अयाध्याकाण्ड स्वयं उनका हृदय है, अतः उसकी रचना के प्रारम्भ में उन्हें गुरुदेव का स्मरण आना स्वाभाविक था। संसार की वासनाओं की उड़ती हुई धूल मन को मलिन बना देती है; किन्तु गुरु-चरण-रज की कृपा से अन्तःकरण की वासनाओं का विनाश होकर उसमें परम स्वच्छता आ जाती है।

मन की तुलना दर्पण से करते हुए उन्होंने एक तात्त्विक सत्य की ओर इंगित किया। दृष्टि के अभाव में व्यक्ति दूसरों को नहीं देख पाता; किन्तु स्वयं को देखने के लिए तो, दृष्टि और दर्पण, दोनों की ही अपेक्षा है। भगवान् राम को देखने के लिए केवल दृष्टि की ही अपेक्षा नहीं है; उसके लिए भी भगवान् शंकर, नेत्र और मुकुर, दोनों की ही आवश्यकता बताते हैं :

मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना।
राम रूप देखहिं किमि दीना॥

इसका तात्पर्य यह है कि श्रीराम का रूप यदि केवल बाहर होता तो उन्हें देखने के लिए केवल दृष्टि की ही आवश्यकता होती; किन्तु उस अन्तर्यामी के साक्षात्कार के लिए तो दृष्टि और दर्पण दोनों ही अपेक्षित हैं। पर इस दोहे में एक अनोखा विरोधाभास और है कि रघुवर के विमल यश के वर्णन के लिए मन-मुकुर को स्वच्छ किया जा रहा है। वर्णन तो वाणी से किया जाता है; उसके लिए तो वाणी को स्वच्छ बनाने की आवश्यकता थी। किन्तु गोस्वामीजी वाणी के स्थान पर मन-मुकुर को स्वच्छ बना रहे हैं, यही उनकी विलक्षण माँग है। वे जो वर्णन करना चाहते हैं वह केवल किसी ग्रन्थ के आश्रय से हो, यह उन्हें अभीष्ट न था। गोस्वामीजी चाहते थे कि जो वर्णन वह करने जा रहे हैं, भावराज्य में भी उसका प्रत्यक्ष दर्शन कर सकें। कबीर की भाषा में वे 'कागज की लेखी' का नहीं, अपितु 'आँखिन की देखी' का वर्णन करना चाहते थे। इसीलिए वे मन-मुकुर को स्वच्छ कर अपने अन्तःकरण में उस लीला का साक्षात्कार करते हैं। वे स्वयं इस लीला के एक पात्र हैं जो चित्रकूट के पथ में खड़े होकर श्रीराम की रूप-माधुरी निहारते हैं और श्रीभरत के साथ चित्रकूट की यात्रा करते हुए उस दिव्य प्रेमामृत का पान करते हैं जिसे पीकर जीव कृतकृत्य हो जाता है।

दोहे की तीसरी विचित्रता है काण्ड के प्रारम्भ में फल-श्रुति का वर्णन। प्रत्येक काण्ड के अन्त में ही उन्होंने फल-श्रुति का वर्णन किया है, किन्तु अयोध्या-काण्ड में "जो दायक फल चारि" कहकर वे पहले ही फल का निर्देश कर देते हैं।

इसके पीछे गोस्वामीजी की एक अनोखी भावना दृष्टिगोचर होती है। यह काण्ड वस्तुतः दो चरित्रों में बँटा हुआ है। इसका पूर्वार्ध यदि श्रीराम-चरित्र है, तो उत्तरार्ध श्रीभरत-चरित्र। श्रीराम-चरित्र का फल वे प्रारम्भ में दे देते हैं—मानो चारों फलों के आकांक्षियों को निमंत्रण देते हैं कि जो इन्हें पाना चाहें वे शीघ्रता से ले लें, क्योंकि अयोध्याकाण्ड के अन्त में श्रीभरत के द्वारा जो फल प्राप्त होगा, वह इन चारों फलों की अपेक्षा इतना महान् है कि उसे पाने के बाद इन फलों की आकांक्षा शेष ही नहीं रह जाती। वह फल है—श्रीराम-प्रेम !

भरत चरित कर नेम, तुलसी जे सादर सुनहिं।
सीय-राम-पद-प्रेम, अवसि होहि भव-रस-बिरति ।।



।। श्रीरामः शरणं मम ।।

राय सुभाय मुकुर कर लीन्हा।
बदन बिलोकि मुकुट सम कीन्हा॥
श्रवन समीप भए सित केसा।
मनहुँ जरठपन अस उपदेसा॥
नृप जुबराज राम कहँ देहू।
जीवन जन्म लाहु किन लेहू॥

अर्थ—"महाराज श्रीदशरथ ने स्वभावतः दर्पण हाथ में लिया और उसमें मुख देखकर अपना मुकुट सम किया। उनके कानों के पास उगे हुए श्वेत केशों के माध्यम से वृद्धावस्था ने मानो यह उपदेश दिया कि राजन्, अब आप युवराज-पद राम को देकर अपने जीवन का लाभ प्राप्त करें।"

अयोध्या के स्वर्ण-सिंहासन पर समासीन महाराज श्रीदशरथ का एक भावपूर्ण चित्र गोस्वामीजी ने उपर्युक्त पंक्तियों में अंकित किया है। महाराजश्री अचानक दर्पण लेकर अपनी मुखाकृति देखते हैं। दर्पण व्यक्ति का अनोखा मित्र है। वह अपनी शून्यता प्रतिबिम्बित करने की सामर्थ्य के कारण व्यक्ति को उसके ही स्वरूप का साक्षात्कार कराता है। दूसरों को समालोचना की दृष्टि से देखने वाले स्वयं अपने-आपको देख पाने में असमर्थ हैं। शरीर की समस्त इन्द्रियों में नेत्र को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। दृष्टि को व्यवहार में भी प्रामाणिकता का प्रमाण-पत्र उपलब्ध है। दावे से सत्य का प्रतिपादन करने के लिए "यह सब मैं निज नयनन्हि देखी" जैसे वाक्य का प्रयोग करना पड़ता है। नेत्र को इस गौरव से गर्व न हो जाय, इसलिए ईश्वर ने उसकी असमर्थताओं की बाध्यता भी उसके साथ जोड़ दी है। रचयिता के द्वारा निर्मित यह शरीर उसके रचना-कौशल का ही एक दृष्टान्त नहीं है, यह तो ईश्वर का अद्भुत काव्य है जिसकी प्रत्येक पंक्ति

अनगिनत अर्थों से भरी हुई है। व्यक्तिके द्वारा निर्मित ग्रंथों की अपेक्षा यह शरीर-काव्य स्वयं ही महानतम उपदेशक है। प्रत्येक इन्द्रिय की रचना में उसके छिपे हुए सन्देश को पढ़ पाना स्वयं ही सर्वोच्च ज्ञान है। इन्द्रियों की सामर्थ्य के साथ सीमा और असमर्थता की अनुभूति का तात्पर्य ही व्यक्ति को गर्व से मुक्त करना है। कोई इन्द्रिय कितनी भी महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, उसे शरीर के प्रत्येक अंग का सहयोग प्राप्त करना पड़ता है। यह उसके लिए सामाजिकता का एक सूत्र है। मदान्ध होकर व्यक्ति को समाज के किसी भी अंग की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। कर्म की अपेक्षा ज्ञान की श्रेष्ठता होते हुए भी, कर्म और ज्ञान, दोनों मिलकर ही व्यक्ति के उद्देश्य की पूर्ति कर सकने में समर्थ हो सकते हैं। ज्ञानेन्द्रिय नेत्र को अपने प्रिय रूप से मिलने के लिए कर्मेन्द्रिय चरण का आश्रय लेना पड़ता है और चरणों को पथ पर निर्विघ्न संचरण के लिए नेत्रों से सहयोग लेना पड़ता है। कर्म के अभाव में ज्ञान केवल काल्पनिक सिद्ध होगा और ज्ञान के अभाव में कर्म पग-पग पर पतित होगा। किन्तु इस ज्ञान और कर्म के साथ-साथ भाव का सामञ्जस्य भी व्यक्ति के जीवन को आनन्दमय बनाता है। चरण और नेत्र के सहयोग से यात्रा करता हुआ व्यक्ति यदि कठिन-से-कठिन पथ को भी सरलता से पार कर लेता है, तो उसके अन्दर भावना-शक्ति ही कार्य कर रही होती है। कर्म, ज्ञान और भावना का सामञ्जस्य ही मानव-जीवन की पूर्णता है।

दर्पण आत्म-निरीक्षण की प्रेरणा देता है। स्थूल दर्पण हमारे मुख की मलिनता और दोषों का प्रदर्शक होते हुए भी व्यक्ति को अत्यंत प्रिय होता है। किसी भी दूसरे व्यक्ति से अपने दोषों का वर्णन सुनकर व्यक्ति व्यथित और क्रुद्ध होता है; किन्तु दर्पण के द्वारा वही क्रिया सम्पन्न होने पर भी व्यक्ति दर्पण से प्यार करता है। क्योंकि दूसरों के दोष-दर्शन में जहाँ व्यक्ति को द्वेष की अनुभूति होती है, वहाँ दर्पण का दोष-दर्शन व्यक्ति को स्नेह-प्रेरित प्रतीत होता है। क्योंकि दूसरे हमारे दोषों को प्रगट कर जहाँ लोक-दृष्टि में हमें असम्मानित करना चाहते हैं, वहाँ दर्पण एकान्त कक्ष में व्यक्ति को मलिनता का दर्शन कराता हुआ उसे स्वच्छ होकर बाहर जाने का सन्देश देता है। वह चाहता है कि हमारा मित्र लोगों को सुन्दर प्रतीत हो, लोग उसे आदर प्रदान करें। शरीर को केवल बहिरंग दृष्टि से दर्पण में देखने वाले अनगिनत व्यक्ति हो सकते हैं; पर धन्य वे हैं, जो दर्पण के माध्यम से आकृति पर ही नहीं, मन और बुद्धि के दोषों पर भी दृष्टि डालते हैं। महाराज श्रीदशरथ उन्हीं महान् पुरुषों में से हैं जो सर्वदा सजग भाव से आत्म-निरीक्षण करते रहते हैं।

दर्पण के माध्यम से आत्म-निरीक्षण का महत्त्व तब और भी बढ़ जाता है जब कि एकान्त कक्ष के स्थान पर अयोध्या की राजसभा में सभासदों से घिरे

हुए महाराज वहीं दर्पण देखने लग जाते हैं। तुलसी की दिव्य साधना-पद्धति से अनभिज्ञ एक समालोचक ने इस प्रसंग के माध्यम से यह निष्कर्ष निकाला कि तुलसी को राज-सभाओं के शिष्टाचार का ज्ञान नहीं था। बेचारा समालोचक तत्कालीन राजसभाओं के क्रिया-कलाप को ही शाश्वत नियम मान बैठा। महाराज श्रीदशरथ का यह चित्र न केवल इतिहास का एक सत्य है, अपितु तत्कालीन राजाओं पर कटाक्ष भी है। चाटुकारों से घिरे हुए उस समय के राजा, सभासदों से अपनी मिथ्या प्रशंसा सुनने के अभ्यस्त हो चुके थे। प्रशंसा-प्रिय व्यक्ति आत्म-निरीक्षण करता ही नहीं, क्योंकि, वह तो दूसरों की दृष्टि से स्वयं को देखता है। इसीलिए सिंहासनासीन रावण के हाथ में तुलसीदास को कभी दर्पण नहीं दिखाई देता। किन्तु दशरथ तो प्रबुद्ध हैं, वे प्रशंसकों की दृष्टि से स्वयं का मूल्यांकन नहीं करते, अपितु अपनी स्तुति सुनकर वे और भी सजग होकर आत्म-निरीक्षण में संलग्न हो जाते हैं। महाराजश्री ने जिस समय दर्पण देखा, उसकी पूर्वपीठिका में गोस्वामीजी ने जो पंक्तियां प्रस्तुत की हैं, वे भी इसी तथ्य की पुष्टि करती हैं। चारों ओर से राजाधिराज दशरथ के सौभाग्य की सराहना हो रही थी। उनकी अद्वितीयता का प्रतिपादन किया जा रहा था। गोस्वामीजी इन पंक्तियों में उस सभा की एक झाँकी प्रस्तुत करते हैं :

एक समय सब सहित समाजा।
राज सभाँ रघुराज बिराजा॥
सकल सुकृत मूरति नर नाहू।
राम सुजसु सुनि अतिहि उछाहू॥
नृप सब रहहिं कृपा अभिलाषें।
लोकप करहिं प्रीति रुख राखें॥
तिभुवन तीनि काल जग माहीं।
भूरिभाग दसरथ सम नाहीं॥
मंगलमूल राम सुत जासू।
जो कछु कहिअ थोर सबु तासू॥

उस विलक्षण वेला में दशरथ ने मुकुर में स्वयं को देखा। उनकी दृष्टि उस मुकुट की ओर गई जो खिसककर कुछ टेढ़ा हो गया था। उन्होंने उसे सिर के मध्य में स्थापित कर सन्तुलन प्रदान किया। मुकुट राज-सत्ता का चिह्न है; वह राजा को स्मरण दिलाने के लिए है कि उसे सत्ता का भार उठाने के लिए नियुक्त किया गया है। राजमुकुट-शून्य प्रजा और राजमुकुट-युक्त राजा, हीनता और श्रेष्ठता के प्रतीक नहीं हैं। इसका तात्पर्य तो यह है कि प्रजा योग्य राजा को अपना भार

सौंपकर स्वयं निश्चिन्त और भार-मुक्त हो जाती है। किन्तु सत्ताधीशों ने बहुधा इसे स्वयं की श्रेष्ठता के रूप में देखा है। स्वर्ण-मुकुट ने अनगिनत राजाओं के मस्तिष्क को मदोन्मत्त बनाया है। श्रीमद्भागवत में परीक्षित् की कथा में इसकी जो प्रतीकात्मक व्याख्या प्राप्त होती है, वह बड़ी ही प्रेरक है।

परीक्षित् केवल एक व्यक्ति ही नहीं है वह तो समस्त जीवों का प्रतिनिधित्व करता है। कहा जाता है कि उत्तरा के गर्भ में स्थित यह बालक अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र से मृत हो चुका था। श्रीकृष्ण ने इसे जीवन-दान दिया; किन्तु यह अनुभूति तो प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का ही यथार्थ चित्र है कि गर्भ में नन्हें शिशु का नौ मास तक जीवित रहना ईश्वर की कृपा का ही तो चमत्कार है! परीक्षित् वृद्धिङ्गत होता हुआ योग्य बनकर सिंहासनासीन होता है। धर्मपूर्वक देश का शासन करता है। वन में जाते हुए अचानक उसे एक विचित्र दृश्य दिखाई देता है कि एक चरण से खड़े हुए वृष एक पर एक दुष्ट व्यक्ति प्रहार कर रहा है। परीक्षित् उस प्रहारकर्ता को दंड देने के लिए प्रस्तुत होता है। परीक्षित ने यह जानना चाहा कि उनका परिचय क्या है। और तब उसे ज्ञात हुआ कि वृष के रूप में वह साक्षात् धर्म है। सत्य, तप, दया और दान के चार चरणों में से दान का एक ही चरण अवशिष्ट रह गया है। और वह दुष्ट व्यक्ति कलियुग है जो धर्म पर प्रहार कर रहा है। कालक्रम से धर्म का लोप होते-होते उसके तीन चरण समाप्त हो जाते हैं। दान के रूप में अवशिष्ट एक पग को भी कलियुग समाप्त कर देना चाहता है। परीक्षित् कलि को मृत्यु-दंड देकर समाज को इस अभिशाप से मुक्त करना चाहते थे, किन्तु वार्तालाप और विचार से उन्हें यह ज्ञात हो गया कि परिवर्तनशील काल-चक्र को एकरस बना सकना किसी बड़े-से-बड़े व्यक्ति के लिए भी सम्भव नहीं है। फिर भी परीक्षित् ने उसे नियन्त्रित करना चाहा, अतः उसके निवासस्थान के लिए उन्होंने कुछ स्थान निश्चित कर दिये। उनमें से एक स्वर्ण भी था। परीक्षित् यह सोचकर प्रसन्न हो गए कि उन्होंने कलि का नियमन कर दिया है, किन्तु उनका यह सन्तोष क्षणिक सिद्ध हुआ। कलि स्वयं उनके सिर पर आरूढ़ हो गया क्योंकि उनका मुकुट भी तो स्वर्ण का था। स्वर्ण में अनगिनत गुण हैं—वह समाज की अर्थ-व्यवस्था का संचालन करता है, आभूषण बनकर सौन्दर्य की श्रीवृद्धि करता है, धार्मिक क्रियाओं में वह मुद्रिका के रूप में अनामिका में पहुँचकर कर्मकाण्ड को पूर्णता प्रदान करता है, दान के रूप में दिये जाने पर वह दरिद्रता और अभाव का निवारण करता है, परन्तु उसमें कलि का निवास है। और जब यह अहंकार का प्रतीक बनकर व्यक्ति को मदोन्मत्त बना देता है, तब समस्त अनर्थों का हेतु भी बन जाता है। परीक्षित के साथ भी यही हुआ; और यह वह इतिहास है जो अनादि काल से लेकर अब तक अनगिनत बार

दोहराया जा चुका है। मुकुट ने व्यक्ति के अहंकार को गौरवान्वित किया है और तब अपने गौरव के गर्व से भरे हुए सत्ताधीशों ने वही किया है जो परीक्षित के द्वारा हुआ।

ध्यानस्थ ऋषि को उन्होंने मिथ्या समाधि का अभिनय करने वाला मान लिया। दर्प-प्रेरित बुद्धि ने तर्क किया : मुनि भी राज्य की सीमा में निवास करने के कारण प्रजा ही तो है; प्रजा का कर्त्तव्य है कि वह राजा का स्वागत करे। यह दाम्भिक व्यक्ति सत्कार के स्थान पर मिथ्या एकाग्रता का प्रदर्शन कर रहा है। मुनि से इस अनादर का बदला लेने के लिए द्वेष भड़क उठा। अचानक उसकी दृष्टि मृत सर्प पर पड़ी और परीक्षित ने उसे उठाकर मुनि के कंठ में डाल दिया। उसकी यह भी धारणा रही होगी कि सर्प के कंठ में पड़ते ही पाखण्डी मुनि भय-भीत होकर उठ खड़ा होगा। किन्तु ऐसा कुछ नहीं हुआ, और राजमहल में लौटने के पश्चात् मुकुट उतारते ही उसे अपनी त्रुटि का ज्ञान हुआ। सत्ता के मद में उन्मत्त होकर सत्ताधीश बहुधा तपस्या और त्याग को तिरस्कृत करता है। स्वयं को काल का संचालक मानकर दूसरों को दंडित करने का प्रयास करता है। परीक्षित् के समान ही वह भी यह नहीं समझ पाता कि वह स्वयं भी काल का ग्रास बनने की ओर बढ़ रहा है।

महाराज श्रीदशरथ ने मुकुट को केवल सत्ता के प्रतीक के रूप में ही नहीं देखा, उनकी सजग दृष्टि ने मुकुट के असन्तुलन को पहिचान लिया। उसे समत्व में ले आने पर भी उनकी पैनी दृष्टि ने इस सत्य को पहिचान लिया कि इस सत्ता और प्रजा के संरक्षण का भार ऐसे मस्तक को अर्पित किया जाना चाहिए जहाँ पर असन्तुलन का भय न हो। इस सन्तुलन के प्रयास में ही उनकी दृष्टि कानों के निकट छाये हुए सफेद बालों पर पड़ गई। उन्हें लगा कि कान के निकट जब कोई आता है तब उसका उद्देश्य कोई गुप्त संदेश देना होता है। अतः श्वेत केशों से उन्हें राज्य-त्याग का संदेश प्राप्त हुआ। श्रुति और सात्त्विकता के सम्मिलन से प्राप्त हुए इस संदेश से उन्हें त्याग की प्रेरणा प्राप्त हुई। आस्तिकता श्रुति को परम प्रमाण मानती है; किन्तु श्रुति के तात्पर्य को ग्रहण करने के लिए भी तो सात्त्विक अंतःकरण की अपेक्षा है। युवावस्था में व्यक्ति के जीवन में रजोगुण की प्रधानता होती है, तब वह श्रुति-प्रधान नहीं, दृष्टि-प्रधान होता है। उसे अपनी दृष्टि की प्रामाणिकता पर विश्वास होता है। कर्म और पुरुषार्थ के लिए रजोगुण की वृत्ति सहायक है। कालक्रम से आने वाली ये अवस्थाएँ भी सज़ग व्यक्ति को जीवन-साधना के सूत्र दे जाती हैं। बाल्यावस्था असमर्थता की अवस्था है जब शिशु माता-पिता पर पूरी तरह निर्भर होता है, जब वह पुरुषार्थ के माध्यम से नहीं, वात्सल्य और करुणा की वृत्तियों से पोषित होता है। यह अवस्था उपासना

का संदेश देती है। उपासक को सर्वदा यह प्रतीत होता रहता है कि वह साधना और पुरुषार्थ के बल पर प्रभु को प्रसन्न नहीं कर सकता। प्रभु ही अपने अनन्त वात्सल्य से उसकी असमर्थता को सार्थकता प्रदान कर सकते हैं। इस वृत्ति वाला भक्त प्रभु से 'निर्भरा प्रीति' की याचना करता है। तुलसी ने प्रभु से स्वयं इसी सम्बन्ध की याचना की :

नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये
सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा।
भक्ति प्रयच्छ रघुपुंग वनिर्भरां मे
कामादि-दोष-रहितं कुरु मानसं च॥

युवावस्था उत्साह और उमंग की अवस्था है, जब व्यक्ति में पुरुषार्थ की क्षमता होती है। उसके अन्तःकरण की आकांक्षाएँ उसे अधिकाधिक कर्म के लिए प्रेरित करती हैं। उसकी दृष्टि में न जाने कितने रंगीन स्वप्न होते हैं जिन्हें वह साकार करने का प्रयत्न करता है। बाल्यावस्था में बालक की आकांक्षाओं की पूर्ति का केन्द्र उसकी जिह्वा होती है। वह सस्वर रुदन के द्वारा माँ को पुकार कर उसका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने में समर्थ होता है। युवावस्था में व्यक्ति का जीवन आँखों में केन्द्रित हो जाता है। राग और शृंगार की सुखानुभूति वह आँखों के माध्यम से ही प्राप्त करता है। पर देखते-ही-देखते वह अवस्था आ जाती है जिसे कोई नहीं चाहता, फिर भी वह आती ही है :

देखत ही आई बिरुधाई।
जो तैं सपनेहुँ नाहिं बुलाई॥

यह अवस्था कटु सत्य का साक्षात्कार कराती है, किन्तु उसकी यह कटुता औषध के समान ग्राह्य है। वह व्यक्ति को अन्तर्मुखता की प्रेरणा देती है और दृष्टि के स्थान पर उसको श्रुति की दिशा में प्रेरित करती है, भले ही इन्द्रियाँ अपनी सामर्थ्य को खो दें; किन्तु विचार की क्षमताएँ उस समय प्रबुद्ध हो उठती हैं। दृष्टि की क्षीणता यदि उसे आत्म-साक्षात्कार की दिशा में प्रेरित करती है तो कानों की क्षीणता उसे अन्तर्वाणी को सुनने का संदेश देती है। युवावस्था में सिर पर घुँघराले काले केश भ्रमर के समान प्रतीत होते हैं जो उसकी रस-पिपासु वृत्ति को ही प्रगट करते हैं किन्तु वृद्धावस्था में वे श्वेत होकर कपास के समान स्वच्छ और नीरस हो जाने की प्रेरणा देते हैं :

साधु चरित सुभ चरित कपासू।
निरस बिसद गुनमय फल जासू॥

जो सहि दुख परछिद्र दुरावा।
बन्दनीय जेहि जग जस पावा ।।

किन्तु बिरले व्यक्ति ही इस अवस्था का स्वागत कर पाते हैं। बेचारा कवि केशव अपने बालों की श्वेतिमा से व्याकुल हो उठता है, क्योंकि उसकी दृष्टि अभी आँखों में ही समाई हुई है। वह चन्द्रवदनी मृगलोचनी युवतियों से 'बाबा' शब्द नहीं सुनना चाहता :

केसव केसनि अस करी, जस अरिहू न कराहिं।
चन्द-बदनि मृगलोचनी, बाबा कहि-कहि जाहिं ।।

'बाबा' व्यक्ति को उसकेपितृत्व की स्मृति करता है, उसकी युवावस्था उसके पुत्र में साकार हो चुकी है। अब उसका जीवन भोग के लिए नहीं, त्याग के लिए समर्पित होना चाहिए। इस सत्य को समझने वाला वृद्धावस्था का तिरस्कार नहीं करता, क्योंकि वह तो प्रभु की दूती है। शंकराचार्य ने उसे मृत्यु की दूती कहकर पुकारा है, जो श्वेत केशों के रूप में व्यक्ति के कर्ण-कुहरों के निकट आकर त्याग और भक्ति का उपदेश देती है :

कृतान्तस्य दूती जरा कर्णमूले
समागत्य लोकाः श्रृणुध्वं श्रृणुध्वम्।
परस्त्री पर - द्रव्य-हिंसास्त्यजध्वम्
भजध्वं रमानाथ पादारविन्दम् ।।

तुलसी भी इस अवस्था का चित्र अंकित करते हैं; किन्तु वे इसे मृत्यु की दूती के रूप में चित्रित नहीं करते। उन्होंने दूती के स्थान पर दूत की कल्पना की। वे उसे जरठपन कहकर पुकारते हैं। शंकराचार्य की दूती पर-स्त्री और पर-द्रव्य के त्याग का उपदेश देती है; किन्तु तुलसी का यह जरठपन पर-स्त्री और पर-द्रव्य ही नहीं, अपितु अपने द्रव्य के त्याग का भी संदेश देता है। महाराज श्रीदशरथ को भी जरठपन से यही उपदेश प्राप्त हुआ था। उन्होंने उस उपदेश को आनन्द-भरे अन्तःकरण से ग्रहण किया। खिसकते हुए मुकुट को श्रीराम के मस्तक पर धारण करा देने की इच्छा का उनमें उदय हुआ। यहीं दशमुख से उनका पार्थक्य प्रकट हो जाता है।

मुकुट के टेढ़ेपन से ही महाराजश्री ने प्रेरणा प्राप्त कर ली, किन्तु रावण ने मुकुट गिर जाने पर भी जीवन के इस महान् सत्य को अस्वीकार कर दिया। लंका के सुवेल शैल पर रावण राज-सभा में बैठा हुआ था; किन्तु वह दशरथ की भाँति ज्ञान-चर्चा में संलग्न नहीं था—वह तो अप्सराओं का नृत्य देख रहा था।

गन्धर्व उसके गुणों का गायन कर रहे थे, यह प्रशंसा भय से प्रेरित थी। दर्पण के अभाव में दशमुख इसे सत्य समझकर स्वीकार करता है :

बैठ जाइ तेहि मंदिर रावन।
लागे किन्नर गुन गन गावन ॥
बार्जाहं ताल पखाउज बीना।
नृत्य करहिं अपछरा प्रबीना ॥
सुनासीर सत सरिस सो, संतत करइ बिलास।
परम प्रबल रिपु सीस पर, तद्यपि सोच न त्रास ॥

अचानक रावण का छत्र, मुकुट और मंदोदरी के कानों का ताटंक पृथ्वी पर गिर पड़ा। सारी सभा स्तब्ध हो गई--क्योंकि वहाँ कोई अस्त्र-शस्त्र आता हुआ दृष्टिगोचर नहीं हुआ, न तो वायु का कोई झोंका ही आया। पृथ्वी में कम्पन भी नहीं हुआ, फिर यह सब कैसे हो गया ? किसी के पास इसका कोई उत्तर नहीं था। किन्तु तुलसी इसका रहस्य प्रकट करते हुए बताते हैं कि यह चमत्कार तो श्रीराम के तरकस से निकले हुए तीर का था :

प्रभु मुसुकान समुझि अभिमाना।
चाप चढ़ाइ बान सन्धाना ॥
छत्र मुकुट ताटंक तब, हते एक ही बान।
सबके देखत महि परे, मरमु न कोऊ जान ॥
अस कौतुक करि रामसर, प्रबिसेउ आइ निसंग।
रावन सभा ससंक सब, देखि महारस भंग ॥
कंप न भूमि न मरुत बिसेषा।
अस्त्र सस्त्र कछु नयन न देखा ॥

श्रीराम का यह बाण मूर्तिमान् काल का ही प्रतीक है। तुलसी लंका-कांड के प्रारम्भ में अपने मन को प्रभु के इसी धनुष-बाण का स्मरण कराते हुए भजन का आदेश देते हैं :

लव निमेस परमानु जुग, बरष कलप सर चंड।
भजसि न मन तेहि राम कहँ, काल जासु कोदंड ॥

महाराज श्रीदशरथ को यह संदेश जरठपन के द्वारा प्राप्त हुआ था। रावण ने तपस्या और साधना के द्वारा वृद्धावस्था को पराजित कर दिया था, उसके केश कभी श्वेत नहीं हुए। उसकी इन्द्रियों की शक्ति अप्रतिहत थी। इसमें वह अपनी

साधना की सफलता देखता था। वह मृत्यु के द्वार को अवरुद्ध करने के लिए सचेष्ट था। वृद्धावस्था पर विजय प्राप्त कर उसने अपनी समझ से काल के आने का मार्ग अवरुद्ध कर दिया था। किन्तु उसे यह कहाँ ज्ञात था कि काल के आने के अनगिनत मार्ग हैं। वह कब, कैसे और कहाँ आ जाएगा, इसे कोई नहीं जानता। राघवेन्द्र के अदृश्य वाण ने रावण को इसी सत्य का साक्षात्कार कराने की चेष्टा की थी—"सावधान! सत्ता का यह चिह्न, जिसे तुमने अपने मस्तक पर धारण कर रखा है, वह अचल नहीं है। उस अदृश्य काल को तुम कैसे रोक पाओगे जो तुम्हारी सुरक्षित सभा में प्रविष्ट होकर तुम्हारे वैभव और सत्ता के चिह्न को धूल-धूसरित कर देता है?" किन्तु रावण इस संदेश को स्वीकार नहीं करता। आत्म-प्रवंचना में कुशल उस व्यक्ति ने अपनी विपरीत व्याख्या के द्वारा अपने सहित सारी सभा को भुलावा देने का प्रयास किया। वह नकली अट्टहास के द्वारा अपनी निर्भयता का प्रदर्शन करता है। मुकुट के इस पतन में उसे भविष्य की विजय का संदेश सुनाई देता है। वह उस बधिर की भाँति हो चुका है जो कहने वाले के वाक्य को सर्वथा भिन्न रूप में सुन लेता है। बधिरता के भी दो रूप होते हैं। एक तो है 'वज्रबधिर', जिसे कुछ भी नहीं सुनाई देता; और दूसरे प्रकार की वधिरता वह है जिसमें श्रवण-शक्ति का पूरी तरह लोप तो नहीं होता, किन्तु ग्रहण-शक्ति की अल्पता के कारण शब्द और वाक्य भिन्न रूप में सुनाई देते हैं। पहले प्रकार की बधिरता की अपेक्षा दूसरे प्रकार की बधिरता अधिक समस्याएँ उत्पन्न करती है। प्रथम प्रकार की बधिरता में न तो बोलने वाले व्यक्ति को चिल्लाना पड़ता है और न 'वज्रबधिर' विपरीत शब्द ही श्रवण करता है। 'वज्रबधिर' की तुलना उस अज्ञानी से की जा सकती है जिसे अपने अज्ञान का ज्ञान हो; किन्तु दूसरे प्रकार का बधिर तो उस अज्ञानी के समान है जो स्वयं को ज्ञानी ही मानता है। रावण की वधिरता दूसरे ही प्रकार की है; वह कुछ-का-कुछ सुनता है और उसी को सत्य के रूप में दूसरों से भी स्वीकार कराना चाहता है:

दसमुख देखि सभा भय पाई।
बिहँसि बचन कह जुगुति बनाई॥
सिरउ गिरे संतत सुभ जाही।
मुकुट परे कस असगुन ताही॥

किन्तु काल के संदेश का विपरीत अर्थ लेकर व्यक्ति स्वयं को ही विनाश की दिशा में ले जाता है। काल के सत्य की अवहेलना करता हुआ वड़े-से-बड़ा व्यक्ति जीवन के वरदान को अभिशाप के रूप में परिवर्तित कर लेता है। रावण मुकुट को अपने सिर पर धारण कर लेने पर भी मस्तक के कटने को नहीं रोक पाता।

मुकुट और छत्र से सुशोभित होने वाला उसका सिर एक दिन शृगालों का आहार बनता है। गीध निर्भीक होकर उसके मस्तक पर प्रहार करते हैं। स्वयं को सिंह समझने वाला रावण अन्तर्मन में शृगाल-वृत्ति वाला ही था। उसकी पैनी दृष्टि का अभिमान उन गीधों की ही भाँति था जो ऊपर उठकर भी अपनी पैनी दृष्टि से मृत शरीर का मांस ही ढूँढ़ते हैं।

महाराज श्रीदशरथ ने भले ही रावण के समान वृद्धावस्था पर विजय प्राप्त न की हो, किन्तु उनका जरठपन धन्य है जिसने भगवान् राम के प्रति समर्पण की प्रेरणा प्रदान की। एक ओर रावण है जो श्रीराम की वस्तु को भी उन्हें लौटाना नहीं चाहता, तो दूसरी ओर महाराज श्रीदशरथ सत्ता श्रीराम को समर्पित करने के लिए उतावले हो उठे। उनके जरठपन ने उनसे कहा, "श्रीराम को राज्य देकर जीवन और जन्म की सार्थकता प्राप्त करो!"



।। श्रीरामः शरणं मम ।।

सकल कहहिं कब होइहि काली।
बिघन मनावहिं देव कुचाली॥
तिन्हहिं सुहाइ न अवध बधावा।
चोरहिं चाँदिनि राति न भावा॥
सारद बोलि बिनय सुर करहीं।
बारहिं बार पाँय लै परहीं॥
बिपति हमारि बिलोक बड़ि, मातु करिअ सोइ आज।
राम जाहिं बन राज तजि, होइ सकल सुर काज॥

अर्थ—अयोध्यावासी कह रहे हैं कि कल कब होगा! उधर कुचाली देवता मनाते हैं कि इस राज्याभिषेक में विघ्न कैसे पड़े? उन्हें अयोध्या का यह आनन्दोत्सव उसी प्रकार अच्छा नहीं लग रहा है जैसे कि चोर को चाँदनी रात अच्छी नहीं लगती है और तब वे सरस्वती को बुलाकर बार-बार उनके पैर पकड़कर प्रार्थना करने लगे—"माता, हमारी इस घोर विपत्ति को देखकर आप कुछ ऐसा कीजिए कि राम यह राज्य छोड़कर वन में चले जायँ, जिससे कि देवताओं का कार्य हो सके।"

महाराज श्रीदशरथ के हृदय में समर्पण का संकल्प जाग्रत हुआ। उन्होंने गुरु वशिष्ठ से संकल्प की पूर्ति के लिए अनुमति भी प्राप्त कर ली। महाराजश्री द्वारा यह पूछे जाने पर गुरु वशिष्ठ का हृदय आनन्द से भर उठा :

यह बिचारु उर आनि नृप, सुदिन सुअवसरु पाइ।
प्रेम पुलकि तन मुदित मन, गुरहिं सुनायउ जाइ॥
कहइ भुआलु सुनिअ मुनिनायक।
भए राम सब बिधि सब लायक॥
सेवक सचिव सकल पुरवासी।
जे हमार अरि मित्र उदासी॥

सर्बाहि रामु प्रिय जेहि बिधि मोही।
प्रभु असीस जनु तनु धरि सोही॥
बिप्र सहित परिवार गोसाईं।
करहिं छोहु सब रौरेहिं नाईं॥
जे गुरु चरन रेनु सिर धरहीं।
ते जनु सकल बिभव बस करहीं॥
मोहि सम यहु अनुभयउ न दूजे।
सबु पायउँ रज पावनि पूजे॥
अब अभिलाषु एक मन मोरे।
पूजिहि नाथ अनुग्रह तोरे॥

गुरु वशिष्ठ के अन्तःकरण का आह्लाद स्वाभाविक था। धर्म का वास्तविक फल वैराग्य है :

धर्म ते बिरति जोग ते ग्याना।
ग्यान मोच्छ - प्रद बेद बखाना॥

महाराज श्रीदशरथ धर्मपूर्वक राज्य का सञ्चालन करते रहे, उनके अन्तःकरण में आसक्ति के स्थान पर वैराग्य का उदय हुआ। श्रीराम के गौरव का बोध होते ही सत्ता से समर्पण का संकल्प साधक के सही दिशा में चलने का परिचायक है। समर्पण की सार्थकता के लिए गुरु के प्रति साधक में सच्ची श्रद्धा होनी चाहिए। महाराजश्री के समान ही उसे ऐसी अनुभूति होनी चाहिए कि व्यक्ति अपने पुरुषार्थ से समर्पित नहीं हो सकता। यह समर्पण यदि दाता बनकर किया जाय तो साधक में कर्तृत्व का अहंकार जाग्रत हो जाना स्वाभाविक है। साधक को दाता के स्थान पर देय बन जाना चाहिए। गुरु दाता बनकर शिष्य को प्रभु के चरणों में अर्पित करे, समर्पण का यही सच्चा स्वरूप है। देय के मन में अहंकार का उदय नहीं होता। इसीलिए दशरथ ने गुरु वशिष्ठ से अनुरोध किया कि "आप श्रीराघवेन्द्र को सिंहासन पर अभिषिक्त करें। गुरु वशिष्ठ ने शिष्य की सराहना करते हुए उसे शीघ्र-से-शीघ्र इस संकल्प की पूर्ति का आदेश दिया :

सब बिधि गुरु प्रसन्न जिय जानी।
बोलेउ राउ रहँसि मृदु बानी॥
नाथ रामु करिअहिं जुबराजू।
कहिअ कृपा करि करिअ समाजू॥

मोहि अछत यह होइ उछाहू।
लहहिं लोग सब लोचन लाहू॥
प्रभु प्रसाद सिव सबइ निबाहीं।
यह लालसा एक मन माहीं॥
पुनि न सोच तनु रहउ कि जाऊ।
जेहि न होइ पाछे पछिताऊ॥
सुनि मुनि दसरथ बचन सुहाए।
मंगल मोद मूल मन भाए॥
सुनु नृप जासु बिमुख पछिताहीं।
जासु भजन बिनु जरनि न जाहीं॥
भयउ तुम्हार तनय सोइ स्वामी।
राम पुनीत प्रेम अनुगामी॥
बेगि बिलम्बु न करिअ नृप, साजिअ सबइ समाज।
सुदिन सुमंगल तबहिं जब, राम होहिं जुबराज॥

शिष्य के अन्तःकरण में शरीर की अनित्यता का बोध था। इसीलिए वह जीवन में समर्पण के लिए उतावला हो रहा था। गुरु ने भी शुभ संकल्प को तत्काल पूर्ण करने का आदेश देकर इस सिद्धान्त का समर्थन किया कि शुभ संकल्प की पूर्ति में विलम्ब नहीं किया जाना चाहिए। किसान के द्वारा जब खेत में बीज डाला जाता है, तब उसके अंकुरित होते ही मेघ के द्वारा जल-वर्षण आवश्यक है। यदि उचित समय पर वर्षा न हो तो अंकुरित बीज भी सूखकर विनष्ट हो जाता है। साधक के मन में उठने वाले सत्संकल्प को संत के जल-वर्षण-रूप वचनों से अंकुर के वृद्धिङ्गत होने में सहायता प्राप्त होती है। दशरथ को गुरु के वचनों के द्वारा प्रोत्साहन प्राप्त हुआ।

किन्तु स्वर्गस्थ देवता इस संकल्प की पूर्ति में बाधक बने। रावण के द्वारा राम-राज्य की स्थापना में बाधा पड़े, इसे समझना सरल है; किन्तु पुण्यमय देवता भी समर्पण के संकल्प की पूर्ति में अवरोध बन जायँ, यह बड़ा अटपटा प्रतीत होता है। किन्तु आध्यात्मिक साधना के तत्त्व को जानने वाला इसे स्वाभाविक मानता है। ज्ञान-दीपक के प्रसङ्ग में इसका सांकेतिक विवरण प्राप्त होता है।

उलझी हुई ग्रन्थि को खोलने के लिए साधक ने प्रकाश की आवश्यकता का अनुभव किया। दीपक को प्रज्वलित करने के लिए जिस शुद्ध घृत की अपेक्षा थी, साधक उसके लिए सामग्री एकत्र करने लगा। कठिन साधना के पश्चात् दीपक प्रज्वलित हुआ। हृदय के एकान्त कक्ष में बैठकर वह ग्रन्थि का उच्छेद करने ही

वाला था, कि अचानक कक्ष के कपाट और खिड़कियाँ खुल गईं; हवा का एक तीव्र झोंका आया और ज्ञान-दीप बुझ गया। व्याकुल साधक संत्रस्त हो उठा कि कौन है यह खिड़कियों और कपाटों को खोल देने वाला। उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वे तो वे देवता हैं जिनकी वह पूजा किया करता था। प्रारंभ में साधना-पथ पर बढ़ते हुए साधक को इन देवताओं से बड़ी सहायता प्राप्त हुई थी, पर आज न जाने इन्हें क्या हो गया है कि इतनी कठिन साधना के द्वारा प्रज्वलित ज्ञान-दीप को बुझा देने में इन्हें संतोष का अनुभव हो रहा है! गोस्वामीजी उनके कारणों को इन पंक्तियों में प्रस्तुत करते हैं:

इन्द्री द्वार झरोखा नाना।
तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना॥
आवत देखहिं बिषय बयारी।
ते हठि देहिं कपाट उघारी॥
जब सो प्रभंजन उर गृह जाई।
तबहिं दीप बिग्यान बुझाई॥
ग्रन्थि न छूटि मिटा सो प्रकासा।
बुद्धि बिकल भइ बिषय बतासा॥
इंद्रिन्ह सुरन्ह न ग्यान सोहाई।
बिषय भोग पर प्रीति सदाई॥
बिषय समीर बुद्धिकृत भोरी।
तेहि बिधि दीप को बार बहोरी॥
तब फिरि जीव बिबिध बिधि, पावइ संसृति क्लेस।
हरिमाया अति दुस्तर, तरि न जाइ बिहगेस॥

वस्तुतः यह बड़ा ही दार्शनिक विश्लेषण है जो इन पंक्तियों के माध्यम से सरल शब्दों में प्रस्तुत किया गया है। सत्कर्म और पुण्यों के पीछे प्रेरक के रूप में दो भिन्न प्रकार की भावनाएँ विद्यमान रहती हैं। धर्म के द्वारा सुख प्राप्त होता है, ऐसी शास्त्रों की मान्यता है। इसलिए तुलसीदास उन्हें मूर्ख की उपाधि प्रदान करते हैं जो सुख चाहते हुए भी धर्म का पालन नहीं करते:

सुख चाहहिं मूढ़ न धर्म रता।
मति थोरि कठोरि न कोमलता॥

किन्तु सुख है क्या? सुख की परिभाषा को लेकर दो प्रकार की मान्यताएँ प्रचलित हैं। अधिकांश व्यक्तियों की यह मान्यता है कि उपभोग के पदार्थों की

बहुलता ही सुख और समृद्धि का सच्चा चिह्न है। पर सुख के उपभोग के साथ एक समस्या जुड़ी हुई है—शरीर में विषय-भोग के सामर्थ्य की सीमा है। विषय-विलास की सामग्री होते हुए भी व्यक्ति उनका यथेष्ट उपभोग नहीं कर सकता। रोग और मृत्यु का भय उसे संत्रस्त कर देता है। किन्तु इसका परिहार भी ढूँढ़ निकाला गया। स्वर्ग इसी समस्या का समाधान है। पुण्यों से व्यक्ति स्वर्ग प्राप्त करता है, स्वर्ग में विषय-विलास के असीम उपकरण विद्यमान हैं। साथ ही वहाँ रोग और मृत्यु का भय भी नहीं होता। वहाँ व्यक्ति देव-शरीर ग्रहण कर विषयों का मनमाना उपभोग करता है।

किन्तु दूसरा पक्ष इस मत को स्वीकार नहीं करता। पुण्य का फल भोग और स्वर्ग नहीं हो सकता। क्योंकि भोगों की उपलब्धि पाप-मार्ग से होती देखी जाती है। पुण्य के द्वारा प्राप्त किए गए स्वर्ग को भी असुर अपने पुरुषार्थ से छीन लेता है। उपभोग की विशाल सामग्री होते हुए भी देवता परस्पर ईर्ष्या के कारण स्वर्ग में भी सुखी नहीं रह पाते, क्योंकि पुण्य की मात्रा के अनुकूल ही देवता को भी भोगों की प्राप्ति होती है। पुण्य क्षीण होते ही स्वर्ग से बहिष्कृत होना पड़ता है। इसलिए जो सुख अंत में दुःखदायी सिद्ध हो, उसे पुण्य का परिणाम मानना सर्वथा अविवेक है। पुरवासियों को उपदेश देते हुए भगवान् राम ने भी इसी मत का समर्थन किया :

एहि तनु कर फल विषय न भाई।
स्वर्गउ स्वल्प अन्त दुखदाई॥

द्वितीय मत की दृष्टि में सत्कर्म का फल अन्तःकरण की शुद्धि और वैराग्य है। इस वैराग्य से ही व्यक्ति ज्ञान की दिशा में अग्रसर होता है :

धर्म ते बिरति जोग ते ग्याना।
ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना॥

प्रारम्भ में देवता जब किसी को सत्कर्म करते देखते हैं, तब उसे अपने ही पथ का पथिक मानकर प्रसन्न होते हैं, सहायता करते हैं; किन्तु जब उन्हें यह स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि यह तो भोगों के आधार को ही विनष्ट करने पर तुला हुआ है, तब उनका क्षुब्ध होना स्वाभाविक है। इसलिए साधना के चरम काल में एक ऐसी स्थिति आ सकती है जब उसमें तीव्र वासनाओं की जागृति हो जाय। उसके अन्तर्मन की तुलना उस रोगी से की जा सकती है जो औषधियों के द्वारा अभी-अभी रोग-मुक्त हुआ है। पूर्ण स्वस्थता और रोगमुक्ति के मध्य एक ऐसा काल आता है जब रोगी को अत्यन्त सावधान रहने की आवश्यकता है। रोग विनष्ट

होते ही रोगी को बड़ी तीव्र क्षुधा लगती है। उस समय यदि भूख से व्याकुल होकर रोगी कुपथ्य की वस्तुओं का पुनः सेवन कर ले, तब रोग पुनः भीषण गति से लौटकर आ जाता है। भूख जाग्रत होना शुभ लक्षण है, किन्तु वह क्षुधा पथ्य-सेवन की दिशा में ही संलग्न होनी चाहिए। मानस रोगों के प्रसङ्ग में इसका बड़ा ही मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

राम-भक्ति रस को श्रद्धा के अनुपान में मिश्रित कर रुग्ण साधक ने उसका सेवन किया तो काम, क्रोध और लोभ के द्वारा उत्पन्न सन्निपात नष्ट हो गया। किन्तु रोग विनष्ट होने पर भी दुर्बलता अभी शेष है। उसके अंतःकरण में सुमति की क्षुधा जाग्रत होनी चाहिए। विषय-रूप कुपथ्य के सेवन की आकांक्षा ही दुर्बलता है। सन्निपात के रोगी को यह सोचकर निश्चिन्त नहीं हो जाना चाहिए कि ज्वर का पुनरावर्तन नहीं हो सकता। अपितु सत्य तो यह है कि द्वितीय बार लौटा हुआ ज्वर अत्यन्त भयावह सिद्ध होता है। प्रथम बार के ज्वर में पूर्व-संचित बल के कारण रोगी उससे संघर्ष करता है; किन्तु उपवास के कारण उसका शारीरिक बल अत्यन्त क्षीण हो जाता है। द्वितीय बार ज्वर के आक्रमण में बल के अभाव में रोगी रोग से लड़ने में असमर्थ हो जाता है। साधक भी प्रारम्भ में तीव्र उत्साह के कारण इन्द्रिय-नियमन करता है; किन्तु एक बार नियमन के पश्चात् विषय-लालसा के पुनः उदित होने पर वह संयम करने में असमर्थ हो जाता है। इसलिए काकभुशुण्डिजी आग्रह करते हैं कि रोगी को पूर्ण स्वस्थ तभी मानना चाहिए जब कि उसमें रोग के अभाव के साथ-साथ उसकी खोयी हुई शक्ति भी पुनः लौट आवे। उनकी दृष्टि में यह बल विराग है :

सदगुरु बैद बचन बिस्वासा।
संजम यह न बिषय कै आसा।।
रघुपति भगति सजीवनि मूरी।
अनूपान श्रद्धा मति पूरी।।
एहि बिधि भलेहिं सो रोग नसाहीं।
नाहिं त जतन कोटि नहिं जाहीं।।
जानिहि तब मन बिरुज गोसाईं।
जब उर बल बिराग अधिकाई।।
सुमति छुधा बाढ़इ नित नई।
बिषय आस दुर्बलता गई।।
बिमल ग्यान जल जब सो नहाई।
तब रह राम भगति उर छाई।।

साधक की समस्या यह है कि वह इन्द्रियों पर नियमन कर सकता है, किन्तु शरीर और इन्द्रियों का परित्याग तो सम्भव ही नहीं है। प्रत्येक इन्द्रिय के देवता हैं, और वे देवता उस काल में जब यह अनुभव करते हैं कि साधक विदेह मुक्ति के द्वारा शरीर की सत्ता मिटाकर ब्रह्म से एकाकार हो जाएगा, तब वे उसे शरीर की ओर खींचने की तीव्र चेष्टा करते हैं। महाराज श्रीदशरथ का चरित्र इसका मूर्तिमान् दृष्टान्त है।

मनु के रूप में उन्होंने तीव्र तपस्या के द्वारा विषय-लालसाओं पर विजय प्राप्त कर ली। वैराग्य के अभाव की व्याकुलता ने उनको वन की दिशा में प्रेरित किया :

होइ न बिषय बिराग, भवन बसत भा चौथपन।
हृदयँ बहुत दुख लाग, जनम गयउ हरिभगति बिनु ॥
बरबस राज सुतहिं तब दीन्हा।
नारि समेत गवन बन कीन्हा ॥

दशरथ के रूप में उनका पुनर्जन्म होता है। साक्षात् ब्रह्म उनकी गोद में क्रीड़ा करता है। अतः विषय-लालसा के पुनर्जागरण का तो प्रश्न होना ही नहीं चाहिए था। किन्तु राम-राज्य के रूप में योग-सिद्धि की चरम स्थिति में पुनः एक बार विषय-लालसा-ग्रस्त दिखाई देते हैं। जरठपन के उपदेश से सत्ता के त्याग का संकल्प कर लेने के पश्चात् भोग के त्याग का निश्चय तो हो ही जाना चाहिए था; किन्तु वे राम-राज्य की पूर्ववेला में रात्रि के समय महारानी कैकेयी के भवन में जाते हैं। गुरु वशिष्ठ ने भगवान् राम से "राम करहु सब संजम आजू" का उपदेश देकर पवित्र यज्ञ के विधान का ही संकेत किया था। महाराज श्रीदशरथ के लिए तो यह संयम और भी अधिक महत्त्वपूर्ण था। आज की रात्रि तो उन्हें एकान्त कक्ष में ऊर्णासन पर शयन करते हुए व्यतीत करनी चाहिए थी; इस रात्रि को कैकेयी के महल में बिताने की प्रेरणा कहाँ से प्राप्त हुई ?

राम-राज्य की स्थापना से महाराज श्रीदशरथ का अन्तिम संकल्प पूर्ण हो जाता, किन्तु देवताओं को तो इस महान् सिद्धि की अपेक्षा अपना स्वार्थ अधिक प्रिय है। वे रावण के विनाश के लिए व्यग्र हो रहे हैं; और रावण का यह विनाश भी उनकी दृष्टि में इसीलिए आवश्यक है कि वह उनके स्वच्छंद भोगों की पूर्ति के मार्ग में बाधक है। उनके लिए राम-राज्य का अर्थ सत्ता और भोगों की प्राप्ति ही है। इसीलिए वे षड्यंत्र के द्वारा राज्याभिषेक का कार्य सम्पन्न नहीं होने देते। इसके लिए वे मंथरा के मन में लोभ, कैकेयी की बुद्धि में क्रोध, और महाराज श्रीदशरथ के अन्तःकरण में काम की सृष्टि करते हैं। कैकेयी के निकट जाकर महाराज श्रीदशरथ एक घोर कामी का-सा आचरण करने लग जाते हैं।

कैकेयी के दुर्व्यवहार में भी उन्हें काम-कौतुक का ही दर्शन होता है :

जाइ निकट नृपु कह मृदु बानी।
प्रान प्रिया केहि हेतु रिसानी।।
केहि हेतु रानि रिसानि परसत पानि पतिहि नेवारई।
मानहुँ सरोष भुअंग भामिनि बिषम भाँति निहारई।।
दोउ बासना रसना दसन बर मरम ठाहरु देखई।
तुलसी नृपति भबितब्यता बस काम कौतुक लेखई।।
बार-बार कह राउ, सुमुखि सुलोचनि पिक बचनि।
कारन मोहि सुनाउ, गज गामिनि निज कोप कर।।
अनहित तोर प्रिया केहि कीन्हा।
केहि दुइ सिर केहि जमु चह लीन्हा।।
कहु केहि रंकहि करौं नरेसू।
कहु केहि नृपहि निकासौं देसू।।
सकउँ तोर अरि अमरउ मारी।
काह कीट बपुरे नर नारी।।
जानसि मोर सुभाउ बरोरू।
मनु तव आनन चंद चकोरू।।
प्रिया प्रान सुत सरबसु मोरे।
परिजन प्रजा सकल बस तोरे।।
जौं कछु कहौं कपटु करि तोही।
भामिनि राम सपथ सत मोही।।
बिहँसि मागु मनभावति बाता।
भूषन सजहि मनोहर गाता।।

परिणामस्वरूप उनकी वही दशा हुई जिसका वर्णन ज्ञान-दीपक के प्रसङ्ग में विषय-प्रभंजन के द्वारा ज्ञान-दीप बुझ जाने पर किया गया है। योगी योग-सिद्धि के चरम काल में अपनी साधना से च्युत हो गया :

कौने अवसर का भयउ, गयउ नारि - बिस्वास।
जोग सिद्धिफल समय जिमि, जतिहि अबिद्या नास।।

पर प्रश्न तो यह है कि भगवान् राम ने देवताओं का यह षड्यंत्र सफल क्यों होने दिया ? क्या ईश्वर का यह कर्त्तव्य नहीं है कि अपनी दिशा में बढ़ने वाले साधक के मार्ग में पड़ने वाले विघ्नों से उसकी रक्षा करे ? देवताओं ने अपने

षड्यन्त्र में सफलता प्राप्त करने के लिए देवी सरस्वती का आवाहन किया, उनसे प्रार्थना की :

सारद बोलि बिनय सुर करहीं।
बारहिं बार पायँ लै परहीं।।
बिपति हमारि बिलोकि बड़ि, मातु करिअ सोइ आजु।
राम जाहिं बन राजु तजि, होइ सकल सुर काजु।।

हंसवाहिनी देवताओं की इस प्रार्थना से प्रसन्न नहीं होती हैं। देवताओं की हीन मनोवृत्ति देखकर उन्हें अत्यन्त खिन्नता होती है। देवताओं ने अपने स्वार्थ को सिद्धान्त और दार्शनिकता के आवरण में पुनः प्रस्तुत किया, "देवि, आप यह सोचकर संकुचित न हों कि प्रभु इस कार्य से रुष्ट होंगे। वे तो सम ब्रह्म हैं, विस्मय और हर्ष का उनमें अभाव है। महाराज श्रीदशरथ के दुःख की भी आप चिन्ता न करें, क्योंकि व्यक्ति के दुःख-सुख के कारण भी उसके कर्म ही हैं। किन्तु आपके इस कार्य से देवताओं का हित होगा; दूसरे के हित के लिए कष्ट सहना सत्पुरुषों का स्वभाव है" :

देखि देव पुनि कहहिं निहोरी।
मातु तोहि नहिं थोरिउ खोरी।।
बिसमय हरष रहित रघुराऊ।
तुम्ह जानहु सब राम प्रभाऊ।।
जीव करम बस सुख दुख भागी।
जाइअ अवध देव हित लागी।।

सरस्वती देवताओं के इस वाग्जाल को समझ लेती हैं। उन्हें इस ऊँचे शब्दाडम्बर के पीछे छिपे हुए शुद्ध स्वार्थ को समझने में क्षण-मात्र विलम्ब नहीं होता। फिर भी वे देव-कार्य करने के लिए प्रस्तुत हो जाती हैं। वह कौन-सी बाध्यता थी जिससे प्रेरित होकर न चाहते हुए भी उन्हें यह निष्ठुर कार्य करना पड़ा? इसका स्पष्टीकरण यहाँ प्राप्त नहीं होता। इसका स्पष्टीकरण तो तब प्राप्त होता है जब देवताओं ने पुनः दूसरी बार वीणा-पाणि का आवाहन किया। इस बार उनका उद्देश्य था प्रेममूर्ति श्रीभरत की बुद्धि को परिवर्तित करना। इसके लिए अनुरोध करते हुए उनका तर्क कुछ इस प्रकार था, "देवि, सत्पुरुष किसी कार्य को बीच में नहीं छोड़ते। आपने हम लोगों के हित के लिए मंथरा-कैकेयी आदि की बुद्धि को परिवर्तित किया। श्रीराम के वन-गमन की योजना सफल हुई, किन्तु आज श्रीभरत अपने प्रेम के द्वारा फलीभूत योजना को निष्फल करना चाहते हैं,

अतः आपका यह कर्त्तव्य है कि उनकी इस आकांक्षा को सफल न होने दें।" किन्तु देवी सरस्वती ने इस प्रार्थना को पूरी तरह अस्वीकार कर दिया :

सुरन्ह सुमिरि सारदा सराही।
देवि देव सरनागत पाही।।
फेरि भरत मति करि निज माया।
पालु बिबुध कुल करि छल छाया।।
बिबुध बिनय सुनि देवि सयानी।
बोली सुर स्वारथ जड़ जानी।।
मो सन कहहु भरत मति फेरू।
लोचन सहस न सूझ सुमेरू।।
बिधि हरि हर माया बड़ि भारी।
सोउ न भरत मति सकइ निहारी।।
सो मति मोहि कहत करु भोरी।
चंदिनि कर कि चंड कर चोरी।।
भरत हृदयँ सिय राम निवासू।
तहँ कि तिमिर जहँ तरनि प्रकासू।।
अस कहि सारद गइ बिधि लोका।
बिबुध बिकल निसि मानहु कोका।।

निःसंकोच भाव से देवताओं की प्रार्थना अस्वीकार करने वाली सरस्वती ने जो कुछ किया था, उसका रहस्य देवाचार्य बृहस्पति की वाणी से प्रकट होता है। वे यह भली प्रकार जानते थे कि वन-गमन की इस योजना में प्रभु का अपना ही संकल्प कार्य कर रहा था :

तब किछु कीन्ह राम रुख जानी।
अब कुचालि करि होइहि हानी।।

सरस्वती प्रभु के संकेत-सूत्र पर नृत्य करने वाली कठपुतली हैं :

सारद दारु नारि सम स्वामी।
राम सूत्रधर अन्तरजामी।।

देवी सरस्वती ने वस्तुतः प्रभु के संकेत पर ही प्रथम योजना में भाग लिया था। प्रभु के द्वारा महाराज श्रीदशरथ की योजना को पूर्ण न होने देने में दो कारण थे :

महाराज श्रीदशरथ का जीवन पूर्व-जन्म से ही साधना-प्रधान था। उनके अन्तर्मन में कृपा की अपेक्षा साधना के प्रति ही महत्त्व-बुद्धि विद्यमान थी। इसीलिए उन्होंने मनु के रूप में भी प्रभु को प्राप्त करने के लिए कठिन तपस्या का मार्ग स्वीकार किया था। हजारों वर्ष की कठिन साधना के बाद ईश्वर के दर्शन का यह तात्पर्य नहीं था कि भगवद्-प्राप्ति सचमुच ही इतनी कठिन है। ईश्वर दुर्लभ और सुलभ दोनों ही है। यह तो व्यक्ति के संस्कार पर निर्भर है कि वह उसकी उपलब्धि को किस रूप में स्वीकार करता है। मनु स्मृति के निर्माता थे। कर्म के प्रति उनका अविचल आग्रह था। ईश्वर की दिशा में बढ़ते हुए भी उनके वे ही संस्कार उन्हें घोर तपस्या में प्रवृत्त कराते हैं। महाराज श्रीदशरथ के रूप में यज्ञ के माध्यम से उन्हें प्रभु के प्राकट्य का सौभाग्य प्राप्त होता है। जब कोई साधक पुरुषार्थ के प्रति आस्थावान् होता है तब विघ्न-निवारण का भार ईश्वर पर न होकर स्वयं उसी पर होता है। फिर भावनात्मक रूप में भी महाराज श्रीदशरथ ने प्रभु से जो नाता स्वीकार किया था, उसमें संरक्षण का भार महाराज श्रीदशरथ पर ही था; उन्होंने ईश्वर को पुत्र-रूप में प्राप्त करने के लिए वात्सल्य-भाव का आश्रय लिया था, अतः भाव-निर्वाह के लिए वे श्रीराम से संरक्षण की प्रार्थना नहीं कर सकते थे। पिता के रूप में स्वयं उन पर ही बालक की रक्षा का भार था।

प्रभु अपनी इस अनोखी लीला के द्वारा साधना के अनुपम तत्त्वों को विश्व के समक्ष प्रकट करना चाहते थे। देवर्षि नारद ने प्रभु से प्रश्न किया, "आपने मेरा विवाह क्यों नहीं होने दिया?" प्रश्न के अन्तराल में कई ध्वनियाँ थीं। उनमें से एक यह थी, "यदि आप विवाह को दुर्वासना के रूप में स्वीकार करते हैं, तो आप अनेक ऋषि-मुनियों के विवाह में बाधक क्यों नहीं बने?" प्रभु ने उत्तर देते हुए माँ के दो पुत्रों का दृष्टान्त दिया, जिनमें एक बड़ा और दूसरा छोटा है। माँ दोनों पर स्नेह करते हुए भी बड़े बालक की रक्षा की वैसी चिन्ता नहीं करती, जैसी व्यग्रता उस छोटे बालक के संरक्षण के लिए होती है। दृष्टान्त का स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने देवर्षि से कहा, "ज्ञानी मेरा बड़ा पुत्र है, तुम-जैसे अमानी भक्त मेरे नन्हे बालक हैं, अतः तुम्हारे संरक्षण की चिन्ता मेरे लिए स्वाभाविक ही है":

सुनु मुनि तोहि कहउँ सह रोसा।
भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी।
जिमि बालक राखइ महतारी॥

गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई।
तेहि राखइ जननी अरगाई॥
प्रौढ़ भए तेहि सुत पर माता।
प्रीति करइ नहिं पाछिल बाता॥
मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी।
बालक सुत सम दास अमानी॥
जनहि मोर बल निज बल ताही।
दुहु कहँ काम क्रोध रिपु आही॥

महाराज श्रीदशरथ अमानी शिशु भक्त नहीं हैं, उन्हें ज्ञानी भक्त कह सकते हैं। महाराज श्रीदशरथ की असफलता के पश्चात् जिस दूसरे योगी को सिद्धि प्राप्त हुई, वह श्रीभरत हैं :

करत प्रबेस मिटे दुख दावा।
जनु जोगी परमारथ पावा॥

श्रीभरत नन्हे शिशु हैं, जिनकी रक्षा का समग्र भार प्रभु पर ही है। मानस की मान्यता यह है कि पूर्ण निर्भरता के अभाव में बड़े-से-बड़ा साधक भी असफल हो सकता है। जहाँ देवता (सत्कर्म) और दैत्य (दुष्कर्म), दोनों ओर, से विघ्न आने की सम्भावना हो, वहाँ पर व्यक्ति ईश्वर की कृपा से ही सिद्धि प्राप्त कर सकता है। देवताओं के द्वारा राम-राज्य में विघ्न उपस्थित किया जाना साधना के कटु सत्य का परिचायक है। अंतःकरण में रहने वाले दुर्गुण-दुर्विचार चोर हैं, इसे तो सभी जानते हैं :

मत्सर मान मोह मद चोरा।
इन्ह कर हुनर न कवनिउँ ओरा॥

लेख के प्रारम्भ में उद्धृत की गई पंक्तियों में देवताओं की तुलना भी चोरों से ही की गई है :

चोरहि चंदिनि राति न भावा॥

सद्गुण प्रहरी हैं, दुर्गुण चोर हैं, यह भी साधना का एक सत्य है। किन्तु ऐसा भी होता है कि चतुर चोर उस प्रहरी को ही अपने पक्ष में कर लेता है। जब चोर एवं प्रहरी दोनों ही समझौता कर लें, तब गृहपति की रक्षा असम्भवप्राय ही है। प्रहरी के भरोसे गृहपति निश्चिन्त होकर सोता है। जब चोर अपने बल से चोरी

करना चाहता है, तब उसे सेंध खोदने का कठिन श्रम करना पड़ता है। किन्तु प्रहरी के मिल जाने पर वह सीधे द्वार से भीतर प्रविष्ट हो जाता है, क्योंकि प्रहरी किवाड़ खोल देता है। इसी का संकेत ज्ञान-दीपक प्रसंग में किया गया है :

आवत देखहिं बिषय बयारी।
ते हठि देहिं कपाट उघारी॥

ऐसा होना स्वाभाविक ही है। प्रहरी भी धन के लोभ से ही पहरे का कार्य स्वीकार करता है, चोर में भी धन का ही लोभ विद्यमान रहता है; अतः समान लक्ष्य की पूर्ति के लिए प्रारम्भिक मार्ग की भिन्नता लक्ष्य की समानता के कारण समाप्त हो जाती है।

दुर्गुण और सद्गुण दोनों ही यदि भोग-लालसा से प्रेरित हों, तब उनमें समझौता हो जाना अस्वाभाविक नहीं है। यद्यपि इन्द्र देवराज होने के कारण पूज्य हैं, और राक्षसराज रावण निन्दनीय; किन्तु भोग-लालसा के साम्य के कारण दोनों के लिए स्वान की उपाधि दी गई :

इन्द्र : **सूख हाड़ लै भाग सठ *स्वान* निरखि मृगराज।**

× ×

रावण : **जाके डर सुर असुर डराहीं।**
निसि न नींद दिन अन्न न खाहीं॥
सोइ दससीस *स्वान* की नाईं।
इत उत चितइ चला भड़िआई॥

भगवान् राम ने भी इन्द्र का स्मरण इसी रूप में किया है :

सुनि हँसि हिय कह कृपानिधानू।
सरिस *स्वान* मघवान जुबानू॥

प्रस्तुत प्रसंग में देवताओं का कार्य भी इसी मनोवृत्ति से प्रेरित है।

॥ श्रीराम: शरणं मम ॥

नामु मंथरा मंदमति, चेरी कैकइ केरि।
अजस पेटारी ताहि करि, गई गिरा मति फेरि॥
दीख मंथरा नगरु बनावा।
मंजुल मंगल बाज बधावा॥
पूछेसि लोगन्ह काह उछाहू।
राम तिलकु सुनि भा उर दाहू॥
करइ बिचारु कुबुद्धि कुजाती।
होइ अकाजु कवनि बिधि राती॥
देखि लागि मधु कुटिल किराती।
जिमि गवँ तकइ लेउँ केहि भाँती॥

अर्थ—"मंथरा कैकेयी की एक मूर्ख दासी थी। सरस्वती अपयश की पिटारी उसी को बनाकर उसकी बुद्धि फेरकर चली गईं। मंथरा ने देखा कि नगर में चारों ओर मंगल-वाद्य बज रहे हैं। उसने नगर के लोगों के उत्साह को देखकर उनसे इसका कारण पूछा। जब उसे यह ज्ञात हुआ कि यह उछाह राम के होने वाले राज्याभिषेक की प्रसन्नता में है, तो उसका हृदय ईर्ष्या से जल उठा। तब वह खोटी बुद्धि वाली नीच जाति की दासी ऐसे विचार करने लगी कि जिससे रात्रि-भर में ही यह काम बिगड़ जाए। मंथरा की दशा उस समय उसी प्रकार की थी, जैसे एक भीलिनी मधुमक्खी का छत्ता देखकर उसे तोड़ लेने की ताक में हो।"

देवताओं की प्रार्थना से प्रेरित सरस्वती के सामने प्रश्न यह था कि किस व्यक्ति को केन्द्र बनाकर अभिषेक में विघ्न उपस्थित किया जाए? दशरथपुर में आने पर उन्हें मंथरा दृष्टिगोचर होती है। वीणापाणि को इस संकल्प की पूर्ति में सबसे अधिक उपयुक्त पात्र वही प्रतीत हुई।

'मंथरा' यह नन्हा-सा नाम विश्व-इतिहास में अमर है—एक नगण्य मानी

जाने वाली नारी जिसकी कूट-बुद्धि के समक्ष भारत का सम्राट् पराजित हो गया। अयोध्या की सारी जनता मिलकर भी उसके षड्यन्त्र को विफल करने में सफल नहीं हो सकी। गोस्वामीजी ने उपर्युक्त दोहे में उसका एक लघु शब्द-चित्र अंकित किया है। परिचय का श्रीगणेश होता है उसके विचित्र नाम से—'नाम मंथरा'। किसी कहानी के पात्र का जिस पद्धति से परिचय दिया जाता है, यदि तुलसी उस क्रम का पालन करना चाहते, तो दोहे के स्थान पर इसे सोरठे के रूप में परिवर्तित कर देते। वह सोरठा कुछ इस प्रकार होता :

चेरी कैकइ केरि, नाम मंथरा मंदमति।
गई गिरा मति फेरि, अजस पेटारी ताहि करि॥

तब अर्थ किया जाता—"अयोध्या में कैकेयी की एक दासी थी।" किन्तु गोस्वामीजी ने इसे यों कहना अधिक उपयुक्त समझा—"मंथरा नाम वाली एक मंद-बुद्धि कैकेयी की दासी थी।" पहले परिचय में जहाँ-जहाँ कैकेयी को प्रथम स्थान प्राप्त होता है, वहाँ द्वितीय परिचय में मंथरा ही प्रमुख हो उठी। यही गोस्वामीजी को अभीष्ट था। इस वाक्य के पीछे उनका निहित व्यंग यह था कि भले ही व्यावहारिक जगत् में कैकेयी का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रहा हो, उसके नाम की ख्याति रही हो; किन्तु वास्तविकता तो यही है कि मंथरा ने कैकेयी को अपनी अनुगामिनी बना लिया। भारत-सम्राट् की पट्टमहिषी, धर्ममूर्ति श्रीभरत की माता को जो इतना अधिक प्रभावित करने में समर्थ हो सकी, वह अद्वितीय थी—भले ही वह अद्वितीयता कुटिलता की दिशा में हो।

सरस्वती ने मंथरा का ही चुनाव क्यों किया ? इस प्रश्न पर विचार करने पर रोगों के आक्रमण की शैली पर ध्यान जाता है। संक्रामक रोगों के कीटाणुओं का आक्रमण सबसे पहले उसी व्यक्ति पर होता है, जिसमें पहले से ही दुर्बलता विद्यमान हो। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में रोग के विरुद्ध संघर्ष करने की प्रतिरोधक क्षमता होती है। प्रतिरोध की जहाँ जितनी कम शक्ति होती है, रोग के कीटाणुओं को वहाँ उतनी ही शीघ्रता से सफलता प्राप्त होती है। मंथरा की मानसिक संरचना कुछ इसी प्रकार की थी।

केकय-नरेश ने अपनी पुत्री कैकेयी के विवाह के अवसर पर जो विविध प्रकार के दहेज दिए, उनमें दासी मंथरा भी एक थी। मंथरा कुबड़ी थी, यह अपने-आपमें अनोखा आश्चर्य है कि केकय-नरेश ने अपनी परम रूपसी कन्या की सेवा में एक कुरूपा दासी को भेजना आवश्यक माना। इसमें केकय-नरेश की मनोवृत्ति का भी संकेत प्राप्त होता है। तथ्य यह है कि केकय-नरेश ने अपनी पुत्री का विवाह महाराज श्रीदशरथ से सरलतापूर्वक नहीं कर दिया था। महाराज श्रीदशरथ

का विवाह उससे पहले महारानी कौसल्या से हो चुका था। कैकेयी और दशरथ की अवस्था में भी अन्तर था। स्वाभाविक ही था कि बिना किसी प्रलोभन के केकय-नरेश इस विवाह की स्वीकृति न देते। वह एक सत्ता-प्रिय व्यक्ति थे; उनकी यह मान्यता रही होगी कि सत्ता से अन्य सारी कमियों को पूरा किया जा सकता है। इसलिए विवाह के पहले उनकी यह माँग थी कि उनकी पुत्री (कैकेयी) से उत्पन्न राजकुमार ही अयोध्या के राज्य का उत्तराधिकारी होगा। दशरथ को यह वचन देने में किसी जटिल समस्या की सम्भावना प्रतीत नहीं हुई होगी। अनेक वर्ष पूर्व कौसल्या से विवाह होने पर भी उनके गर्भ से कोई पुत्र उत्पन्न नहीं हुआ। इस निराशा के पश्चात् ही उन्होंने द्वितीय विवाह की योजना स्वीकार की। इसलिए उनकी दृष्टि में उत्तराधिकार को लेकर किसी संघर्ष की आशंका नहीं थी। महारानी कौसल्या के स्वभाव पर भी उन्हें पूर्ण विश्वास था, अतः उन्होंने बड़ी सरलता से यह वचन दे दिया। परिणामस्वरूप विवाह सम्पन्न हुआ। किन्तु वचन ले लेने पर भी केकय-नरेश का मन आशंकाओं से मुक्त नहीं हो सकता था। राजनीति में रहने वाले नरेश सत्ता के लिए होने वाले षड्यन्त्रों से परिचित थे। उनकी माँग भी तत्कालीन परम्परा के प्रतिकूल थी। इसलिए उन्होंने अपनी पुत्री के अधिकार के संरक्षण के लिए किसी उपयुक्त व्यक्ति की आवश्यकता का अनुभव किया। कई दृष्टियों से उन्हें इस कार्य के लिए मंथरा ही सबसे अधिक उपयुक्त प्रतीत हुई होगी। दासी होने के कारण वह निरन्तर कैकेयी के समीप रह सकती थी। वह सर्वत्र भ्रमण भी कर सकती थी। कुबड़ी होने के नाते वह लोगों की सहानुभूति और दया भी पा सकती थी। फिर सबसे बड़ी बात यह है कि मंथरा की बुद्धि बड़ी पैनी थी। ऐसा बहुधा देखा जाता है कि प्रकृति जब किसी व्यक्ति को शारीरिक दृष्टि से असमर्थ बनाती है तब उसे किसी-न-किसी दिशा में विशिष्टता भी प्रदान करती है। मंथरा को यह प्रतिदान प्रकृति ने बुद्धि के रूप में दिया था, भले ही वह बुद्धि टेढ़ी रही हो। किन्तु जो लोग अपनी बुद्धि के द्वारा, दूसरों पर शर-संधान कर, उन्हें परास्त करना चाहते हैं, उनके लिए टेढ़ापन धनुष के टेढ़ेपन के समान ही उपयोगी जान पड़ता है। कूटनीतिक दृष्टि से मंथरा का चरित्र हर प्रकार से उपयोगी था।

राजनीति के चार अंग बताये गए हैं—साम, दाम, दण्ड और भेद :

साम दाम अरु दंड बिभेदा।
नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा।।

मंथरा भेद-नीति में निष्णात थी। साम, दाम औरदण्ड का प्रयोग कर पाना उसके लिए सम्भव भी तो नहीं था। एक दासी से उपदेश कौन ग्रहण करता ?

दाम के बाहुल्य का तो उसके पास प्रश्न ही नहीं था। शारीरिक दृष्टि से असमर्थ वह किसी को दण्ड भी तो नहीं दे सकती थी; किन्तु इन सबकी कमी को उसने भेद-नीति के द्वारा पूरा कर लिया। प्रतीकात्मक रूप में उसका नाम इस दृष्टि से पूरा सार्थक था।

गोस्वामीजी को प्रभु के अनगिनत नामों में 'राम' नाम सर्वाधिक प्रिय है। व्यवहार में भी 'राम' नाम ही सर्वाधिक प्रचलित है। ऐसा लगता है कि जैसे वर्ण-माला में यही दो वर्ण सर्वाधिक मधुर हैं। इनका प्रयोग किए विना कोई विशिष्ट और मधुर शब्द बन ही नहीं पाता :

आखर मधुर मनोहर दोऊ।
बरन बिलोचन जन जिय जोऊ।।

मंथरा के नाम में दोनों ही वर्ण विद्यमान हैं। गोस्वामीजी 'र' और 'म' दोनों अक्षरों को ब्रह्म और जीव के प्रतीकार्थ में देखते हैं। 'र' ब्रह्म है और 'म' उसका अनुगामी जीव :

बरनत बरन प्रीति बिलगाती।
ब्रह्म जीव इव सहज सँघाती।।

किन्तु मंथरा के नाम में क्रम-विपर्यय है। 'म' वहाँ पहले है और 'र' अन्त में। मंथरा का जीवन-दर्शन भी तो यही था। ब्रह्म श्रीराम हैं तो उनके अनुगामी श्रीभरत जीव हैं; किन्तु मंथरा राम-राज्य के स्थान पर भरत-राज्य की स्थापना के लिए प्रयत्नशील थी। वह जीव को स्वामी और ब्रह्म को अनुगामी बनाने के लिए व्यग्र है। न केवल उसके नाम में वर्ण-विपर्यय है, अपितु दोनों वर्णों के मध्य में एक भिन्न वर्ण भी स्थापित है। इसका तात्पर्य है कि वह क्रम-विपर्यय के साथ-साथ दोनों में भेद भी उत्पन्न करना चाहती है। गोस्वामीजी ने दोहावली रामायण में, क्रम-विपर्यय से कैसे अर्थ का अनर्थ हो जाता है, इसके लिए 'राजा राम' शब्द का दृष्टान्त दिया। सीधे पढ़ने पर जो 'राजा राम' है, वही उल्टा पढ़ने पर 'जारा मरा' हो जाता है :

करु बिचार चलु सुपथ भल, आदि मध्य परिनाम।
उलटि जपें 'जारा मरा', सूधें राजा राम।।

गोस्वामीजी का तात्पर्य यह है कि जीव ने अविवेक से ही राम-राज्य के स्थान पर मृत्यु और प्रतिकूलता का राज्य स्वीकार कर लिया है। मंथरा की स्थिति भी ठीक इसी प्रकार की है। वह राम-राज्य को उलटकर अयोध्या में 'जारा-मरा'

की ही तो सृष्ट करती है।

आध्यात्मिक अर्थों में मंथरा भेद-बुद्धि है। अज्ञान के कारण यह श्रीराम और भरत के एकत्व से परिचित हैं। भगवान् स्वयं श्रीमुख से भरत के अपने एकत्व का प्रतिपादन करते हैं :

तुम्ह जानहु कपि मोर सुभाऊ।
भरतहिं मोहि कि अंतर काऊ॥

उनमें इतना अधिक साम्य था कि दोनों में भेद करना कठिन हो जाता था :

भरत राम हीं की अनुहारी।
सहसा लखि न सकहिं नर-नारी॥

इस एकत्व में भेद और दूरी का प्रयास ही मंथरा-रूपी भेद-बुद्धि का स्वभाव है। अयोध्या दिव्य नगरी है। महाराज श्रीदशरथ आध्यात्मिक अर्थों में मूर्तिमान् वेद हैं। उनकी तीनों रानियाँ वेद की काण्डत्रयी की प्रतीक हैं :

ज्ञानशक्तिश्च कौसल्या सुमित्रोपासनात्मिका।
क्रियाशक्तिश्च कैकेयी वेदो दशरथो नृपः॥

इस त्रयी के होते हुए भी यदि अयोध्या में मंथरा के द्वारा अमंगल की सृष्टि हुई तो इसका अर्थ यही है कि जीवन में भेद-बुद्धि का पूरी तरह विनाश हुए बिना राम-राज्य के रूप में पूर्ण सुख की अनुभूति नहीं हो सकती। यह भेद-बुद्धि कैकेयी-रूपी क्रिया के साथ जुड़ी रहती है। इसका सर्वाधिक विरोध ज्ञान-शक्ति (कौसल्या) और उपासना-शक्ति (सुमित्रा) से है। ज्ञान से भेद-बुद्धि का विरोध स्वाभाविक ही है। ज्ञान अद्वैत (राम) की जननी है। अद्वैत के प्रति भेद-बुद्धि का आक्रोश स्वाभाविक है। उपासना में भी यद्यपि भेद की स्वीकृति होती है, किन्तु यह भेद तात्त्विक न होकर भावनात्मक ही होता है। जब भक्त समग्र विश्व को ईश्वर के रूप में देखता है, तब स्वयं वह भी उसका ही स्वरूप है। किन्तु जब वह सारे विश्व को अपने प्रभु का रूप मानकर स्वयं को सेवक मानता है, तब यह भेद तात्त्विक न होकर भावनात्मक ही हो सकता है। इसे भक्त सेवा के आनन्द के लिए स्वीकार करता है। प्रभु ने श्रीहनुमानजी को उपदेश देते हुए अनन्य भक्ति का यही स्वरूप बताया :

सो अनन्य जाके असि, मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवंत॥

यह भेद परम कल्याणकारी है। सुमित्रा अम्बा इसी भेद की प्रतिपादिका हैं। वे प्रभु के अभिन्न रूप श्रीलक्ष्मण को निरन्तर प्रभु की सेवा का उपदेश देती हैं। किन्तु क्रिया के आश्रय में रहने वाली भेद-बुद्धि राग और द्वेष से प्रेरित होती है। यह भेद-बुद्धि समाज में निरन्तर संघर्ष की सृष्टि करती है। इसके रहते हुए जीव कभी परमानन्द का अनुभव नहीं कर सकता। विनय-पत्रिका के अनेक पदों में इसीलिए गोस्वामीजी द्वैत-बुद्धि के विनाश पर बल देते हैं :

जौ निज मन परिहरै बिकारा।
तो कत द्वैत-जनित संसृति-दुख, संसय सोक अपारा ॥१॥
सत्रु, मित्र, मध्यस्थ, तीनि ये मन कीन्हे बरिआईं।
त्यागन, गहन, उपेच्छनीय, अहि हाटक, तृन की नाईं ॥२॥
असन, बसन, पसु, बस्तु बिबिध बिधि, सब मनि महँ रह जैसे।
सरग, नरक, चर-अचर लोक बहु, बसत मध्य मन तैसे ॥३॥
बिटप-मध्य पुतरिका, सूत महँ कंचुकि बिनहिं बनाए।
मन महँ तथा लीन नाना तनु, प्रगटत अवसर पाए ॥४॥
रघुपति-भगति-बारि-छालित चित, बिनु प्रयास ही सूझै।
तुलसिदास कह चिद-बिलास जग, बूझत-बूझत बूझै ॥५॥

द्वैत-बुद्धि का स्वभाव मिथ्या भ्रम की सृष्टि करना है। इसीलिए विनय-पत्रिका में प्रभु से भ्रम दूर करने की प्रार्थना की गई है :

हे हरि, कस न हरहु भ्रम भारी !
जद्यपि मृषा सत्य भासै जब, लगि नहिं कृपा तुम्हारी ॥१॥
अर्थ अबिद्यमान जानिय संसृति नहिं जाइ गुसाईं।
बिन बाँधे निज हठ सठ परबस, पर्‌यो कीर की नाईं ॥२॥
सपने ब्याधि बिबिध बाधा जनु, मृत्यु उपस्थित आई।
बैद अनेक उपाय करै, जागे बिनु पीर न जाई ॥३॥
श्रुति-गुरु-साधु-समृति-संमत यह दृश्य असत दुखकारी।
तेहि बिनु तजे, भजे बिनु रघुपति, बिपति सकै को टारी ॥४॥
बहु उपाय संसार-तरन कहँ, बिमल गिरा श्रुति गावै।
तुलसिदास मैं-मोर गए बिनु, जिउ सुख कबहुँ न पावै ॥५॥

वास्तविक दुःख को मिटाना सम्भव है, किन्तु भ्रम-जन्य दुःख किसी साधना के द्वारा नहीं मिटाया जा सकता। इसीलिए उपर्युक्त पद में स्वप्न का दृष्टान्त दिया गया है। स्वप्न में जिस रोग की अनुभूति होती है, उसके निवारण में योग्य-

से-योग्य वैद्य भी समर्थ नहीं हो सकता। उसका निवारण तो व्यक्ति के जागरण से ही हो सकता है।

मंथरा ने कैकेयीजी के अन्तःकरण में जिस भय की सृष्टि की थी, वह पूरी तरह भ्रामक था। एक कल्पित भविष्य का भयानक चित्र कैकेयी के अन्तःकरण पर अंकित कर दिया गया और उसी मिथ्या को सत्य मानकर वे पूरी तरह श्रीराम के विरुद्ध हो गईं। मंथरा ने कैकेयी के समक्ष भविष्य का एक भयानक चित्र उपस्थित किया :

रामहिं तिलक कालि जौं भयऊ।
तुम्ह कहुँ बिपति बीजु बिधि बयऊ॥
रेख खचाइ कहउँ बल भाखी।
भामिनि भइहु दूध कै माखी॥
जौं सुत सहित करेहु सेवकाई।
तौ घर रहहु न आन उपाई॥
कद्रू बिनतहिं दीन्ह दुख, तुम्हहिं कौसिला देब।
भरतु बंदि-गृह सेइहहिं, लखनु राम के नेब॥

इस कल्पित भय के निवारण के लिए मंथरा कैकयी को दो वरदान माँगने की प्रेरणा देती है :

दुइ बरदान भूप सन थाती।
माँगहु आजु जुड़ावहु छाती॥
सुतहिं राजु रामहिं बनबासू।
देहु लेहु सब सवति हुलासू॥

यह वरदान ही कैकेयी के लिए अभिशाप बन बैठा। अभिशाप और वरदान क्या हैं? साधारण अर्थों में वरदान का अर्थ है श्रेष्ठ दान, और अभिशाप दूसरे को दंडित करने के लिए प्रयुक्त किया जाने वाला वाक्य है। पर यह आवश्यक नहीं है कि वरदान सर्वदा कल्याणकारी ही सिद्ध हो। उसकी मंगलमयता व्यक्ति के विवेक पर निर्भर है। दुरुपयोग से वरदान भी अभिशाप बन जाता है, और उसके सदुपयोग से अभिशाप भी वरदान का रूप धारण कर लेता है। वैदिक परम्परा में कोई भी उपासक किसी भी इष्टदेव को मानने वाला क्यों न हो, इष्टमन्त्र के जप के आरम्भ में गायत्री की उपासना अनिवार्य है। बाहर से अटपटा प्रतीत होने पर भी यह अत्यन्त आवश्यक है। इष्ट मंत्र के जप का तात्पर्य है, अपने आराध्य का साक्षात्कार। किन्तु उस साक्षात्कार से पहले

गायत्री-जप का विधान परमावश्यक है, क्योंकि गायत्री मन्त्र में बुद्धि को शुद्ध करने की प्रार्थना की गई है। इसका तात्पर्य यह है कि इष्ट के द्वारा वरदान-प्राप्ति से पहले बुद्धि की शुद्धि परमावश्यक है। जिससे शुद्ध बुद्धि के द्वारा साधक यह निर्णय कर सके कि उसके लिए कौन-सी वस्तु कल्याणकारी है। पर जब गायत्री-प्रेरित बुद्धि के स्थान पर मंथरा ही वरदान की प्रेरिका बन जाए, तब उस वरदान का अभिशाप बन जाना स्वाभाविक है। इसीलिए मंथरा के परिचय में 'मंदमति' शब्द का प्रयोग किया गया है।

लगता है, मंथरा नित्य नगर-परिभ्रमण के लिए भी जाती थी। समाचारों का संग्रह उसका स्वभाव था। अयोध्या नित्य मङ्गलमयी थी; किन्तु आज मंथरा को उसमें कुछ वैशिष्ट्य प्रतीत हुआ। वन्दनवारों और पताकाओं से नगर सुसज्जित किया जा रहा था। मंगल-वाद्य बज रहे थे। जिज्ञासा प्रगट करने पर मंथरा को श्रीराम के युवराज-पद पर अभिषिक्त किए जाने की योजना का पता चला। समाचार सुनते ही उसका हृदय जल उठा। यह मंथरा की असद्-वृत्ति का सबसे बड़ा दृष्टान्त है। अपनी हानि पर दुःखित होना तो मानव-मन का सहज स्वभाव है, यह जीव-धर्म भी है :

हरष बिषाद ग्यान अग्याना।
जीव धर्म अहमिति अभिमाना ॥

किन्तु अपनी रंच-मात्र हानि न होते हुए भी दूसरे के लाभ को देखकर क्षुब्ध होना घोर आसुरी वृत्ति का परिचायक है। अपनी हानि पर समत्व में स्थिर रहना यह संत-वृत्ति है। भगवान् राम के व्यक्तित्व में इसी का साक्षात्कार होता है। 'राज्याभिषेक' का समाचार सुनकर न उनके हृदय में प्रसन्नता की बाढ़ आती है और न राज्य छिन जाने के समाचार से उनके मुख की कान्ति में कोई मलिनता आती है। गोस्वामीजी ने तो अयोध्याकाण्ड के प्रारम्भ में नित्य-विकसित प्रभु के इसी मुख-कमल की वन्दना की है :

प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।
मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे सदास्तु सा मञ्जुल-मंगल-प्रदा ॥

महत्पुरुषों को स्वहानि में दुःख की अनुभूति नहीं होती है। इसके पीछे उनके जीवन का तात्त्विक दर्शन विद्यमान होता है। जब भी किसी व्यक्ति की हानि होती है, तब दूसरी ओर किसी-न-किसी को लाभ भी होता है। द्यूत-क्रीड़ा में एक व्यक्ति की हानि ही द्वितीय व्यक्ति का लाभ है। सामने वाले की विजय से दुःख की अनुभूति का कारण ही यह है कि प्रतिपक्षी के प्रति परायेपन की

भावना विद्यमान रहती है। किन्तु संत को सर्वत्र एक ही तत्त्व का साक्षात्कार होता है। इसीलिए किसी के प्रति उसके अन्तःकरण में परता की भावना नहीं होती। अतः वह दूसरे की विजय को भी अपनी ही विजय के रूप में देखता है। यदि किसी व्यक्ति की जेब में द्रव्य हो और उसे निकालकर पेटिका में बन्द कर दिया जाए, तब द्रव्य के दूर चले जाने पर भी व्यक्ति को असन्तोष कहाँ होता है ? वह तो यह सोचकर अत्यन्त प्रसन्न होता है कि जेब के स्थान पर द्रव्य और भी सुरक्षित स्थान पर पहुँच गया। महत्पुरुषों को भी यही प्रतीत होता है कि स्वयं से परिवर्तित होकर दूसरे के निकट जाने वाला सुख अधिक सुरक्षित है, क्योंकि अब उस सुख की सुरक्षा की चिन्ता सामने वाले व्यक्ति को ही होगी। जेब में द्रव्य के रहते हुए द्रव्य की सुरक्षा का भार उस व्यक्ति पर ही होता है जिसका वह है। पर पेटिका में पहुँचते ही सुरक्षा का भार पेटिका और प्रहरी का हो जाता है।

साधारण व्यक्ति अपनी हानि में दुःख और लाभ में सुख का अनुभव करता है, और यह वृत्ति व्यक्ति को निरन्तर सजग रहने की प्रेरणा प्रदान करती है। सजगता ही पुरुषार्थमूलक कर्म का आधार है। इसलिए इस वृत्ति में संत-भाव की अपेक्षा न्यूनता होते हुए भी व्यावहारिकता का अभाव नहीं है। इस सिद्धान्त को समझ लेने पर कि हानि, लाभ, सुख और दुःख अपने ही कर्मों का परिणाम हैं, व्यक्ति दूसरे के प्रति राग और द्वेष से मुक्त हो जाता है :

कोउ न काहु दुख-सुख कर दाता।
निज कृत कर्म भोग सब भ्राता।।
अस बिचारि नहिं कीजिय रोषू।
काहुहि ब्यर्थ न देइअ दोषू।।

श्रीराम के वन-गमन में कैकेयी को मुख्य हेतु मानकर निषादराज द्वारा उनकी निन्दा में प्रयुक्त किए गए वाक्यों के उत्तर में श्रीलक्ष्मण के द्वारा उपर्युक्त पंक्तियों में इसी दर्शन का विस्तृत विवेचन है।

किन्तु दूसरे के सुख में दुःखी होने की असंत-वृत्ति तो सृष्टि में दुःख का ही विस्तार करती है। दूसरों के सुख से दुःखी होकर वह स्वयं तो अनावश्यक दुःख मोल लेता ही है, पर वह इतने से ही सन्तुष्ट होकर बैठ नहीं जाता। वह अपने संतोष के लिए दूसरों का सुख छीनकर उन्हें भी अपनी ही तरह दुःखी बनाना चाहता है। उसका पुरुषार्थ स्वयं के सुख-संग्रह की अपेक्षा दूसरों को दुःख देने की चेष्टा में ही प्रयुक्त होता है। इसीलिए असंत की परिभाषा करते हुए खल की तुलना सन (जूट) से की गई है :

खल सन इव पर बंधन करई।
खाल कढ़ाइ बिपति सहि मरई।।

सन स्वयं मुक्त नहीं होता, पर उसे यह देखकर ही परम संतोष हो जाता है कि वह भले ही मुक्त न हो, किन्तु दूसरों को बाँधने में सहायक तो हो ही सकता है। मंथरा की मनोवृत्ति ठीक इसी प्रकार की है। वह दासी थी और उसे यह ज्ञात था कि उसे स्वयं को कभी राज्य प्राप्त नहीं हो सकता। अपनी इस बाध्यता को ही स्वयं की निष्कामता के समर्थन में तर्क के रूप में प्रयुक्त करती है :

कोऊ नृप होउ हमहिं का हानी।
चेरि छाँड़ि अब होब कि रानी।।

किन्तु निष्कामता के प्रदर्शन की आड़ में ही वह दूसरे को सत्ता-च्युत करने का षड्यन्त्र रचती है। वह कैकेयी के समक्ष यह प्रदर्शित करना चाहती है कि मैं व्यक्तिगत लाभ-हानि की भावना से सर्वथा शून्य हूँ। कैकेयी उसके इस पाखंडपूर्ण सन्तत्व के अभिनय को नहीं समझ पाई। बाह्य साम्य के कारण वह बकी को ही मराली मान बैठी :

फिरा करमु प्रिय लागि कुचाली।
बकिहि सराहइ मानि मराली।।

असंत के हृदय में निरन्तर द्वेष की अग्नि प्रज्वलित रहती है। दूसरे का सुख उसे शुष्क काष्ठ-जैसा प्रतीत होता है। इस काष्ठ के पड़ते ही उसके हृदय की द्वेषाग्नि और भी भड़क उठती है। फिर अपने द्वेष की ज्वाला से वह दूसरों को भी जलाने लगता है। भविष्य में मंथरा जिस अग्नि के द्वारा अयोध्या को दग्ध कर देती है, वह उसके हृदय में न जाने कब से विद्यमान थी। तिलक के समाचार की समिधा मिलते ही वह अग्नि जल उठी। मंथरा को लगा कि उसके पास केवल एक रात्रि अवशिष्ट है। यदि वह षड्यन्त्र में सफल न हो सकी, तो अयोध्या में राम-राज्य आकर रहेगा। यह रात्रि ही उसके लिए सबसे महत्त्वपूर्ण थी। दिन में कर्म और रात्रि में विश्राम, यही व्यक्ति की जीवन-चर्या का क्रम है; किन्तु मंथरा रात्रि में सक्रिय प्रतीत होती है। चौर-वृत्ति में यह स्वाभाविक ही है। चोर पुरुषार्थ के माध्यम से धन-संग्रह में विश्वास नहीं करता, उसे इस मार्ग से जिस द्रव्य की उपलब्धि होती है उसकी मात्रा स्वल्प प्रतीत होती है। वह तो अल्प समय में दूसरों के पुरुषार्थ से उपार्जित द्रव्य पर अधिकार पा लेना चाहता है। इसके लिए रात्रि का समय ही उसे उपयुक्त प्रतीत होता है। क्योंकि दिन-भर के कर्म से

परिश्रान्त व्यक्ति उस समय प्रगाढ़ निद्रा में निमग्न रहते हैं। उसी समय सफलतापूर्वक द्रव्यापहरण किया जा सकता है। मंथरा के मनोभाव को इस दृष्टान्त के द्वारा हृदयङ्गम किया जा सकता है।

मंथरा एक दासी के रूप में सुख, सुविधा और वेतन तो प्राप्त करती ही रही होगी, किन्तु उसकी लोभी मनोवृत्ति को उससे संतोष कैसे हो सकता था ? वह जानती थी कि बड़े-से-बड़े पुरुषार्थ के द्वारा भी वह अयोध्या की राज्यश्री को हस्तगत नहीं कर सकती। अयोध्या के लोग न जाने कितने दिनों से राम-राज्य के लिए उत्कंठित थे। इस संकल्प की पूर्ति के लिए वे न जाने कितना साधन-भजन करते रहते थे। महाराज श्रीदशरथ के हृदय में ज्यों ही राघवेन्द्र को अभिषिक्त करने का संकल्प जाग्रत हुआ, मंत्रियों के द्वारा उसका प्रबल समर्थन किया गया। बल्कि सत्य तो यह है कि उन्हें अपने उत्साह के अतिरेक से यह भय लगा कि कहीं महाराज श्रीदशरथ इस समर्थन को अपने प्रति अविश्वास न मान लें। इसीलिए समर्थन के साथ-साथ उन्होंने महाराजश्री के लिए दीर्घ जीवन की भी प्रार्थना की :

मुदित महीपति मंदिर आए।
सेवक सचिव सुमंत बुलाए।।
कहि जय जीव सीस तिन्ह नाए।
भूप सुमंगल बचन सुनाए।।
जौं पाँचहि मत लागै नीका।
करहु हरषि हिय रामहिं टीका।।
मंत्री मुदित सुनत प्रिय बानी।
अभिमत बिरव परेउ जनु पानी।।
बिनती सचिव करहिं कर जोरी।
जिअहु जगतपति बरिस करोरी।।
जग मंगल भल काजु बिचारा।
बेगिअ नाथ न लाइअ बारा।।

निर्णय की घोषणा होते ही सारे अयोध्यावासी निश्चिन्त हो गए। उसी निश्चिन्तता की रात्रि में मंथरा की चौरवृत्ति चैतन्य हो उठी। यह चौरवृत्ति मंथरा के अंतःकरण में रहने वाली मात्सर्य की वृत्ति थी :

मत्सर मान मोह मद चोरा।

गोस्वामीजी ने दूसरा दृष्टान्त किरातिनी के द्वारा मधु के अपहरण का दिया।

मधुमक्षिका न जाने कितने कठिन परिश्रम से मधु-सञ्चय करती है। अनगिनत रंग-बिरंगे सुरभित पुष्पों के पास जाकर वह उनसे मधु ग्रहण करती है। उसके मधु-ग्रहण की कला अप्रतिम है। पुष्पों को रञ्चमात्र हानि पहुँचाए बिना ही वह रस ग्रहण करती है। दोहावली-रामायण में गोस्वामीजी ने मधुप को इसीलिए सर्वश्रेष्ठ रसिक सुखग्राही स्वीकार किया है। जंगल के रहने वाले, कोल-किरात और मधुप, दोनों ही, तरु-जीवी हैं। कोल अपने स्वार्थ के लिए वृक्ष पर प्रहार करने में संकोच नहीं करता है, किन्तु मधुप केवल रस ग्रहण करता है :

पिअत सुमन रस अलि बिटप, कोल काटि फल खात।
तुलसी तरु-जीवी सकल, सुमति कुमति कै बात।।

अयोध्या की सारी प्रजा मधुप के समान दशरथ-रूप तरु के आश्रय में निवास करती है। मंथरा भी उन्हीं की आश्रिता है। अयोध्या-वासी राम-राज्य-रूप मधु का सञ्चय करते हैं। मंथरा भीलिनी की भाँति उस मधु का अपहरण कर लेना चाहती है। किन्तु मधु-सञ्चय ही नहीं, वह तरु पर प्रहार करने में भी संकोच नहीं करती। यदि वह कैकेयी को राम-राज्य के स्थान पर भरत-राज्य की स्थापना के लिए प्रेरित करती तो इसे मधु का अपहरण-मात्र ही माना जाता, किन्तु श्रीराम के वन-गमन की याचना के लिए कैकेयी को प्रेरणा देकर वह महाराजश्री को मृत्यु के मुख में धकेल देती है। किरातिनी मंथरा, कैकेयी को भी किरातिनी बनाकर ही छोड़ती है :

बिधि कैकई किरातिनि कीन्ही।
जेहि दव दुसह दसहुँ दिसि दीन्ही।।

मंथरा असंतत्व की सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है। अयोध्या-जैसे पवित्र राज्य में श्रीभरत की माता को वह अपनी तद्‌रूपता प्रदान कर दे, इससे बढ़कर चमत्कार क्या हो सकता है ? कैकेयी निरन्तर अपनी गोद में श्रीराघवेन्द्र को धारण करती हैं, लाड़ लड़ाती हैं, अतः स्वाभाविक तो यही होता कि वे राममय हो जातीं, किन्तु वे मंथरा की प्रतिमूर्ति बन बैठीं। इसके पीछे क्या रहस्य है—इसके स्पष्टीकरण के लिए लौह-पेटिका में पारस का दृष्टान्त दिया जा सकता है।

शिष्य ने गुरु से जिज्ञासा की—"गुरुदेव, यदि ईश्वर प्रत्येक व्यक्ति के अन्तःकरण में विद्यमान होता तो क्या मानव-मन में परिवर्तन न हो जाता ? मुझे तो ईश्वर के अन्तर्यामित्व के सिद्धान्त में विश्वास नहीं होता।" गुरुदेव ने शिष्य को पारस लाने का आदेश दिया। यह पारस उनके किसी मित्र महात्मा के पास था। शिष्य ने उन महात्मा को गुरुदेव का संदेश दिया। महात्मा ने संदेश के सुनते ही

अपने शिष्य को आदेश दिया—लौह-पेटिका में रखे हुए पारस को ले आओ। आगन्तुक शिष्य वाक्य सुनते ही चौंक पड़ा कि यदि पेटिका लोहे की होती तो पारस के स्पर्श से स्वर्ण के रूप में परिवर्तित हो जाती; और यदि वह वस्तुतः लौह-पेटिका है तो उसमें स्थित प्रस्तर पारस नहीं हो सकता। महात्मा का शिष्य वह पेटिका ले आया। पेटिका खुली, पतले कागज में लिपटा हुआ एक प्रस्तर दिखाई पड़ा। कागज को अलग कर पेटिका से छुआते ही वह स्वर्ण-मञ्जूषा के रूप में परिणत हो गई। शिष्य को उसके प्रश्न का उत्तर मिल चुका था कि पारस और लौह के मध्य में एक पतला आवरण भी लौह-परिवर्तन की प्रक्रिया को रोक देता है। जीव और ब्रह्म के मध्य में भी ऐसा कोई आवरण है, जो जीव को तद्रूप होने से रोकता है। यह आवरण भेद-बुद्धि है। कैकेयीजी ने भले ही श्रीराम को गोद में धारण किया हो, उन्हें स्नेह और वात्सल्य दिया हो; किन्तु वे उन क्षणों में भी बार-बार यही सोचती रहीं कि राम वस्तुतः कौसल्या के पुत्र हैं, कितना अच्छा होता कि इनका जन्म मेरे गर्भ से हुआ होता। यह भेद-बुद्धि उनकी तन्मयता में सर्वदा बाधक रही। मंथरा ने इसी भेद-बुद्धि को परिपुष्ट किया और भरत-जैसे मधुप की माता को किरातिनी के रूप में परिणत करने में समर्थ हो गई :

प्रनवउँ प्रथम भरत के चरना।
जासु नेम ब्रत जाइ न बरना।।

मधुकर-भावापन्न भरत को जन्म देने वाली माँ किरातिनी बनकर जब पर-सत्त्वापहरण के लिए व्यग्र हो जाती है तब उनकी मनोवृत्ति की तुलना किरातिनी से करते हुए गोस्वामीजी ने एक अद्भुत संकेत किया है। किरातिनी सोचती है कि भ्रमर के श्रम से संगृहीत मधु को लेजाकर विक्रय के पश्चात् जो द्रव्य प्राप्त होगा, उससे मैं और मेरा परिवार तृप्त होगा। यही धारणा कैकेयी अम्बा की है। वे अपने पुत्र को राज्य-रूपी मधु से तृप्त करना चाहती हैं; किन्तु वे श्रीभरत को पहिचानने में असमर्थ रहीं। श्रीभरत तो मधुकर हैं और श्रीराम के राज्याभिषेक-रूपी मधु से चरम तृप्ति तो उन्हीं को प्राप्त होने वाली थी। उन्होंने उस मधु का अपहरण कर सबसे अधिक पीड़ा 'मधुप' भरत को ही पहुँचाई। महाराज श्रीदशरथ ने भी कैकेयी से इन्हीं शब्दों में अपनी व्यथा प्रकट की थी—"जिस भरत को राज्य देने के लिए तुम इतने अनर्थ कर रही हो, वह स्वप्न में भी राज्य का अभिलाषी नहीं है। अन्त में राम-राज्य स्थापित होगा। सारे भाई उसकी सेवा करेंगे। अयोध्या के नागरिक धन्य होंगे। किन्तु तुम्हारा कलङ्क और मेरा पश्चात्ताप शाश्वत बनकर रह जायगा" :

चहत न भरत भूपतहिं भोरे।
बिधि बस कुमति बसी जिय तोरे॥
सो सब मोर पाप परिनामू।
भयउ कुठार जेहि बिधि बामू॥
सुबस बसिहि फिरि अवध सुहाई।
सब गुन धाम राम प्रभुताई॥
करिहहिं भाइ सकल सेवकाई।
होइहि तिहुँ पुर राम बड़ाई॥
तोर कलंकु मोर पछिताऊ।
मुएहुँ न मिटिहि न जाइहि काऊ॥

किन्तु मंथरा ने अपनी वचन-रचना के द्वारा महारानी को इतना प्रभावित कर लिया था कि उन्हें तो अपनी सबसे बड़ी हितैषिणी मंथरा ही प्रतीत होने लगी थी। उन्होंने उससे स्पष्ट शब्दों में कहा—"मैं तो अपनी भावना के प्रवाह में बहती हुई दुःख-सरिता में डूबने वाली थी, किन्तु मंथरे ! तुमने मुझे बचा लिया। इस विशाल विश्व में तुम्हारे समान मेरा कोई हितैषी नहीं है। यदि ब्रह्मा ने मेरा मनोरथ पूर्ण किया तो मैं तुम्हें नेत्र की पुतली बना लूँगी" :

तोहि सम हित न मोर संसारा।
बहे जात कइ भइसि अधारा॥
जौं बिधि पुरब मनोरथ काली।
करौं तोहि चख पूतरि आली॥

महाराज श्रीदशरथ-सहित सारी अयोध्या के लोग मिलकर भी कैकेयी के ऊपर पड़े हुए मंथरा के प्रभाव को परिवर्तित करने में समर्थ नहीं हो सके। यही असंतत्व की भीषण सामर्थ्य को प्रकट करता है।

कैकेयी के अन्तःकरण में दो भिन्न प्रकार के संस्कार विद्यमान थे। एक संस्कार वह था जो केकय-नरेश की पुत्री के रूप में उन्हें उपलब्ध हुआ था; दूसरे संस्कार वे थे जो उन्हें अयोध्या के वातावरण में प्राप्त हुए। यह प्रभाव महाराज श्रीदशरथ का था। नवीन वातावरण से उत्पन्न संस्कार ही उनके व्यावहारिक जीवन में प्रकट दिखाई देते थे। बहुधा होता भी यही है। पेटिका या किसी अन्य स्थान में यदि वस्तुओं को सजाकर रखा जाय, तो निकालते समय रखने के क्रम में सर्वथा प्रतिकूलता होगी। निकालते समय सबसे बाद में रखी हुई वस्तु ही पहले निकलती है और सबसे प्रारम्भ में रखा जाने वाला पदार्थ सबसे अन्त में बाहर

आता है। कैकेयी के अन्तःकरण की भी स्थिति इसी प्रकार की है। उनके शरीर और संस्कारों की रचना के मूल उपादान केकय-नरेश से प्राप्त हुए थे। अयोध्या के संस्कारों के आरोपित हो जाने से वे ढक गए और उनके व्यवहार में अयोध्या के संस्कार सक्रिय हो उठे। किन्तु मंथरा कैकेयी की चिर-संगिनी है। बाल्यावस्था से ही वह उनके संस्कारों से परिचित थी। इसीलिए वह कैकेयी के प्रारम्भिक वार्तालाप से निराश नहीं होती। उनके प्रारम्भिक वाक्य इतने औदार्यपूर्ण थे कि मंथरा के स्थान पर कोई भी अन्य व्यक्ति निराश और भयभीत हो जाता। प्रारम्भ में मंथरा की बातें सुनकर कैकेयी ने उसे फटकारते हुए धमकी दी—"यदि भविष्य में तूने कभी भी ऐसी कुचेष्टा की तो मैं तेरी जीभ निकलवा लूंगी। राम तो मुझे प्राण से बढ़कर प्रिय हैं, उनके राज्य-तिलक से तुझे क्षोभ क्यों होना चाहिए ?" :

सुनि प्रिय बचन मलिन मनु जानी।
झुकी रानि अब रहु अरगानी॥
पुनि अस कबहुँ कहसि घरफोरी।
तब धरि जीभ कढ़ावउँ तोरी॥
काने खोरे कूबरे, कुटिल कुचाली जानि।
तिय बिसेष पुनि चेरि कहि, भरत मातु मुसुकानि॥
प्रिय बादिनि सिख दीन्हिउँ तोही।
सपनेहुँ तो पर कोपु न मोही॥
सुदिनु सुमंगल दायकु सोई।
तोर कहा फुर जेहि दिन होई॥
जेठ स्वामि सेवक लघु भाई।
यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥
राम तिलकु जौं साँचहुँ काली।
देउँ माँगु मन-भावत आली॥
कौसल्या सम सब महतारी।
रामहिं सहज सुभाय पिआरी॥
मो पर करहिं सनेह बिसेषी।
मैं करि प्रीति परीच्छा देखी॥
जौं बिधि जनमु देइ करि छोहू।
होहु राम सिय पूत पतोहू॥
प्रान ते अधिक राम प्रिय मोरे।
तिन्ह के तिलक छोभ कस तोरे॥

उपर्युक्त पंक्तियों में कैकेयी को 'भरत-मातु' के रूप में स्मरण किया गया है। इस शब्द के प्रयोग का तात्पर्य भरत और अयोध्या के वातावरण के प्रभाव का प्रदर्शन करना था। पर वे 'भरत-मातु' से पहले 'केकय-नंदिनी' थीं :

केकइ-नंदिनि मंदमति, कठिन कुटिलपन कीन्ह।
जेहि रघुनंदन जानकिहि, सुख अवसर दुख दीन्ह ।।

निश्चित रूप से कैकेयी का प्रभाव श्रीभरत की अपेक्षा अधिक गहरा था। एक नारी पुत्र से प्रभावित हो सकती है, किन्तु उसमें वात्सल्य-भावना की ही प्रमुखता होगी। परन्तु पिता के प्रति उसके अन्तःकरण में आदर की भावना विद्यमान रहती है। पुत्र की तुलना में वह पिता के भावों को अधिक महत्त्व दे, यह सर्वथा मनोवैज्ञानिक है। कुटिल मंथरा कैकेयी के अन्तर्मन की गहराइयों से परिचित थी। उसका धैर्य अतुलनीय था। वह कैकेयी के भावावेश से विचलित नहीं होती। अन्ततोगत्वा वह मंथरा थी। मंथरा का अर्थ है—मंद गति वाली। वह हड़बड़ी में कोई पग नहीं उठाती। उसका प्रत्येक पग धैर्यपूर्वक उठता है। वह कैकेयी के समान भावावेश से संचालित नहीं होती, यही उसकी सफलता का रहस्य था। इसीलिए तुलसीदास ने उसे 'कोटि-कुटिल-मणि' की उपाधि प्रदान की :

लखहिं न भूप कपट चतुराई।
कोटि कुटिल मनि गुरू पढ़ाई ।।

मंथरा की इस मनोवृत्ति और सामर्थ्य से यदि कोई पात्र पूरी तरह परिचित था तो वे थे श्रीलक्ष्मण। शेषावतार लक्ष्मण सर्वदा उस पर कड़ी दृष्टि रखते थे। मंथरा सर्पिणी थी :

तबहुँ न बोलि चेरि बड़ पापिनि।
छोड़इ स्वाँस कारि जनु साँपिनि ।।

साहित्य में सर्पिणी निष्ठुरता की सीमा मानी जाती है। विश्व में प्रचलित मान्यता तो यह है कि पुत्र कुपुत्र हो सकता है किन्तु माता कुमाता नहीं होती :

कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।

किन्तु सर्पिणी इस उक्ति को झुठलाती है। वह अपने ही जने पुत्रों को खा जाती है। श्रीलक्ष्मण इस सत्य से पूरी तरह परिचित थे कि अवसर पाते ही मंथरा अपने ही प्रियजनों को निगलने की चेष्टा करेगी। सर्पराज शेष से अधिक इसे कौन जान

सकता था ? उनपर ही अयोध्या के संरक्षण का भार था, अतः वे यदा-कदा उसे फटकार-भरी शिक्षा देते रहते थे। इसीलिए जब राज्याभिषेक का समाचार लेकर मंथरा आँसू बहाती हुई कैकेयी के पास गयी, तब उन्हें यह कोई नया दृश्य प्रतीत नहीं हुआ। उन्हें लगा कि 'पहले की ही भाँति लक्ष्मण ने आज भी मंथरा को फटकारा होगा।' इसलिए इस मुद्रा में मंथरा को देखकर वे हँस पड़ीं :

हँसि कह रानि गाल बढ़ तोरे।
दीन्ह लखन सिख अस मन मोरे॥

लक्ष्मण आध्यात्मिक अर्थों में जीवों के परमाचार्य हैं। वे भेद-बुद्धि से उत्पन्न होने वाले दुष्परिणामों से परिचित हैं। व्यवहार के निर्वाह के लिए भेद-बुद्धि को पूरी तरह विनष्ट नहीं किया जा सकता है; किन्तु उस पर कड़े नियन्त्रण की आवश्यकता है, जिससे वह अन्तःकरण में प्रविष्ट न हो सके। मंथरा अन्तःपुर-निवासिनी थी। किन्तु जब तक उसने कैकेयी के अन्तःकरण में प्रवेश नहीं पा लिया, तब तक उसके द्वारा अयोध्या में किसी अनर्थ की सृष्टि नहीं हो सकी। पर जब कैकेयी ने उसे नेत्र की पुतली का स्थान दे दिया, तब भेद-बुद्धि और भेद-दृष्टि का उदय होते ही द्वेष का संचार होना स्वाभाविक था। इस तरह मंथरा अपनी योजना में सफल हुई।

किन्तु प्रश्न तो यह है कि इसे मंथरा की प्रतिभा स्वीकार किया जाए अथवा मूर्खता ? गोस्वामीजी उसे 'मंदमति' की ही उपाधि प्रदान करते हैं। वस्तुतः तीव्र बुद्धि का तात्पर्य यदि ध्वंसकर्म में सफलता हो, तब इसे मूर्खता ही मानना पड़ेगा। हो सकता है कि एक व्यक्ति के पास इतनी पैनी कुल्हाड़ी हो कि वह अल्प श्रम से ही बड़ी-से-बड़ी डाल को काट सके, किन्तु यदि वह उसी डाल पर उसका प्रयोग करे जिस पर वह स्वयं खड़ा हो, तो उसकी कुल्हाड़ी का पैनापन डाल की अपेक्षा उसके लिए ही अधिक घातक सिद्ध होगा। ऐसे व्यक्ति को मूर्ख की उपाधि देना ही अधिक उपयुक्त होगा। मंथरा ने भी इसी मनोवृत्ति का परिचय देते हुए न केवल सारी अयोध्या के लिए ही विपत्ति की सृष्टि की, अपितु स्वयं के लिए भी विनाश और दुःख को आमंत्रित किया। इसीलिए पैनी बुद्धि होते हुए भी गोस्वामीजी ने उसे 'मंदमति' की उपाधि प्रदान की।

॥ श्रीराम: शरणं मम ॥

बाल सखा सुनि हिय हरषाहीं।
मिलि दस पाँच राम पहिं जाहीं॥
प्रभु आदरहिं प्रेम पहिचानी।
पूछहिं कुसल खेम मृदु बानी॥
फिरहिं भवन प्रिय आयसु पाई।
करत परसपर राम बड़ाई॥
को रघुबीर सरिस संसारा।
सील सनेह निबाहनिहारा॥
जेहि-जेहि जोनि करम बस भ्रमहीं।
तहँ-तहँ ईसु देउ यह हमहीं॥
सेवक हम स्वामी सियनाहू।
होउ नाथ एहि ओर निबाहू॥

अर्थ—"प्रभु की बाल्यावस्था के मित्र यह समाचार सुनकर हृदय में हर्षित हो रहे हैं, तथा दस-दस, पाँच-पाँच की टोलियाँ बनाकर वे श्रीराघवेन्द्र के पास आते हैं। श्रीराम प्रेम को पहिचान कर उनका आदर करते हैं तथा मृदुवाणी में उनका कुशल-समाचार पूछते हैं। तत्पश्चात् वे प्रभु की आज्ञा पाकर अपने-अपने घर को लौटते हुए आपस में श्रीराम की प्रशंसा कर रहे हैं। श्रीराम के समान शील और स्नेह का निर्वाह करने वाला अन्य कौन होगा ? वे ईश्वर से प्रार्थना करते हैं—कर्मों के अनुसार जिस योनि में जहाँ भी हमारा जन्म हो, वहाँ हम सेवक हों एवं सीतापति श्रीरामभद्र हमारे स्वामी हों एवं उनसे हमारा यह नाता अन्त तक निभ जाए।"

राघवेन्द्र के राज्याभिषिक्त होने की योजना सुनकर अयोध्या की सारी प्रजा पुलकित हो उठी थी; किन्तु प्रभु के बाल-सहचरों के आनन्दोल्लास की तो कोई सीमा ही न थी। वे अनेक झुंडों में बँटकर रामभद्र को बधाई देने के लिए राज-

भवन में प्रविष्ट होते हैं; किन्तु राघवेन्द्र के व्यवहार में उन्हें आज कुछ पार्थक्य प्रतीत हुआ। मित्रता का सम्बन्ध बराबरी की भावना पर आधारित होता है और अपनत्व ही उसका सहज स्वभाव है। अपनी अपेक्षा श्रेष्ठ व्यक्ति को आदर प्रदान किया जाता है। अतः आज तक राघव ने अपने मित्रों को स्नेह ही प्रदान किया था; किन्तु आज उनके स्नेह में आदर की भावना भी मिश्रित हो गई थी :

प्रभु आदरहिं प्रम पहिचानी।
पूछहिं कुसल खेम मृदु बानी॥

अपने प्रिय जनों के अभ्युत्थान का समाचार सुनकर सुहृदों का उल्लसित होना स्वाभाविक ही होता है। जिन्हें पद और सत्ता प्राप्त होती है, उनमें उसी क्षण से परिवर्तन प्रारम्भ हो जाता है। किन्तु यह परिवर्तन श्रीराम के व्यवहार में सर्वथा भिन्न दिशा में होता है। सत्ता की उपलब्धि के पहले ही व्यक्ति को भविष्य की चिन्ता सताने लगती है। उसे लगता है, जिन लोगों से वह अब तक बराबरी का व्यवहार करता रहा है, यदि वे भविष्य में भी उसी प्रकार का व्यवहार करते रहे तो इससे उसके पद-गौरव को आघात लगेगा। अतः वह सहचरों और अपने बीच मर्यादा की एक नई रेखा का निर्माण करना चाहता है, जिसे लाँघकर लोग उस तक न पहुँच सकें। परिणाम में वह अपने मित्रों के समक्ष भी यह प्रदर्शित करने की चेष्टा करता है कि अब तक जो कुछ होता रहा है, उसे भूलकर वे नये व्यवहार के लिए स्वयं को परिवर्तित करने का प्रयास प्रारम्भ कर दें। ऐसे अवसरों पर पुराने परिचितों के अन्तःकरण में इससे तीव्र आघात लगना स्वाभाविक है। और इसके बाद भी यदि वे सम्बन्ध बनाए रखने की उत्सुकता प्रकट करते हैं तो इसके पीछे भय और प्रलोभन की भावना ही होती है। उनके अन्तर्मन में मात्सर्य की वृत्ति का उदय होता है और अवसर पाते ही वे सत्ताधीश मित्र को नीचे खींचकर सन्तुष्ट होते हैं। महाभारत के युद्ध में हिंसा और प्रतिहिंसा का यह चक्र कुछ इसी प्रकार की मनोवृत्ति से प्रेरित था।

दरिद्र ब्रह्मचारी द्रोण और पांचाल देश के राजकुमार द्रुपद एक ही पाठशाला के छात्र थे। उनमें प्रगाढ़ मैत्री की भावनाएँ विद्यमान थीं। निश्चित रूप से द्रोण द्रुपद की अपेक्षा अधिक प्रतिभाशाली थे; किन्तु द्रुपद के पीछे वैभव की गरिमा विद्यमान थी। अध्ययन-काल में द्रुपद को द्रोण से सहायता लेनी ही पड़ती होगी और इससे उत्पन्न संकोच को मिटाने के लिए द्रुपद भविष्य में इसका प्रतिदान देने की घोषणा करता था। उसने मित्र द्रोण को यह आश्वासन दिया कि भविष्य में वह पांचाल देश की सत्ता और वैभव का उपयोग अकेले नहीं करेगा। वह अपने मित्र को पांचाल देश का आधा राज्य प्रदान कर देगा। दरिद्र द्रोण को

मित्र की वाणी में जो औदार्य दिखाई देता था उससे उन्हें सन्तोष प्राप्त होता था। प्रतिदिन यह मित्रता प्रगाढ़ होती गई। दोनों ने शिक्षा की समाप्ति के पश्चात् गार्हस्थ जीवन में प्रवेश किया और अपनी-अपनी समस्याओं में उलझ गए। द्रोण स्वाभिमानी थे इसलिए द्रुपद के अभिषेक का समाचार सुनकर भी निमन्त्रण के अभाव में उन्हें पांचाल देश जाना उपयुक्त नहीं लगा; किन्तु बाद में परिस्थितियों के प्रहार से पीड़ित होकर वे द्रुपद के पास जाने को बाध्य हो गए। वह परिस्थिति अपने लाड़ले पुत्र अश्वत्थामा की पीड़ा को देखकर आई।

द्रोण के जीवन में इतना अर्थाभाव था कि वे पुत्र के लिए दूध का भी प्रबंध नहीं कर पाते थे। दूध के लिए रोते हुए बालक को देखकर उन्होंने आटे को घोलकर उसी से अश्वत्थामा को सन्तुष्ट कर दिया। दूध के स्वाद से अनभिज्ञ बालक उस दिन तो प्रसन्न हो गया; किन्तु जब उसे अपने किसी अन्य मित्र के घर में वास्तविक दुग्ध के स्वाद का अनुभव हुआ, तब उसकी व्यथा आक्रोश और आँसुओं के रूप में फूट उठी। द्रोणाचार्य की ग्लानि की कोई सीमा न रही। उन्हें अपने पुराने मित्र द्रुपद के वचनों का स्मरण हो आया। द्रोण के मन में आधे राज्य को पाने की कोई आकांक्षा तो न थी, किन्तु उनको यह विश्वास अवश्य था कि मित्र के द्वारा उन्हें सम्मान और सहायता अवश्य प्राप्त होगी। परन्तु सत्ता ने द्रुपद को मदान्ध बना दिया था। उसको यह स्वीकार करने में संकोच का अनुभव हो रहा था कि यह दरिद्र ब्राह्मण कभी उसका सहपाठी था। प्रतिभा में ब्राह्मण द्रुपद से श्रेष्ठ था। अतः द्रुपद द्वारा तिरस्कृत द्रोण प्रतिहिंसा की ज्वाला में जल उठे। शस्त्र-विद्या के अद्वितीय ज्ञाता द्रोण की प्रतिभा को कुरु-पितामह भीष्म ने परखा। उन्हें राजकुमारों को अस्त्र-विद्या का प्रशिक्षण देने के लिए नियुक्त किया गया। अब द्रोण को अभाव से मुक्ति मिली, सम्मान मिला; किन्तु द्रुपद के द्वारा तिरस्कृत किए जाने का दुःख वे कभी भूल नहीं पाए। शस्त्र-विद्या में निपुण राजकुमारों ने जब गुरु आचार्य द्रोण से गुरु-दक्षिणा माँगने का अनुरोध किया, तब उन्होंने अपने शिष्यों को आदेश दिया कि दुष्ट द्रुपद को बाँधकर उनके समक्ष उपस्थित किया जाए। पट्ट-शिष्य अर्जुन ने द्रुपद को बन्दी बनाकर आचार्य के चरणों में उपस्थित किया। द्रोण ने व्यंग-भरी हँसी से द्रुपद का स्वागत किया और पुराने वचनों की स्मृति दिलाई। आधा राज्य छीनकर द्रुपद को क्षमादान दे दिया। अनादृत द्रुपद अपनी राजधानी में लौट आए, किन्तु गाथा यहीं समाप्त नहीं हो गई। प्रतिहिंसा का चक्र आगे बढ़ा; द्रुपद ने यज्ञ किया और उसके द्वारा ऐसे पुत्र की याचना की जो द्रोण का संहार कर सके। इसी यज्ञ से द्रौपदी और धृष्टद्युम्न का प्राकट्य हुआ। महाभारत के युद्ध में अश्वत्थामा की मृत्यु के मिथ्या समाचार से मर्माहत आचार्य अस्त्र-शस्त्र का परित्याग कर समाधिस्थ हो गए, तो

धृष्टद्युम्न ने ध्यानावस्थित आचार्य का सिर काट लिया। उसके इस उग्र और अनार्य कर्म का बदला आचार्य-पुत्र अश्वत्थामा ने उतनी ही भीषणता और क्रूरता से लिया। महाभारत-युद्ध के पश्चात् उसने रात्रि में सोये धृष्टद्युम्न को शय्या से घसीटकर लातों और घूँसों के प्रहार से मार डाला। घात-प्रतिघात की यह भीषण गाथा केवल इतिहास ही नहीं है, वरन् यह सामाजिक जीवन का शाश्वत सत्य भी है।

दरिद्रता और वैभव यदि स्वाभाविक हैं तो उनका संघर्ष भी स्वाभाविक एवं अवश्यम्भावी है। वैभवशाली का यह कर्त्तव्य है कि वह दरिद्रता को सम्मान दे, उसकी आवश्यकता की पूर्ति करे। यदि वह ऐसा नहीं करता तो उसके दुष्परिणामों से वच नहीं सकता। द्रोण के समान अकेला व्यक्ति भले ही स्वेच्छा से दरिद्रता का वरण करे, किन्तु वह सारे परिवार को इसके लिए बाध्य नहीं कर सकता। आचार्य द्रोण अस्त्र के द्वारा अपनी जीविका नहीं चलाना चाहते थे, किन्तु परिस्थितियों ने उन्हें हिंसा की दिशा में प्रेरित किया। हिंसा के द्वारा किसी समस्या का वास्तविक समाधान नहीं होता। किन्तु अभावग्रस्त व्यक्ति से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह असीम काल तक धैर्य धारण करे। सामर्थ्यहीन व्यक्ति बाध्यता से भले ही मौन धारण कर ले, किन्तु जिनमें बुद्धिमत्ता है वे वैभव के मिथ्या दर्प को सहन नहीं कर सकते। समस्या का सन्तुलित समाधान तो वह है जिसे हम श्रीरामभद्र के चरित्र में पाते हैं।

द्रुपद के समान किसी व्यक्ति-विशेष से वचनबद्ध न होते हुए भी वे उस प्रत्येक व्यक्ति के प्रति अपने अन्तःकरण में प्रतिबद्ध हैं, जो उनसे छोटा है। उन्हें तो वह परम्परा ही अनुचित प्रतीत होती है कि जो बड़े को सत्ताधीश बनाकर छोटों की उपेक्षा करती है। राजतंत्र की परम्परा के अनुकूल ज्येष्ठ भाई राज्य का उत्तराधिकारी होता आया था, किन्तु यही परम्परा द्वारा प्राप्त गौरव जब श्रीराम को दिया जाने लगा तव उन्होंने बड़ी ग्लानि का अनुभव किया। प्रभु को पश्चात्ताप हुआ और वे एकान्त क्षणों में सोचने लगे—'हम सभी भाइयों का एक साथ जन्म हुआ; भोजन, निद्रा और खेल में हम सब सहभागी रहे, परन्तु आज अचानक एक व्यक्ति को सिंहासन देकर अन्यों की उपेक्षा कर दी गई। यह परम्परा सूर्य-वंश के लिए कलंक है" :

गुरु सिख देइ राय पहिं गयऊ।
राम हृदय अस बिसमय भयऊ।।
जनमे एक संग सब भाई।
भोजन सयन केलि लरिकाई।।

करन-बेध उपबीत बिआहा।
संग-संग सब भए उछाहा।।
बिमल बंस यह अनुचित एकू।
बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिसेकू।।

सत्ता की उपलब्धि को अपनी योग्यता का माप-दण्ड मान लेना, परम्परा को शाश्वत सत्य मानकर उसे अपने विशेषाधिकार के रूप में स्वीकार करना, स्वयं को अहंकार और दूसरों को मात्सर्य की दिशा में प्रेरित करता है। सत्ता-संरक्षण के लिए शास्त्र की दुहाई वस्तुतः नग्न स्वार्थ को रंगीन वस्त्र से ढँकने की चेष्टा-मात्र है। यद्यपि अनेक ऐसे अवसर आते हैं कि जब व्यवस्था के लिए विषमता को स्वीकार करना ही पड़ता है। पद का समान वितरण सम्भव भी नहीं है। किन्तु सत्ता ग्रहण करने वाले की मनःस्थिति कैसी होनी चाहिए, इसका समग्र सूत्र श्रीराम के चरित्र में प्राप्त होता है। उन्होंने युवराज-पद पर अभिषिक्त किए जाने के समाचार को सुनकर अस्वीकृति का बाह्य दिखावा नहीं किया; किन्तु उनका प्रबुद्ध अन्तःकरण इसे बाध्यतापूर्ण अनौचित्य के रूप में ही स्वीकार करता है और इसका विकल्प भरत-राज्य के रूप में आने पर उन्होंने उल्लसित हृदय से उसका स्वागत किया। गोस्वामीजी प्रभु की इस ग्लानि को भक्त के हृदय में अंकुरित स्वार्थ-बुद्धि के विनाश का हेतु मानते हैं :

प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई।
हरहु भगत मन कै कुटिलाई।।

यदि वे अपने बालमित्रों के आगमन पर स्वयं को संकुचित अनुभव करते हैं, तो यह उनके दर्शन के सर्वथा अनुरूप ही था। भारतीय संस्कृति ने सदैव सत्ता की अपेक्षा त्याग को अधिक महत्त्व दिया है। प्रभु ने अपने मित्रों को देखकर यह अनुभव किया कि आज उनके सखा त्याग के द्वारा उनसे ऊपर उठ चुके हैं। सत्ता और पद की स्वीकृति ने उन्हें मित्रों की तुलना में छोटा बना दिया है। उनके अन्तर्मन की भाषा कुछ इस प्रकार रही होगी—'मित्रो ! तुम में से कोई भी मुझसे योग्यता में हीन नहीं है, न जाने कितनी बार आप सबने खेल में मुझे परास्त किया होगा। आप में से प्रत्येक इस अयोध्या-राज्य के संचालन की क्षमता रखता है, किन्तु परम्परा की विडम्बना से यदि मैं राज्य का उत्तराधिकारी बन बैठा तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि मैं आपकी तुलना में ऊँचा उठ गया। आज तो मेरा स्वार्थ और आपकी उदारता आमने-सामने है। आपको मेरे इस सौभाग्य से ईर्ष्या नहीं हुई, यह तो आपकीउल्लसित बधाई से ही प्रकट हो रहा है। इसलिए आपका

मित्र राम स्वयं को लज्जित अनुभव कर रहा है। आप लोगों में से जब भी कोई व्यक्ति कुछ लेकर आया, वह मुझे अर्पित करके ही स्वयं उसका भाग ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत हुआ। परन्तु आपका यह मित्र इतना स्वार्थी निकला कि अयाध्या के राज्य-पद को अकेले स्वीकार कर बैठा। मैं इस स्वार्थ के लिए स्वयं को लज्जित अनुभव करता हूँ। आज से आप मेरे स्नेह के साथ-साथ सम्मान के भी पात्र हैं। मुझे विश्वास है कि आप अपने सहज सौहार्द से मेरे स्वार्थ को क्षमा कर देंगे।'

इसकी प्रतिक्रिया क्या हुई ? श्रीरामभद्र के पास से लौटते हुए मित्रों की आँखें स्नेह के आँसुओं से गीली हो उठीं। रुद्ध कंठ से वे परस्पर राघवेन्द्र के स्नेह, सौजन्य और शील की सराहना करने लगे। उनकी एकमात्र कामना थी कि जब भी उनका जन्म हो, उन्हें श्रीराम के सामीप्य का सौभाग्य मिले; किन्तु वे अगले जन्मों में मित्र नहीं, सेवक बनने के लिए व्यग्र हो उठे। उन्हें लगने लगा—'मित्रता में अनेक बार विनिमय का व्यवहार हो जाता है। कितना अच्छा होता कि सेवक के रूप में हमें इनकी सेवा का सौभाग्य प्राप्त होता! जहाँ सत्ता का अहंकार दूसरों में मात्सर्य की सृष्टि करता है, वहाँ वैभव की नम्रता और उदारता दूसरों के अन्तःकरण में समर्पण और सेवा की भावना जाग्रत करती है। यही राम-राज्य की वह मूल भावना है जिसका समग्र विकास राम-राज्य की स्थापना के बाद अयोध्या के जन-जन में पल्लवित, पुष्पित और फलित दिखायी देता है :

बैर न कर काहू सन कोई।
राम प्रताप बिसमता खोई॥

× ×

सब नर करहिं परसपर प्रीती।
चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

कवने अवसर का भयउ, गयउ नारि बिस्वास।
जोग सिद्धि फल समय जिमि, जतिहिं अबिद्या नास॥

अर्थ—महाराज श्रीदशरथ हृदय में विचार कर रहे हैं—'क्या होने वाला था और क्या हो गया ! समस्त स्त्री-जाति पर से मेरा विश्वास समाप्त हो गया। स्त्री के कारण मेरा वैसे ही पतन हुआ जैसे योग की चरम सिद्धि-प्राप्ति के समय अविद्या आकर योगी को नीचे गिरा दे।'

महाराज श्रीदशरथ के मन में जहाँ कैकेयी के सौन्दर्य के प्रति असीम आकर्षण विद्यमान था, वहीं महारानी के सद्गुणों ने भी उनके अन्तर्मन को अभिभूत कर रखा था। कौसल्या और सुमित्रा की तुलना में कैकेयी के प्रति उनका आकर्षण अधिक होना स्वाभाविक भी था; क्योंकि कौसल्या अत्यन्त गम्भीर प्रकृति की थीं और सुमित्रा तो समर्पण की घनीभूत मूर्ति ही थीं। पर कैकेयी के चरित्र में उच्छ्वसित अनुराग का परिचय प्राप्त होता है। वे मौन नहीं, मुखर थीं। उनका औदार्य प्रत्यक्ष परिलक्षित होता था। उनकी उदारता और तेजस्विता गुप्त न होकर प्रकट थी। न केवल राजमहल में अपितु युद्ध-क्षेत्र में भी वे महाराजश्री की सहचरी थीं। कैकेयी को दिये गए दो वरदानों के वचन भी रणक्षेत्र में प्रदर्शित शौर्य के ही परिचायक थे। युद्ध-क्षेत्र में शत्रु से युद्धरत महाराजश्री के रथ का पहिया अचानक कील के अभाव में गिरने लगा। कैकेयी की सजग दृष्टि ने इसे तत्काल भाँप लिया। अगले ही क्षण उन्होंने दो अंगुलियों के प्रयोग से रथ

के पहिए को गिरने से रोक दिया। विजयी महाराजश्री को महारानी के इस उत्कृष्ट धैर्य से अत्यन्त सन्तोष हुआ और उन्होंने यह वचन दिया कि वे उनसे चाहे जो दो वरदान माँग लें। उस समय कैकेयी के औदार्य का भी परिचय मिला जबकि उन्होंने यह कहा कि उन्हें कुछ नहीं चाहिए। किन्तु कृतज्ञ महाराज ने यह घोषणा की कि यह थाती उनके पास सर्वदा सुरक्षित रहेगी। भविष्य में चाहे जब वे अपने इस अधिकार का उपयोग कर सकेंगी। इस तरह जहाँ कौसल्या और सुमित्रा के सद्गुण समाज के समक्ष अभिव्यक्त नहीं हो सके, वहाँ कैकेयी के गुणों की ख्याति से सारी अयोध्या का वातावरण व्याप्त हो गया। इससे भी बड़ी उनकी उदारता तब सामने आई, जब उन्होंने विवाह में प्राप्त अपने विशेष अधिकार का स्वेच्छा से परित्याग कर दिया। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि केकय-नरेश ने विवाह के समय यह वचन ले लिया था कि कैकेयी के गर्भ से उत्पन्न होने वाला पुत्र ही अयोध्या के राज्य का उत्तराधिकारी होगा; किन्तु श्रीराम के गुणों से प्रभावित कैकेयी ने अपनी ओर से महाराजश्री से यह अनुरोध किया कि राज्य का उत्तराधिकार राघवेन्द्र को ही प्राप्त होना चाहिए। उनकी इस उदारता से महाराजश्री की दृष्टि में कैकेयी का सम्मान और भी अधिक बढ़ गया।

कई अध्येताओं को यह देखकर बड़ा आश्चर्य होता है कि कैकेयी ने श्रीभरत के लिए राज्य का वरदान माँगते समय एक बार भी विवाह में की गई प्रतिज्ञा का स्मरण नहीं दिलाया। किन्तु इसका कारण कैकेयी के द्वारा राम को राज्य दिये जाने का अनुरोध ही था। इसलिए महाराजश्री ने रामभद्र के युवराज-पद पर अभिषिक्त किये जाने का समाचार देते हुए यह वाक्य जोड़ दिया—"प्रिये! तुम्हारी इच्छा के अनुकूल राघवेन्द्र को अभिषिक्त किये जाने का निर्णय किया जा चुका है। अयोध्या में उत्सव और आनन्द के वाद्य बज रहे हैं":

भामिनि, भयउ तोर मनभावा।
घर-घर उत्सव बाज बधावा॥

वस्तुतः महाराजश्री ने कैकेयी के उदात्त गुणों को देखकर ही उन पर समग्र मन से विश्वास कर लिया। उनके चरित्र की गगनचुम्बी अट्टालिका में वे निश्चित मन से सो गए। किन्तु ऊँचाई के साथ-साथ नींव की गहराई की ओर उनका ध्यान ही नहीं गया। भवन की ऊँचाई में सौन्दर्य तो हो सकता है किन्तु उसकी सुरक्षा तो नींव की गहराई पर ही निर्भर करती है। महत्त्व केवल किसी व्यक्ति के प्रदर्शित होने वाले औदार्य और सद्गुणों का ही नहीं है; मुख्य प्रश्न तो यह है कि इन सबके पीछे प्रेरक रूप में कौन-सी वृत्ति कार्य कर रही है? जब भी सद्-गुणों के पीछे अहंकार सक्रिय होता है, तब वह उनकी आधार-भूमि को इतना

दुर्बल बना देता है कि प्रतिकूल परिस्थितियों के झंझावात में वे क्षण-भर में धराशायी हो जाते हैं, यही कुछ कैकेयी के साथ भी हुआ।

उनके द्वारा प्रदर्शित औदार्य के पीछे प्रेरक रूप में रजोगुण विद्यमान था। वे कीर्ति-प्रिय थीं; सम्मान और प्रशंसा की बड़ी तीव्र भूख उनमें विद्यमान थी। वे यदि श्रीराम के प्रति इतनी उदार थीं तो उसके पीछे भी मुख्य कारण यही था कि राघव ने अन्य माताओं की अपेक्षा उन्हें अधिक सम्मान दिया। इसे उन्होंने स्वयं ही मंथरा के समक्ष नि:संकोच रूप में स्वीकार किया, "मंथरे, तुम्हें शायद यह ज्ञात नहीं है कि राम अपनी सारी माताओं को समान रूप से सम्मान देते हैं, किन्तु मेरे प्रति उनका स्नेह सर्वाधिक है। मैंने जब भी राम के मनोभाव की परीक्षा ली, उनके इस भाव में कभी अन्तर नहीं पाया" :

कौसल्या सम सब महतारीं।
रामहिं सहज सुभाय पिआरीं॥
मो पर करहिं सनेह बिसेषी।
मैं करि प्रीति परीच्छा देखी॥

प्रीति परीक्षा का विषय नहीं है। क्योंकि जहाँ विद्यार्थी परीक्षा में अपनी योग्यता को प्रकट करने के लिए व्यग्र होता है, वहाँ 'प्रेम' प्रदर्शन की भावना से सर्वथा शून्य होता है। प्रदर्शन केवल व्यवहार की वस्तु है। वह सामाजिक सम्बन्धों के निर्वाह का आधार तो हो सकता है, किन्तु प्रेम को उससे कुछ लेना-देना नहीं है। यदि श्रीरामभद्र व्यवहार में कैकेयी को सर्वाधिक सम्मान दें तो यह उनके मनोवैज्ञानिक पाण्डित्य का परिचायक है। किसी भी व्यक्ति को भोजन कराते समय उसकी रुचि का ध्यान रखना अत्यधिक आवश्यक है। कैकेयी के अन्त:करण में सम्मान की भूख थी, इसलिए 'वचन-रचना-नागर राम' कैकेयी के समक्ष सर्वदा उसी को परोसते थे। कौसल्या और सुमित्रा अम्बा के जीवन में यह भूख थी ही नहीं, इसलिए प्रभु ने कभी उनके समक्ष इसको रखने की चेष्टा नहीं की। यदि इस सम्मान को कैकेयी अम्बा ने प्रेम की परीक्षा का आधार बना लिया तो यह उनके प्रेम-पाठ्यक्रम को न समझ पाने का ही परिणाम कहा जा सकता है। परीक्षा का साधारण नियम यह है कि प्रश्न-पत्र उस सीमा के अन्तर्गत ही दिए जाने चाहिए जो पाठ्यक्रम में निर्धारित है।

साधारण विद्यालयों में विद्यार्थी की दो प्रकार से परीक्षा ली जाती है—लिखित और मौखिक। इन परीक्षाओं में लिखित की अपेक्षा मौखिक परीक्षा का अधिक महत्त्व है—क्योंकि उससे बालक की प्रत्युत्पन्न मति और धैर्य का भी ज्ञान प्राप्त होता है—किन्तु प्रेम की पाठशाला में मौखिकता का कोई महत्त्व नहीं है।

'प्रेम' वाणी का विषय नहीं है, वह अनिर्वचनीय है। प्रेम व्यक्ति को मुखर नहीं, मौन बनाता है। नारद-भक्तिसूत्र में इसीलिए प्रेम को अनिर्वचनीय और रसानुभूति को गूँगे के स्वाद-जैसा बताया है :

अनिर्वचनीयं प्रेम-स्वरूपं मूकास्वादनवत्।

व्यवहार में वाणी का ही सर्वाधिक महत्त्व है, इसलिए व्यवहार की परीक्षा सम्भव है। किन्तु कैकेयी ने "मैं करि प्रीति परीच्छा देखी" का दावा किया। वे स्वयं शरीर में स्थित थीं, इसीलिए वे ब्रह्मा से नित्य यह प्रार्थना करती रहीं कि राम अगले जन्म में उनके पुत्र हों और सीता को वे पुत्र-वधू के रूप में प्राप्त कर सकें :

जौं बिधि जनम देइ करि छोहू।
होहिं राम सिय पूत पतोहू॥

श्रीराघवेन्द्र भले ही उन्हें सर्वाधिक सम्मान देते रहे हों, उन्हें दिन-रात 'माँ' कहकर पुकारते रहे हों; किन्तु कैकेयी की लोकैषणा की भूख इतने से ही सन्तुष्ट होने वाली नहीं थी। वे केवल श्रीराम के मुख से ही 'माँ' शब्द सुनने के लिए व्यग्र नहीं थीं; वे प्रत्येक व्यक्ति की वाणी के द्वारा यह सुनने के लिए व्यग्र थीं कि "राम कैकेयी के पुत्र हैं"—किन्तु यह इस जन्म में सम्भव नहीं था। इसलिए इसे अगले जन्म में ब्रह्मा से पूर्ण कराना चाहती थीं। फिर एक प्रश्न यह भी है कि भरत-जैसे संत के मातृत्व से वे सन्तुष्ट क्यों नहीं थीं ? सत्य तो यह है कि इसके पीछे भी उनकी लोकैषणा की वृत्ति ही कार्य कर रही थी। श्रीभरत तो प्रेम के घनीभूत रूप हैं :

भरतहिं कहहिं सराहि सराही।
राम प्रेम मूरति तनु आही॥

आत्म-प्रदर्शन की वृत्ति का तो वहाँ स्पर्श भी नहीं था। वे श्रीराघवेन्द्र के प्रति समर्पित उनके मूक अनुगामी थे। राघवेन्द्र से प्रत्यक्ष वार्तालाप का साहस भी वे नहीं जुटा पाते थे। श्रीभरत की आत्म-स्वीकृति में इसे इस रूप में प्रकट किया गया है, "मैं स्नेह और संकोच के कारण कभी उनके सम्मुख वार्तालाप भी नहीं कर पाया, इसलिए, इतने सन्निकट होते हुए भी, मेरे नेत्र सर्वदा दर्शनों के प्यासे बने रहे" :

महूँ सनेह सकोच बस, सनमुख कहेउँ न बैन।
दरसन-तृपित न आजु लगि, प्रेम-पिआसे नैन॥

श्रीभरत के दिव्य गुण अयोध्यावासियों के समक्ष कभी न आ पाते यदि राम-वन-गमन की परिस्थितियों ने उन्हें बाध्य न किया होता। इसलिए गोस्वामीजी ने चौदह वर्ष के वियोग को मन्दराचल के रूप में प्रस्तुत किया, जिसके द्वारा मन्थन किये जाने पर भरत-रूप समुद्र से प्रेमामृत का प्राकट्य हुआ :

प्रेम अमिअ मंदर बिरह, भरत पयोधि गभीर।
मथि प्रगटे सुर-साधु-हित, कृपासिंधु रघुबीर।।

महारानी कैकेयी का रजोगुणी मन श्रीभरत के मातृत्व से सन्तुष्ट नहीं हो पाता है। उस समय तक श्रीभरत एक ख्यातिप्राप्त व्यक्ति नहीं थे। कैकेयी का अन्तर्मन उन राम के मातृत्व के लिए व्यग्र था जिन्होंने अल्पावस्था में ही अतुलनीय ख्याति प्राप्त की थी। वे ताड़का, मारीच और सुबाहु के दमनकर्त्ता थे। उन्होंने विश्वामित्र के यज्ञ को संरक्षण प्रदान किया था। धनुर्भंग के द्वारा उनके अतुलनीय पराक्रम की पताका सारे विश्व में फहरा चुकी थी। ऐसे प्रसिद्ध पुत्र की माँ बनकर ही कैकेयी की लोकैषणा-वृत्ति सन्तुष्ट हो सकती थी। उनके अन्तर्मन के वास्तविक चित्र को पहचान पाने में महाराज श्रीदशरथ पूरी तरह असफल रहे, इसीलिए कैकेयी में आए हुए परिवर्तनों से वे स्तब्ध हो गए। महाराजश्री को लगा कि उनके साथ घोर विश्वासघात हुआ है। इसके आधार पर उन्हें समग्र नारी जाति ही अविश्वस्त प्रतीत होने लगी। अनेक लोगों के लिए यह पंक्ति तुलसी के नारी-विरोधी होने का स्पष्ट प्रमाण है। यह आरोप तुलसी के काव्यान्तर्गत नाटकीय तत्त्व को ठीक-ठीक हृदयंगम न कर पाने के कारण ही लगाया जाता है।

महाराज श्रीदशरथ के द्वारा लगाए गए आरोपों से मिलता-जुलता आरोप भगवान् शंकर द्वारा भी लगाया जाता है। वे सती से स्पष्ट शब्दों में कहते हैं— "सती, तुम्हारे स्वभाव में नारी-प्रकृति परिलक्षित हो रही है। तुम्हें ऐसा संशय मन से निकाल देना चाहिए" :

सुनहु सती तव नारि सुभाऊ।
संसय अस न धरिअ उर काऊ।।

जो लोग यह उत्तर देना चाहते हैं कि नारी-आलोचना सम्बन्धी ये पंक्तियाँ केवल निकृष्ट पात्रों के मुख से ही कहलाई गईं हैं, वे या तो आलोचकों से पीछा छुड़ाना चाहते हैं अथवा उन्होंने समग्र मानस का अध्ययन ही नहीं किया है। महाराज श्रीदशरथ और भगवान् शंकर के साथ-साथ श्रीभरत भी उन पात्रों में हैं जिन्होंने कठोर शब्दों में नारी जाति पर अपना आक्रोश प्रगट किया है :

बिधिहुँ न नारि हृदय गति जानी।
सकल कपट अघ अवगुन खानी॥
सरल सुसील धरम रत राऊ।
सो किमि जानै तीय सुभाऊ॥

इतनी कठोर आलोचनाओं के होते हुए भी इन तीनों पात्रों में से एक भी ऐसा नहीं है कि जिसे समग्र नारी-जाति का विरोधी सिद्ध किया जा सके। नारी-जाति के प्रति विद्वेष एक भिन्न बात है और परिस्थिति-विशेष में उसकी आलोचना करना एक भिन्न ही अर्थ रखता है। भगवान् शंकर सती-प्रसंग में उस समय नारी-स्वभाव की आलोचना करते हैं जब वन-पथ में रुदन करते हुए श्रीराम को देखकर सती संशय-ग्रस्त हो जाती हैं, किन्तु अन्तःकरण के उस संशय को वे शिव के समक्ष प्रकट करने में संकोच का अनुभव करती हैं। शरीर-रचना और सामाजिक परिवेश की भिन्नता के कारण पुरुष और नारी-स्वभाव में पार्थक्य सर्वथा स्वाभाविक है।

पुरुष-जाति सर्वथा अवगुण-शून्य होती है, ऐसा दावा 'रामचरितमानस' में कहीं नहीं किया गया। तुलनात्मक रूप से अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि नारी की तुलना में पुरुष पात्र ही अधिक क्रूर, हिंसक और पापी हैं। फिर भी नारी-स्वभाव में कुछ ऐसी भिन्नताएँ होती हैं कि जिनका उल्लेख मानस में अनेक अवसरों पर किया गया। स्वभावगत यह पार्थक्य उनके सामाजिक जीवन के संरक्षण के लिए आवश्यक है; किन्तु उसका अतिरेक और दुरुपयोग दुःखदायी सिद्ध होता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण करने पर पुरुष-प्रवृत्ति के मूल में अहंकार का दर्शन होता है। इसके प्रतिकूल नारी स्वभाव से ही ममतामयी है। पुरुष का गर्व स्वामित्व की स्वीकृति से सन्तुष्ट होता है—किन्तु स्त्री को सृष्टि-सृजन की प्रक्रिया में सर्वाधिक कष्ट उठाना पड़ता है। वह शिशु को दीर्घकाल तक गर्भ में धारण करती है। उसे अपने शरीर के अंग के रूप में ही पोषण प्रदान करती है। इतनी कठिन साधना के बाद उपलब्ध संतति पर उसकी प्रगाढ़ ममता स्वाभाविक ही है। यह ममता ही उसे निरन्तर कष्ट सहन करने की क्षमता प्रदान करती है, पर इसके साथ-साथ उसमें आशंका की भावनाएँ भी अधिकाधिक बढ़ती जाती हैं। उसे अनेक आशंकाएँ घेरे रहती हैं। अहंकार के कारण पुरुष बन्धन से मुक्त रहना चाहता है और उसके स्वातंत्र्य की आकांक्षा उच्छृंखलता की सीमा तक पहुँच जाती है। प्राचीन काल में उसे बहु-विवाह आदि के अनेक अधिकार प्राप्त थे। कभी आवश्यकता के कारण तो कभी केवल अहं की सन्तुष्टि

के लिए पुरुष इन अधिकारों का दुरुपयोग करता रहा है। नारी-स्वभाव में पुरुष को बाँधे रखने की आकांक्षा भी स्वाभाविक थी। उसकी इस चेष्टा से पुरुष-प्रवृत्ति पर नियंत्रण भी रहता था। सर्वदा भागने की चेष्टा में रहने वाले पुरुष के प्रति नारी का सशंक रहना सर्वथा मनोवैज्ञानिक है। किन्तु अहंकार और ममता का अतिरेक बहुधा संघर्ष में परिणत हो जाता है। यदि पुरुष का अहंकार पुरुषार्थ की प्रेरणा प्रदान करे और उसमें स्वयं आत्म-नियंत्रण उदित हो तो इसे अहं का कल्याणकारी रूप कह सकते हैं।

एक सर्वाधिक सम्पन्न राजा भी यदि समाज में सम्मान पाता था तो उसका एकमात्र कारण उसका स्वयं पर आत्म-नियंत्रण ही होता था। एक राजा सोने में स्वतंत्र हो सकता है—उसे प्रातःकाल उठने की कोई बाध्यता भले ही न हो—किन्तु यदि वह स्वयं ब्राह्म-वेला में उठने का नियम ले ले तो इससे उसके गौरव में वृद्धि ही होगी। महाराज श्रीदशरथ के चरित्र में ब्राह्म-वेला में उठने का नियम इतना अकाट्य था कि एक दिन उसका अतिक्रमण होने पर सारे नगर में तहलका मच गया। सबने एकस्वर से आश्चर्य प्रकट करते हुए प्रधान मंत्री से यह अनुरोध किया कि वे तत्काल जाकर महाराजश्री को जगावें :

पछिले पहर भूप नित जागा।
आजु हमहिं बड़ अचरज लागा॥
जाहु सुमंत जगावहु जाई।
कीजिअ काजु रजायसु पाई॥

यह आत्म-निमंत्रण ही पुरुष को गौरव प्रदान करता है। प्राचीन काल में बहु-विवाह का अधिकार होते हुए भी जो एकपत्नी-व्रती थे, समाज ने सर्वदा उन्हें अधिक महत्त्व दिया। यदि पुरुष नारी को पातिव्रत धर्म में आरूढ़ रखना चाहता है तो वह स्वयं भी एकपत्नी-व्रत धारण करके ही उसे सच्चे अर्थों में प्रतिष्ठापित कर सकता है। राम-राज्य में ठीक यही स्थिति थी :

एक नारि ब्रत रत सब झारी।
ते मन-बच-क्रम पति-हितकारी॥

नारी की ममता भी तभी कल्याणकारिणी हो सकती है जब वह कारागार का रूप न ग्रहण कर ले। ममता के भवन में व्यक्ति स्वयं को सुरक्षित और स्वतंत्र अनुभव करता है किन्तु कारागृह में, सुरक्षा और भोजन का प्रबंध होते हुए भी, कैदी वहाँ से भागने के लिए व्यग्र हो जाता है। ममता-सिक्त नारी भी स्नेह और समर्पण के माध्यम से पुरुष को वशीभूत कर सकती है; किन्तु जब वह संशयालु

होकर प्रतिक्षण प्रहरी का-सा व्यवहार करती है, तब पुरुष विद्रोही बन जाता है। यह तो लौकिक व्यवहार की बात हुई, किन्तु पारमार्थिक जीवन में यह समस्या एक भिन्न रूप में सामने आती है।

पारमार्थिक जीवन क्या है ? जब व्यक्ति के अन्तःकरण में जीवन के वास्तविक उद्देश्य के प्रति जिज्ञासा का उदय होता है, तब उसे पारमार्थिक जीवन की प्रवेशिका में प्रवेश करने का अधिकार प्राप्त होता है। व्यक्ति के अन्तर्मन में जब सीमित समस्याओं के स्थान पर विराट् विश्व के रहस्य को जानने की प्रेरणा उत्पन्न होती है तब वह व्यावहारिक समस्याओं के स्थान पर साधना के विराट् विश्व में प्रविष्ट होने के लिए व्यग्र हो जाता है। उस समय नारी पुनः एक समस्या के रूप में सामने आती है। नारी पुरुष को उस सृष्टि के प्रति उसके दायित्व का स्मरण कराना चाहती है जिसका निर्माण दोनों ने मिलकर किया है, पर जिसमें मुख्य भाग नारी का ही है। ऐसी स्थिति में पुरुष अपनी समझ से चाहे जितने बड़े उद्देश्य की उपलब्धि के लिए बढ़ने वाला हो, साधारणतया नारी उसमें अवरोध उत्पन्न करना चाहती है। इसके लिए नारी अनेक रूपों में सामने आती है। उसमें भय और आकर्षण दोनों होते हैं। प्राचीन संत-साहित्य में नारी-विरोधी स्वर का मूल रहस्य यही है। संभव है, नारी भी यदि इस दिशा में बढ़ना चाहे, तो उसे पुरुष ही अवरोध प्रतीत हो। किन्तु नारी अपनी सृष्टि के प्रति अधिक ममतामयी होने के कारण सृजन और संरक्षण में ही अधिक रुचि लेती है।

भगवान् शंकर दण्डकारण्य में राम-कथा-श्रवण की अभिलाषा लेकर जाते हैं। सती ने साथ चलने का आग्रह किया। शिव ने उसे सहर्ष स्वीकार भी कर लिया। किन्तु महर्षि अगस्त्य के आश्रम में पहुँचकर भी वे कथा-श्रवण नहीं कर पाईं। मार्ग में लौटते हुए एक अद्भुत लीला होती है। रुदन करते हुए राम को देखकर महादेव आनन्द-मग्न हो गए, क्योंकि उन्होंने इसमें लीला (अभिनय) का आनन्द लिया। अभिनेता की अभिनय-कुशलता ने उन्हें गद्गद बना दिया। रुदन में आनन्द की सृष्टि करने वाले ब्रह्म सच्चिदानन्द राम को उन्होंने दूर से ही प्रणाम किया :

जय सच्चिदानन्द जग - पावन !
अस कहि चलेउ मनोज-नसावन ॥

इतना ही नहीं, मार्ग में जाते हुए वे पुनः-पुनः पुलकित होते हैं। आँसू बहाते हैं। दक्ष-पुत्री के हृदय में संशय का उदय हुआ। वे मन-ही-मन तर्क-वितर्क करने लगीं, "भगवान् शिव जगत्-वंद्य होते हुए भी एक साधारण राजकुमार को 'सच्चिदानन्द' कहकर प्रणाम करें ! यह कैसा आश्चर्य है ! निर्गुण-निराकार

ब्रह्म का तो अवतार हो ही नहीं सकता। किन्तु यह विष्णु के अवतार भी होते तो क्या एक अज्ञ की तरह नारी को खोजते हुए विलाप करते ? पर शिव भी तो सर्वज्ञ हैं; उनकी वाणी भी मिथ्या नहीं हो सकती है" :

चले जात सिव सती समेता।
पुनि पुनि पुलकत कृपानिकेता॥
सती सो दसा सम्भु कै देखी।
उर उपजा संदेह बिसेषी॥
संकर जगत-बंद्य जगदीसा।
सुर-नर-मुनि सब नावत सीसा॥
तिन्ह नृप-सुतहिं कीन्ह परनामा।
कहि सच्चिदानन्द परधामा॥
भए मगन छबि तासु बिलोकी।
अजहुँ प्रीति उर रहति न रोकी॥
ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज, अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत बेद॥
बिस्नु जो सुर-हित नर-तनुधारी।
सोउ सर्बग्य जथा त्रिपुरारी॥
खोजइ सो कि अग्य इव नारी।
ग्यान-धाम श्री-पति असुरारी॥
संभु-गिरा पुनि मृषा न होई।
सिव सर्वग्य जान सबु कोई॥

किन्तु अपने अन्तर्मन के संशय को वे प्रकट नहीं करतीं। इस अवसर पर शिव का वाक्य बड़ा सांकेतिक था—"सुनो सती, तुम्हारा स्त्री-स्वभाव है। तुम ऐसा संशय हृदय में धारण मत करो" :

सुनहु सती तव नारि सुभाऊ।
संसय अस न धरिअ उर काऊ॥

नारी-स्वभाव पर यह सांकेतिक व्यंग्य था। गर्भ में वह बालक को धारण करती है और दस मास के बाद ही वह गर्भ से जन्म लेता है। क्या उसी प्रवृत्ति के अनुकूल अब संशय को भी धारण करने का विचार है ? माँ गर्भस्थ शिशु की रक्षा के लिए व्यग्र रहती है। क्या तुम भी हृदय में संशय-शिशु को सुरक्षा प्रदान करना चाहती हो ? कितने दिनों तक इसे धारण किए रहने का विचार है ?

उनका तात्पर्य था कि इसे नष्ट हो जाने दो, नहीं तो यह संशय-शिशु अपनी माँ को ही विनष्ट कर देगा। जो इसे अपने हृदय में धारण करता है, वह मृत्यु का ग्राह्य बन जाता है :

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥

धारण और गोपन की नारी-प्रकृति व्यावहारिक विश्व में उपयोगी है; किंतु परमार्थ-पथ में आकर दोनों ही प्रवृत्तियों का त्याग अपेक्षित है। किन्तु सहज स्वभाव का परित्याग सरल नहीं है। यहाँ उस चोर की गाथा का स्मरण आता है जिसने संग के प्रभाव से संन्यास तो ले लिया, किन्तु आश्रम में रहते हुए वह अपने साथियों का वस्त्र एक-दूसरे से बदल दिया करता था। इससे नित्य उलझन उठ खड़ी होती थी। पता लगाने पर ज्ञात हुआ कि यह नये संन्यासी की करामात है। उसके पूर्व-स्वभाव से परिचित एक महात्मा ने व्यङ्ग करते हुए कहा—"चोर चोरी छोड़ दे पर हेराफेरी का परित्याग कैसे करे!" भगवान् शंकर के वाक्य में भी व्यङ्ग की यही छटा थी। सती व्यवहार-पथ के स्थान पर परमार्थ-पथ पर शिव की सहचरी बनीं, किन्तु वहाँ भी संशय की सहज प्रवृत्ति का उदय हो गया। यह एक मीठी चुटकी-मात्र थी। भगवान् शंकर इन्हीं सती को पार्वती के रूप में ग्रहण करने पर अपना अभिन्न अंग बना लेते हैं और तब वे 'अर्धनारीश्वर' की उपाधि ग्रहण करते हैं और इस प्रकार वहाँ नारी-विद्वेष का तो प्रश्न भी नहीं उत्पन्न होता।

महाराज श्रीदशरथ भी कैकेयी के समक्ष नारी-जाति की आलोचना करने के पश्चात् महारानी कौसल्या के भवन में जाकर नारी के स्थान पर नारी का ही तो आश्रय ग्रहण करते हैं! श्रीभरत भी कैकेयी के समक्ष नारी-जाति की कठोर भर्त्सना करने के बाद कौसल्या अम्बा की गोद में पहुँचकर सुख-शांति का अनुभव करते हैं। अतः नारी के प्रति की गई आलोचना के वाक्य यदि समग्र नारी-जाति के लिए होते, तो स्वयं उसके प्रवक्ता ही एक नारी के स्थान पर दूसरी नारी का आश्रय न लेते। इन आलोचनाओं का सीधा-सा तात्पर्य यह है कि समाज को सती और कैकेयी की प्रवृत्ति अपेक्षित नहीं है—पार्वती और कौसल्या का रूप ही सुख-शांति के सृजन में समर्थ है।

कैकेयी की प्रवृत्तियों के पीछे भी ममता से प्रेरित संशय ही कार्य कर रहा था। ज्ञान-दीपक-प्रसङ्ग में ममता का विनाश सबसे अन्त में होता है। इसके संदर्भ में वहाँ की पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई।
जौं हरि कृपा हृदय बस आई।।
जप तप ब्रत यम नियम अपारा।
जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा।।
तेइ तृन हरित चरै जब गाई।
भाव बच्छ सिसु पाइ पेन्हाई।।
नोइ निबृत्ति पात्र बिस्वासा।
निर्मल मन अहीर निज दासा।।
परम धर्ममय पय दुहि भाई।
अवटै अनल अकाम बनाई।।
तोष मरुत तब क्षमा जुड़ावै।
धृति सम जावनु देइ जमावै।।
मुदिता मथै बिचार मथानी।
दम अधार रजु सत्य सुबानी।।
तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता।
बिमल बिराग सुभग सुपुनीता।।
जोग अगिनि करि प्रगट तब, कर्म सुभासुभ लाइ।
बुद्धि सिरावै ग्यान घृत, ममता-मल जरि जाइ।।

हरि की कृपा से सात्त्विकी श्रद्धा-रूपी गौ जब किसी के हृदय-रूपी घर में आ जाय, तब श्रुतियों ने जो अनेक जप, तप, व्रत, यम और नियम आदि शुभ धर्म-आचार बताए हैं उन्हीं (धर्माचरणों) की हरी घास वह गौ चरे। आस्तिक भाव-रूपी छोटा बछड़ा उसे पेन्हा दे। निवृत्ति (सांसारिक विषयों से विरक्ति) ही नोई (गाय के पैर बाँधने वाली रस्सी) हो। विश्वास ही पात्र हो। स्वयं अपना दास (अपने कहने में चलने वाला) निर्मल मन ही ग्वाला हो। सात्त्विकी श्रद्धा-रूपी गाय से परम धर्ममय दुग्ध दुहकर उसे निष्काम भाव की अग्नि पर भली-भाँति औटाया जाय, सन्तोष की वायु से क्षमा उसे सिरावे (ठंडा करे)। धैर्य तथा सम का जामन देकर वह दूध जमाया जाय। मुदिता (प्रसन्नता) की हाँडी में तत्त्व-विचार की मथानी से दम (इन्द्रिय-दमन) के बीठे (आधार) पर रखकर मधुर वाणी की नेती (रस्सी) से उसे मथकर उसमें से निर्मल, सुन्दर और अत्यन्त पवित्र वैराग्य-रूपी मक्खन निकाला जाय। अपने समस्त शुभ एवं अशुभ कर्मों का ईंधन इकट्ठा कर उसके द्वारा योग की अग्नि जलावे तथा उस पर मक्खन को पिघलाकर इसमें से ममता-रूपी मल (मट्ठा) जल जाने पर बुद्धि के पंखे से ज्ञान के उस घी

को ठंडा करे।

इसका तात्पर्य है श्रद्धा से लेकर वैराग्य-जैसे गुण के आ जाने के बाद भी ममता-रूप मल अवशिष्ट ही रह जाता है। योगाग्नि में शुभाशुभ-कर्म की लकड़ी का प्रयोग करते हुए इसी 'ममता-मल' को जलाना चाहिए। कैकेयी के जीवन में अनेक सद्गुणों के होते हुए भी मह 'ममता-मल' शेष है। सिद्धि के लिए विश्वास की आवश्यकता है :

कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा।
बिनु हरि-भजन न-भव-भय-नासा॥

कैकेयी के हृदय का संशय सर्वनाश कर देता है। महाराजश्री नारी जाति के विरोधी नहीं थे; उन्हें तो कैकेयी पर इतना अधिक विश्वास था कि वे कैकेयी को अचानक समाचार सुनाकर आनन्दित करने की योजना बनाकर महल में आये थे। कैकेयी के कोप-भवन में होने की बात सुनकर वे भयभीत अवश्य हुए, किन्तु फिर भी उनका यह प्रगाढ़ विश्वास था कि राज्याभिषेक का समाचार सुनते ही कैकेयी का कोप अवश्य विनष्ट हो जायगा। इसीलिए उन्होंने बड़े विश्वासपूर्वक कैकेयी को यह समाचार सुनाया :

भामिनि, भयउ तोर मनभावा।
घर घर नगर अनंद बधावा॥
रामहिं देहु कालि जुबराजू।
सजहि सुलोचनि मंगल साजू॥

अतः इस विश्वासघात से उन्हें जो तीव्र आघात लगा, उसी की प्रतिक्रिया 'गयउ नारि-बिस्वास' में प्रकट होती है। 'गयउ' का तात्पर्य ही है कि अब तक विश्वास था, पर अब चला गया। जब भी किसी ऐसे व्यक्ति की ओर से विश्वास-घात होता है जिसकी ओर से स्वप्न में भी आशा नहीं की जा सकती, तब उसकी प्रतिक्रिया भी उतनी ही तीव्र होती है। उस समय यह सोचना सर्वथा स्वाभाविक है कि यदि कैकेयी-जैसी नारी की ओर से ऐसा विश्वासघात होता है, तब किसी अन्य नारी पर कैसे भरोसा किया जा सकता है! पर यह तो आक्रोशजन्य प्रति-क्रिया-मात्र है। शान्त मनःस्थिति में यह समझने में कठिनाई नहीं होती कि किसी एक व्यक्ति के अपराध के लिए समग्र जाति ही अपराधी नहीं है और न ही इसका यह अर्थ है कि 'विश्वास' को ही जीवन से बहिष्कृत कर दिया जाना चाहिए। महाराज श्रीदशरथ भी कौसल्या के प्रति प्रगाढ़ विश्वास नहीं जोड़ पाते। यदि उनमें घोर प्रतिक्रिया के कारण मन का सन्तुलन नष्ट हो गया होता तो उन्हें यही

लगता कि जब बिना किसी कारण के ही कैकेयी की ओर से ऐसा व्यवहार प्राप्त हुआ तो जिस कौसल्या के पुत्र को मैंने वनवास दे दिया है, वह मेरे साथ न जाने कैसा व्यवहार करेगी। किन्तु सन्तुलित व्यक्ति यह जानता है कि समग्र नारियाँ एक-जैसी नहीं होतीं और न सब पुरुष ही एक-जैसे होते हैं।

इस पंक्ति के होते हुए भी समाज में नारियाँ-सम्मान और विश्वास की पात्र बनी रहेंगी।



॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

निरखि बदन कहि भूप रजाई।
रघुकुल दीपहि चले लेवाई॥

× ×

जाइ दीख रघुबंस-मनि, नरपति निपट कुसाजु।
सहमि परेउ लखि सिंहनिहि, मनहुँ बृद्ध गजराज॥

× ×

मन मुसुकाइ भानुकुल-भानू।
राम सहज आनन्द-निधानू॥

अर्थ—राम का मुख देखकर और राजा की आज्ञा सुनाकर वे रघुकुल के दीपक राम को अपने साथ लिवा ले चले।

रघुवंश के मणि राम ने राजा दशरथ को वहाँ ऐसी बुरी दशा में पड़ा देखा, मानो कोई बूढ़ा गजराज किसी सिंहिनी को देखकर डर के मारे घबराकर ढह पड़ा हो।

सूर्य-वंश के सूर्य और स्वभाव से ही आनन्द के निधान राम मन-ही-मन मुस्कराए।

महारानी कैकेयी के एकान्त प्रकोष्ठ में मूर्च्छित महाराज दशरथ को देखते ही प्रधानमंत्री सुमंत को लगा कि रानी ने अवश्य कोई अनर्थ कर डाला है। उन्होंने कारण जानना चाहा किन्तु महारानी ने स्पष्ट झूठ का आश्रय लिया, "महाराज-श्री को रात्रि में निद्रा नहीं आई। कारण तो केवल ईश्वर को ज्ञात होगा। रात्रि में वे बार-बार राम का नाम रट रहे थे।" पूछने पर भी उन्होंने रहस्य प्रकट नहीं किया—"पहले राम को बुलाकर लाइए और तब आकर समाचार पूछिएगा":

परी न राजहिं नींद निसि, हेतु जान जगदीस।
राम राम रटि भोरु किय, कहइ न मरमु महीस॥

आनहु रामहिं बेगि बोलाई।
समाचार तब पूछिहु आई।।

कैकेयी प्रधान मंत्री के समक्ष वास्तविक रहस्य प्रकट नहीं करती हैं। उन्हें भय था कि चतुर राजनीतिज्ञ सुमन्त उनकी योजना को विनष्ट करने का प्रयास करेंगे। किन्तु राम को बुलाते हुए कैकेयी के मन में किसी भी प्रकार की आशंका का न होना स्वयं में अद्‌भुत-सा प्रतीत होता है। उन्होंने महाराजश्री से जो दो वरदान माँगे हैं उनसे सर्वाधिक हानि श्रीराम की होनी है। फिर भी यदि अयोध्या में कैकेयी किसी एक व्यक्ति के प्रति आश्वस्त थीं तो वे राम थे। इसका कारण राम के स्वभाव का ज्ञान था। बाल्यावस्था से लेकर अब तक राम उनके अत्यन्त प्रिय पात्र थे। वे राम के शील-संकोच का प्रतिक्षण अनुभव करती रही हैं। उन्हें लगा होगा कि भले ही राम बदल गए हों, पर बदलाव की भी एक सीमा होती है। मेरे समक्ष आकर राघव विद्रोही नहीं बन सकते। कुटिल मंथरा ने भी अपने आक्रमण का मुख्य केन्द्र 'राम' को नहीं बनाया था। उसे यह ज्ञात था कि कैकेयी चाहकर भी राम के प्रति समग्र भाव से अविश्वासिनी नहीं बन पावेंगी। अतः उसने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसके लिए सर्वाधिक उपयुक्त पात्र महारानी कौसल्या को चुना था। कौसल्या और कैकेयी सपत्नी थीं। सापत्न्य संघर्ष की गाथाओं से सारे इतिहास और पुराण भरे हुए हैं। 'सौतिया डाह' प्रसिद्ध है। मंथरा ने उनके उसी मर्मस्थल पर आक्रमण किया, "महारानी! आपके प्रति राजा के अधिक प्रेम ने अन्य रानियों को कितना आघात पहुँचाया होगा! यह बात और है कि कौसल्या ने चतुराई से गंभीरता की आड़ में अपनी ईर्ष्यावृत्ति को प्रकट नहीं होने दिया। पर वे इतनी कुशल हैं कि धैर्यपूर्वक अवसर की प्रतीक्षा करती रही हैं। उनके व्यवहार पर ध्यान दीजिए। बाल्यावस्था से ही उन्होंने राम को आपके अत्यन्त निकट रहने की प्रेरणा प्रदान की, यह भी उनकी दूरगामी योजना का एक अंग था। वे आपके मन में राम के प्रति स्नेह और वात्सल्य उत्पन्न कर विवाह में प्राप्त अधिकार को स्वेच्छा से अधिकार-त्याग की दिशा में प्रेरित करना चाहती थीं। इसमें वे सफल हुईं। भरत को अपने पास रखकर वे आपसे दूर बनाना चाहती थीं। श्रीभरत को ननिहाल भेजकर उन्होंने अपनी योजना को मूर्त रूप देना प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने महाराज के अन्तःकरण में यह भाव उत्पन्न करने में सफलता प्राप्त की कि राज्य के उपयुक्त अधिकारी राम ही होंगे। (फिर कैकेयी की दृष्टि में भी भरत की अपेक्षा राम का ही अधिक महत्त्व है।) श्रीभरत की इन विषयों में कोई आकांक्षा भी नहीं है। जो संकोच के कारण एक वाक्य भी न बोल सके, वह राज्य-संचालन में कैसे सफल होगा? आशंका केवल

भरत के ननिहाल से हो सकती है। ईश्वरीय प्रेरणा से ही इन दिनों भरत ननिहाल में हैं। उन्हें सूचना देने की कोई आवश्यकता नहीं है। एक बार अभिषेक हो जाने पर सब ठीक हो जायगा। इस तरह छल-प्रपंच से महाराज को अपनी ओर मिला लिया। राम भी राज्य की उपलब्धि के बाद माँ के प्रति कृतज्ञ होंगे। उन्हीं की इच्छा के अनुकूल चलने की चेष्टा करेंगे। अन्ततोगत्वा अपना अपना ही होता है। राम का अभिषेक होते ही भरत को कारागार में डाल दिया जाएगा (उन पर यह आरोप लगाया जाएगा कि वे ननिहाल में बैठकर अयोध्या राज्य के विरुद्ध षड्यंत्र रच रहे थे)। लक्ष्मण की सेवा के पुरस्कार में उन्हें युवराज बनाया जाएगा। तब कौसल्या आपसे सेवा लेकर अपने पुराने अपमान का प्रतिशोध लेंगी। मैं तो भविष्य की आशंका से ही संत्रस्त हूँ। आपको भी अपने भोलेपन का परित्याग करके भविष्य की सुरक्षा में संलग्न हो जाना चाहिए" :

प्रिय सिय राम कहा तुम्ह रानी।
रामहि तुम्ह प्रिय सो फुरि बानी।।
रहा प्रथम अब ते दिन बीते।
समउ फिरे रिपु होहिं पिरीते।।
भानु कमल कुल पोषनिहारा।
बिनु जल जारि करइ सोइ छारा।।
जरि तुम्हारि चह सवति उखारी।
रूँधहु करि उपाउ बर बारी।।
तुम्हहि न सोच सुहाग बल, निज बस जानहु राउ।
मन मलीन मुँह मीठ नृप, राउर सरल सुभाउ।।
चतुर गँभीर राम महतारी।
बीचु पाइ निज बात सँवारी।।
पठए भरत भूप ननिअउरे।
राम मातु मत जानब रउरे।।
सेवहिं सकल सवति मोहि नीके।
गरबित भरत मातु बल पीके।।
सालु तुम्हार कौसिलहि माई।
कपट चतुर नहिं होइ जनाई।।
राजहि तुम्ह पर पेमु बिसेषी।
सवति सुभाव सकइ नहिं देखी।।

रचि प्रपंचु भूपहि अपनाई।
राम तिलक हित लगन धराई।।
यह कुल उचित राम कहुँ टीका।
सबहि सुहाइ मोहि सुठि नीका।।
आगिलि बात समुझि डरु मोही।
देउ देव फिरि सो फलु ओही।।

मंथरा का मूल सूत्र यह था कि "इस षड्यंत्र की मूल-संचालिका तो कौसल्या हैं। राम तो एक कठपुतली की तरह कार्य कर रहे हैं।" इसीलिए कैकेयी को पूर्ण विश्वास था कि आज भी राम से उनके शील-संकोच का लाभ लिया जा सकता है। कदाचित् राम वन जाना अस्वीकार करें तो महाराज दशरथ पर यह छाप पड़ेगी कि राम उनके यश के लिए कोई बलिदान नहीं देना चाहते। वह केवल सत्ता के लोभी हैं। अतः दोनों ही दृष्टियों से राम को यहाँ बुला लेना श्रेयस्कर है।

वातावरण की प्रतिकूलता के कारण सुमंत भी कुछ कर सकने में स्वयं को असमर्थ पाते हैं। वे तत्काल जाकर श्रीराघवेन्द्र को उनके महल से बुला लाते हैं। श्रीरामभद्र ने वहाँ आकर जो कुछ देखा, वह उनके जीवन का प्रथम कटु अनुभव था। देखने का तो प्रश्न ही क्या, उन्हें इस प्रकार की गाथाओं के श्रवण का भी अवसर प्राप्त नहीं हुआ था। राघवेन्द्र सबके लाड़ले तो थे ही, उनके स्वभाव की कोमलता से भी प्रत्येक व्यक्ति परिचित था। इसलिए महाराजश्री का गुरुजनों से लेकर प्रत्येक व्यक्ति से यह अनुरोध था कि राम के समक्ष ऐसी कोई ऐतिहासिक गाथा भी न सुनाई जाए कि जिससे राम के हृदय पर किसी प्रकार का आघात लगे। इस तरह दुःख से राघव का यह पहला साक्षात्कार था :

राम सुमंतहि आवत देखा।
आदरु कीन्ह पिता सम लेखा।।
निरखि बदनु कहि भूप रजाई।
रघुकुल दीपहि चलेउ लेवाई।।
राम कुभाँति सचिव सँग जाहीं।
देखि लोग जहँ तहँ बिलखाहीं।।
जाइ दीख रघुबंस-मनि, नरपति निपट कुसाजु।
सहमि परेउ लखि सिंहनिहि, मनहु बृद्ध गजराजु।।
सूखहि अधर जरइँ सब अंगू।
मनहुँ दीन मनिहीन भुअंगू।।

सरुष समीप दीखि कैकेई।
मानहुँ मीचु घरी गनि लेई।।
करुनामय मृदु राम सुभाऊ।
प्रथम दीख दुख, सुना न काऊ।।

तात्त्विक दृष्टि से श्रीराघवेन्द्र साक्षात् 'सच्चिदानन्द-घन' ब्रह्म हैं। वहाँ दुःख का कोई प्रश्न ही नहीं था, किन्तु जिस मृत्युलोक में उनका आगमन हुआ था, उसका वर्णन शास्त्रों में 'दुःखालयमशाश्वतम्' कहकर ही किया गया है। यहाँ आकर भी यदि वे दुःख से परिचय प्राप्त न करते, तो उनका उद्देश्य अधूरा रह जाता। दुःख की परिस्थितियों से पृथक् रहकर आनन्दित रहना आश्चर्यजनक नहीं है, किन्तु दुःख और प्रतिकूलता में जीवन को कैसे जीना चाहिए, इसे प्रदर्शित करने की चुनौती मर्यादा-पुरुषोत्तम के समक्ष थी।

दुःख का सामना सब लोग एक ही प्रकार से नहीं करते। कुछ लोग उससे भागते हैं। बालि के भय से संत्रस्त सुग्रीव का जीवन-दर्शन इसी धारणा का प्रतीक है। सुग्रीव विपत्ति को देखकर भाग खड़ा होता है, क्योंकि उसमें बालि से लड़ने की सामर्थ्य नहीं थी। साथ ही इसके पीछे यह मनोभावना भी कार्य कर रही थी कि सम्भव है, यहाँ से दूर चले जाने पर दुःख का वहाँ अभाव हो, अथवा दुःख वहाँ तक न पहुँच सके। किन्तु उसका यह निष्कर्ष सही नहीं था। वह जहाँ भी जाता है, दुःख उसका पीछा करता है :

ताके भय रघुबीर कृपाला।
सकल भुवन मैं फिरेउँ बिहाला।।

यह दुःख की समस्या का समाधान नहीं है। दुःख सामने हो अथवा पीछे, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता; यह तो केवल दुःख से आँख चुराना-मात्र है। भगवान् राम से मित्रता होने पर उन्होंने सुग्रीव को भागने की नहीं, लड़ने की प्रेरणा दी। हो सकता है कि व्यक्ति अपनी सामर्थ्य से दुःख को परास्त न कर सके, किन्तु अपनी पूरी क्षमता भर लड़ लेने के पश्चात् उसे ईश्वर की सहायता प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त होता है। यही सुग्रीव के जीवन में हुआ :

बहु छल बल सुग्रीव करि, हिय हारा भय मानि।
मारा बालिहि राम तब, हृदय माझ सर तानि।।

बिरले लोग ऐसे भी होते हैं जो प्रतिकूलता और दुःख से भागते नहीं, उनसे संघर्ष करते हैं तथा उन्हें पराजित करने में समर्थ होते हैं। भर्तृहरि ने नीतिशतक

में तीन प्रकार के व्यक्तियों की कल्पना की है :

१. जो विघ्न के भय से कार्य का श्रीगणेश ही नहीं करते ।
२. उत्साह से आरम्भ करके भी विघ्न आते ही मार्ग से विरत हो जाते हैं ।
३. श्रेष्ठ महापुरुष बड़े-से-बड़ा विघ्न आने पर भी अपने लक्ष्य से विरत नहीं होते :

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नभिहता विरमन्ति मध्याः ।
विघ्नैः पुनःपुनरपि प्रतिहन्यमाना
प्रारभ्य उत्तम जनाः न परित्यजन्ति ।।

श्रीसीता के अन्वेषण में तत्पर बन्दरों में द्वितीय प्रकार की मनोवृत्ति का साक्षात्कार होता है । प्रारम्भ में वे अत्यन्त उत्साह से अभियान में सम्मिलित होते हैं :

चले सकल बन खोजत, सरिता सर गिरि खोह ।
राम काज लयलीन मन, बिसरा तन कर छोह ।।

किन्तु विघ्नों के आते ही वे समुद्र-तट तक पहुँचकर रुक जाते हैं और उनमें निराशा की भावना का संचार होता है । समुद्र की उत्ताल तरंगें उन्हें संत्रस्त कर देती हैं । उन्हें प्रतीत होता है कि इसे पार कर पाना असम्भव है । ऐसे लोगों का अन्तर्मन दुःख की कल्पना ऐसे सागर के रूप में करता है, जिसे पार नहीं किया जा सकता । कभी सती के अन्तःकरण में भी यही भावना जाग्रत हुई थी :

नित नव सोच सती उर भारा ।
कब जइहउँ दुख-सागर पारा ।।

किन्तु धन्य हैं वे लोग जिनका मनोबल भक्ताग्रगण्य श्रीहनुमान के समान है । वे न केवल समुद्र को पार कर लेते हैं अपितु प्रत्येक विघ्न से दो-चार होते हैं । वे स्वयं को परिस्थिति के अनुकूल परिवर्तित कर सकते हैं(कभी लघु, कभी विशाल) एवं समस्त विघ्न-बाधाओं को परास्त करके अन्त में अपने लक्ष्य तक पहुँचने में सफल होते हैं ।

पर भगवान् राम ने तो एक नया ही दर्शन प्रस्तुत कर दिया । अपरिचित दुःख से परिचय कराने का भार रामभद्र ने कैकेयी अम्बा को दिया । महाराजश्री की दशा को देखकर उन्हें आश्चर्य हो रहा था । उनके अगाध धैर्यशाली पिता आज पराजित प्रतीत हो रहे थे । म्लानता और दीनता उनकी प्रत्येक क्रिया में परि-

लक्षित हो रही थी। उन्हें देखकर प्रतीत होता था कि जैसे सिंहिनी के समक्ष वृद्ध गजराज आँख मूँदकर सहम गया हो। उनकी श्रीहीनता को देखकर ऐसा लग रहा था कि जैसे सर्प से मणि छीन ली गई हो। कैकेयी मूर्तिमती मृत्यु के समान महाराजश्री के समीप बैठी हुई थीं। उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता था कि जैसे मृत्यु-समय की गणना करती हुई प्राण ले जाने की प्रतीक्षा कर रही हो :

जाइ दीख रघुबंस मनि, नरपति निपट कुसाजु।
सहमि परेउ लखि सिंहनिहि, मनहुँ बृद्ध गजराजु॥
सूखहि अधर जरइँ सब अंगू।
मनहुँ दीन मनिहीन भुअंगू॥
सरुष समीप दीखि कैकेई।
मानहुँ मीचु घरी गनि लेई॥

राघवेन्द्र ने कैकेयी अम्बा से इस नवीन आगन्तुक दुःख का परिचय पूछा। यह अनिमंत्रित व्यक्ति (दुःख) किस कारण से आए हुए हैं ? श्रीराम ने माँ से यह भी जानना चाहा :

करुनामय मृदु राम सुभाऊ।
प्रथम दीख दुखु सुना न काऊ॥
तदपि धीर धरि समउ बिचारी।
पूछी मधुर बचन महतारी॥
मोहि कहु मातु तात दुख कारन।
करिअ जतन जेहि होइ निबारन॥

मानो प्रभु का यह अनुरोध था कि बालक को विश्व से परिचित कराने का भार तो माँ पर ही होता है। बालक माँ के दिए हुए परिचय और नामों से ही आगन्तुक को जानता है। इतने वर्षों तक जिनका आगमन नहीं हुआ था वे ये कौन हैं ? इन्हें देखकर पिताजी इतने अधिक व्यथित क्यों हो गए हैं ? (मुझे विश्वास है कि इस राजमहल में आपकी इच्छा के बिना कोई प्रविष्ट नहीं हो सकता। अवश्य ही यह आपसे पूर्व-परिचित होंगे, आपने इन्हें आमंत्रित किया होगा। आपके द्वारा आमंत्रित अतिथि को देखकर महाराजश्री संत्रस्त हो उठें, यह सर्वथा अस्वाभाविक है। अतः इस अनसुलझी पहेली को आप ही सुलझा सकती हैं) :

तदपि धीर धरि समउ बिचारी।
पूछी मधुर बचन महतारी॥

मोहि कहु मातु तात दुखु कारन।
करिअ जतन जेहि होइ निबारन ।।

कैकेयी ने दो टूक भाषा में दुःख का परिचय दिया, "राघवेन्द्र ! तुम्हारे पिता ने मुझे दो वरदान देने के लिए कहा था। मुझे जो प्रिय लगा, मैंने वह माँग लिया; किन्तु महाराजश्री तुम्हारे संकोच से इन दो वरदानों का स्वागत नहीं कर पा रहे हैं—एक ओर पुत्र-प्रेम है और दूसरी ओर सत्य। इस संकट की मनःस्थिति में उनकी रक्षा केवल तुम्हारे द्वारा ही हो सकती है। तुम मेरे आदेश का पालन कर उन्हें इस समस्या से छुटकारा दिला सकते हो" :

सुनहु राम सब कारन एहू।
राजहि तुम्ह पर बहुत सनेहू ।।
देन कहेन्हि मोहि दुइ बरदाना।
माँगेउ जो कछु मोहि सुहाना ।।
सो सुनि भयउ भूप उर सोचू।
छाँड़ि न सकइ तुम्हार सँकोचू ।।
सुत सनेह इत बचन उत, संकट परेउ नरेस।
सकहु त आयसु धरहु सिर, मेटहु कठिन कलेस ।।

किन्तु इस दुःख का परिचय पाते ही शीलनिधि राम ने उसका जैसा स्वागत किया, वह उनके ही अनुरूप था। बस, एकमात्र प्रभु ही दुःख का ऐसा स्वागत कर सकते थे। उन्होंने मुस्कराकर उसका स्वागत किया, उसे गले लगा लिया। कैकेयी अम्बा का विश्वास अपने बेटे पर से भले ही उठ गया हो, किन्तु पुत्र के अन्तःकरण में आज भी माँ के वात्सल्य के प्रति उतना ही प्रगाढ़ विश्वास था। उन्हें लगा, 'माँ अपने बालक को कोई भी बुरी वस्तु कैसे दे सकती है ? हाँ, मिष्टान्न देने वाली माँ आवश्यकता होने पर बालक की अस्वस्थता के निवारण के लिए कटु औषधि देने में संकोच नहीं करती। जो बालक केवल मिष्टान्न में माँ का स्नेह देखता है, वह माँ के वात्सल्य के प्रति न्याय नहीं करता।' यही सोचते-सोचते प्रभु का अन्तःकरण आह्लादित हो उठा। सत्य तो यह है कि जीवन में अनपेक्षित दुःख को देखकर व्यक्ति घबरा उठता है; किन्तु उसकी दृष्टि यदि इस ओर चली जाए कि इसे भेजने वाला कौन है, तो सम्भव है कि उसके अधरों पर वही हँसी खेल उठे जो राघवेन्द्र की मुखाकृति पर थिरक उठी थी :

मन मुसुकाइ भानुकुल - भानू।
रामु सहज आनन्द - निधानू ।।

ऐसे अवसर पर मुस्कराना 'भानुकुल-भानु' के लिए स्वाभाविक था—सूर्य का तो स्वभाव है मुस्कराना, प्रकाश बिखेरना। इसके पहले कवि ने श्रीराम को दीपक और मणि के रूप में स्मरण किया है :

निरखि बदन कहि भूप रजाई।
रघुकुल-दीपहि चले लेवाई।।
× ×
जाइ दीख रघुबंस-मनि, नरपति निपट कुसाज।

दीपक द्वारा भवन के प्रकोष्ठ प्रकाशित होते हैं। अपने वंश में जब कोई यशस्वी व्यक्ति जन्म लेता है, तब लोगों को अंधकारमय भविष्य की आशंका से मुक्ति मिल जाती है। कुल-दीपक कहकर उसे सम्मान देते हैं। व्यक्ति दीपक की ही भाँति स्नेह से प्रकाश की क्षमता प्राप्त करता है। श्रीरामभद्र को भी प्रारम्भ में रघुकुल-दीप के रूप में देखा गया। दीपक के लिए स्नेह चाहिए, सुरक्षा चाहिए। तेल के अभाव में दीप जलेगा नहीं, आँधी में बुझ जाएगा। प्रारम्भ में राघव को प्रधान मंत्री के साथ अस्वाभाविक अवस्था में जाते देखकर पुरवासी प्रतिकूल कल्पनाओं से व्यथित हो उठे। कहीं कोई झंझावात इस स्नेह-युक्त दीपक को बुझाने तो नहीं जा रहा है ?

किन्तु बाद में लगा, इन्हें पहिचानने में उनसे भूल हुई है। यह तो 'रघुवंश-मणि' हैं, जिन्हें अपने प्रकाश की सत्ता या वैभव के निमित्त स्नेह (तेल) की कोई अपेक्षा नहीं है। यह प्रबल झंझावात में भी बुझने वाला नहीं है। प्रतिकूल परि-स्थितियाँ इन्हें विचलित कर पाने में समर्थ नहीं हो सकतीं। फिर भी मणि की अपनी सीमाएँ हैं। बुझने की सम्भावना न होने पर भी मणि चोरी जा सकती है, उसे ढका जा सकता है। मणि की शोभा भी सर्वत्र नहीं होती, उसके लिए उपयुक्त स्थान चाहिए :

मनि मानिक मुकुता छबि जसी।
अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी।।
नृप किरीट तरुनी तनु पाई।
लहहिं सकल सोभा अधिकाई।।

गीतावली रामायण में गोस्वामीजी ने श्रीराम-रूप मणि के चोरी जाने का उल्लेख किया है। महाराज श्रीदशरथ एक पथिक के समान थे, जिनके पास राम-रूप मणि विद्यमान थी। किन्तु हत्यारे चोर के समान 'कर्म' महाराज श्रीदशरथ की हत्या कर, राम-रूप रत्न को ले भागता है।

करम चोर नृप पथिक मारि मानो राम रतन लै भागौ।

किन्तु क्या वस्तुतः राम मणि हैं ? और उन्हें पाने के बाद भी चोरी जाने का भय बना रहता है ? कवि अपनी इस धारणा में भी संशोधन करता है, और उन्हें तृतीय नाम प्रदान करता है, यह नाम 'भानुकुल-भानु' है। दीपक और मणि के बाद सूर्य की उपाधि में क्रमशः विकास तो है ही, किंतु पहले दो विशेषणों में जहाँ कुल का नाम 'रघुकुल' था, अब उसे 'भानुकुल' के रूप में स्मरण किया गया, इससे इस उपाधि में और भी चमत्कार पैदा हो गया। सूर्य वैसे भी अन्धकार दूर करने वाला है। इस वंश में उत्पन्न सभी राजा दीप्तिमान् थे, किन्तु श्रीराम तो प्रकाशित सूर्य-वंश के भी प्रकाशक हैं। दीपक और मणि अन्धकार में प्रकाशित होते हैं, दिन में इनकी शोभा समाप्त-सी हो जाती है :

श्रीहत भए भूप धनु टूटे।
जैसे दिवस दीप छबि छूटे॥

सूर्य अन्धकार को दूर करता है। किन्तु 'भानुकुल-भानु' प्रकाशक सूर्य के भी प्रकाशक हैं—इन्हें परम प्रकाशक कह सकते हैं। भगवान् शंकर उनकी वन्दना परम प्रकाशक के रूप में करते हैं :

बिषय करन सुर जीव समेता।
सकल एक तें एक सचेता॥
सब कर परम प्रकासक जोई।
राम अनादि अवधपति सोई॥
जगत प्रकास्य प्रकासक रामू।
मायाधीस ग्यान गुन धामू॥

दीपक और मणि में अपूर्णता है। सूर्य उनकी तुलना में पूर्णता का प्रतीक माना जाता है। किन्तु वहाँ भी काल-सापेक्षता तो है ही। दीपक व्यक्ति-सापेक्ष है—बिना व्यक्ति के जलाए वह नहीं जल सकता। देश-सापेक्षता भी उसमें है, वह वायु से सुरक्षित स्थान में जलता है। कक्ष के बाहर आते ही बुझ जाता है। प्रेमकी दीपक से तुलना करते हुए कवि ने कहा, "प्रेम भी दीपक की भाँति हृदय-मन्दिर में रहने पर प्रकाश देता है। किन्तु मुख के द्वार से बाहर निकलते ही वह या तो बुझ जाता है या उसका प्रकाश क्षीण हो जाता है" :

प्रेमाद्द्वयो रसिकयोरपि दीप एव
हृद्व्योम भासयति निश्चलमेव भाति।

द्वारादयं वदनतस्तु बहिर्गतश्चेत्।
निर्वाति दीपमथवा लघुतामुपैति ।।

जब दीपक काल-सापेक्ष है तो उसके बुझने के अनेक कारण हो सकते हैं। तेल समाप्त होने पर अथवा झंझावात के प्रबल प्रवाह से वह विनष्ट हो जाता है। माणि में व्यक्ति-सापेक्षता नहीं है, क्योंकि उसके प्रकाश के लिए 'दिया-घृत-बाती' की आवश्यकता नहीं है, किन्तु उसमें भी देश-सापेक्षता विद्यमान है। उचित स्थान में ही वह शोभा पाती है। समय के अन्तराल से भी उसके सौंदर्य में कुछ पार्थक्य प्रतीत होता है। सूर्य व्यक्ति और देश दोनों से निरपेक्ष है। उसे स्वयं के प्रकाश के लिए किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं, वह किसी देश-विशेष में प्रकाशित नहीं होता, अपितु वही देश को प्रकाशित करता है :

तहइँ दिवस जहँ भानु प्रकासू।

किन्तु सूर्य भी सर्वथा निरपेक्ष नहीं है, उसमें काल की अपेक्षा दिखायी देती है। वह भी प्रतिदिन तीन परिवर्तित रूपों में दर्शन देता है। प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल के समय सूर्य परिवर्तित रूप में हमारे समक्ष आता है। किसी कवि ने "दिनकर की तीन दशा होतीं एक दिन में" कहकर काल के गौरव की याद दिलायी है। पर प्रभु तो व्यक्ति, देश और काल तीनों से ही निरपेक्ष हैं। इसलिए उन्हें 'सूर्य का भी सूर्य' कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। 'भानुकुल-भानु' में यही संकेत किया गया है।

इसी पंक्ति में उन्हें "राम सहज आनन्द-निधानू" की उपाधि भी प्रदान की गई है। आनन्द की सहजता भी निरपेक्षता पर ही आधारित है। व्यक्ति को जीवन में जिन आनन्दों की अनुभूति होती है वे सभी व्यक्ति, देश और काल की सीमाओं से परिच्छिन्न हैं। इसीलिए न तो वे सहज हैं और न ही पूर्ण। किन्तु रामभद्र को अपने आनन्द के लिए तीनों में से किसी की अपेक्षा नहीं है। यदि उन्होंने अपने आनन्द के लिए यह मान लिया होता कि वह कैकेयी की कृपा पर ही आधारित हैं, तब आज उनकी क्या दशा होती ? आज तो कैकेयी प्रतिशोध की भावना से भरी हुई हैं, उन्हें दुःख पहुँचाना ही कैकेयी का लक्ष्य है। किन्तु वे तो 'सहजानन्द' हैं—कोई व्यक्ति अपनी क्षमता से उन्हें दुःख नहीं पहुँचा सकता। यदि उन्होंने यह मान्यता स्वीकार कर ली होती कि आनन्द तो अयोध्या में समाया हुआ है, तब अयोध्या-निष्कासन का समाचार उन्हें घोर पीड़ा पहुँचाने में समर्थ हो जाता। किन्तु 'सहजानन्द' श्रीराम ने अयोध्या को मार्ग में पड़ने वाली एक 'धर्मशाला' मात्र समझा। इसीलिए वे सहज भाव से क्षण-भर में अयोध्या को

छोड़कर चले गए। कवितावली रामायण में तुलसी ने इसका एक बड़ा ही मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है :

कागर कीर ज्यों भूषन चीर सरीरु लस्यो तजि नीरु ज्यों काई।
मातु-पिता प्रिय लोग सबै सनमानि सुभाय सनेह सगाई।।
संग सुभामिनि, भाइ भलो, दिन द्वै जनु अवध हुते पहुनाई।
राजिवलोचन राम चले तजि बाप कौ राजु बटाऊ की नाईं।।

और सारे अयोध्यावासी उस मङ्गलमय काल के स्वागत के लिए व्यग्र हो रहे थे जो श्रीराम को राज्याभिषिक्त करने के लिए निश्चित किया गया था :

कालि लगन भल केतिक बारा।
पूजिहि बिधि अभिलाषु हमारा।।
कनक सिंहासन सीय समेता।
बैठहिं रामु होइ चित चेता।।

यदि भगवान् राम भी उस काल को ही आनन्द का केन्द्र मान लेते, तब उन्हें वह घड़ी कितना आघात पहुँचाती? किन्तु 'सहजानन्द' श्रीराम आनन्द को कल के लिए क्यों टालते? उनका आनन्द तो स्वयं उनके पास है। वे न केवल 'सहजानन्द' हैं, अपितु 'सहजानन्द-निधान' हैं। वे उसका निरन्तर वितरण करते रहते हैं। जो भी चाहे, उनसे यह सहजानन्द पा सकता है। इसीलिए वे घोषणा करते हैं, "मेरे दर्शन का यह अनुपम फल है कि व्यक्ति अपने सहज स्वरूप को प्राप्त कर लेता है" :

मम दरसन फल परम अनूपा।
जीव पाव निज सहज सरूपा।।

इस फल को अनुपम कहना सर्वथा सार्थक है। जब भी व्यक्ति किसी उदार पुरुष का दर्शन करता है तब उसे यह विश्वास रहता है कि उसे कुछ-न-कुछ प्राप्त होगा। किन्तु प्रभु दर्शन देने के बाद ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देना चाहते हैं कि जिससे उस व्यक्ति को संसार से तो क्या, स्वयं प्रभु से भी कुछ पाने की आवश्यकता न रह जाए। वे यह नहीं कहते कि "मैं महान् हूँ, तुम मुझसे माँगो?" वे तो उस व्यक्ति को यह बताना चाहते हैं—"तुम्हारे पास आनन्द का स्वयं इतना बड़ा कोष है कि उसके होते हुए किसी से कुछ लेने की आवश्यकता ही नहीं है" :

आनँद सिंधु मध्य तव बासा।
बिनु जाने कस मरत पिआसा।।

।। श्रीरामः शरणं मम ।।

बोले बचन बिगत सब दूषन।
मृदु मञ्जुल जनु बाग बिभूषन ॥
सुनु जननी सोइ सुत बड़भागी।
जो पितु मातु बचन अनुरागी ॥
तनय मातु पितु तोषनिहारा।
दुर्लभ जननि सकल संसारा ॥
मुनि गन मिलन बिशेष बन, सबहिं भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि, सम्मत जननी तोर ॥

अर्थ—श्रीराम दोष-रहित, कोमल और मधुर वचन बोले, जो मानो वाणी के श्रृंगार ही हों—"सुनो माता! बड़भागी पुत्र वही है, जो पिता-माता के वचनों का पालन करता है। देखो माँ! अपने माता और पिता को प्रसन्न रखने वाला पुत्र संसार में कोई बिरला ही मिलता है। मुझे तो सबसे बड़ा लाभ प्राप्त होगा कि वन में बड़े-बड़े मुनियों से भेंट होगी। उस पर पिता की आज्ञा है और माताश्री! आपकी भी सम्मति है।"

न्यायशास्त्र शब्द को आकाश का गुण मानता है—"शब्दगुणकमाकाशम्।" सृष्टि के सृजन में जिन पंच-तत्त्वों का नाम लिया जाता है उनमें सर्वप्रथम आकाश है। इसका तात्पर्य है—"अभिव्यक्ति का श्रींगणेश ही शब्द से हुआ।" व्यावहारिक विश्व में व्यक्ति के सामीप्य और परिचय का मुख्य माध्यम भी वाणी और भाषा ही है। इसलिए वाणी को यदि सृष्टि-स्रष्टा ब्रह्मा की शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया तो यह सर्वथा उचित ही है।

भाव-सृष्टि के रचयिता कवि, रचना के प्रारम्भ में, बहुधा वीणा-पाणि का आह्वान करते हैं। गोस्वामीजी ने भी इस परम्परा की उपेक्षा नहीं की है। इस प्रार्थना का तात्पर्य है—माँ से शब्द-सामर्थ्य के सही उपयोग की प्रार्थना। शब्द का सम्यक् प्रयोग जहाँ मंगलकारी होता है, वहाँ वाणी का दुरुपयोग संघर्ष और

द्वेष की सृष्टि करता है। पर बिरले ही व्यक्ति वाणी पर संयम रख पाते हैं। जिह्वा जैसे भोजन-ग्रहण में असंयमी है, वैसे ही वाणी का प्रयोग करते हुए भी वह अपने असंयम का ही परिचय देती है। उस समय सम्भवतः उसे ध्यान भी नहीं आता कि भोजन के स्वाद की अनुभूति तो उसे होती है, पर स्वयं उसके द्वारा परोसे हुए वाक्यों के स्वाद का पता तो दूसरों को ही लग पाता है। उचित तो यह है कि भोजन ग्रहण करते समय जैसे हमारी इच्छा होती है कि हमें "हमारी रुचि का ही भोजन दिया जाय," उसी तरह शब्दों का प्रयोग करते हुए हमें दूसरों की रुचि का ध्यान रहना चाहिए। किन्तु बिरले व्यक्ति ही इस प्रकार के सद्-विवेक का परिचय देते हैं।

भगवान् राम के ईश्वरत्व को अलग रखकर देखने पर भी उनके दिव्य गुण व्यक्ति को हठात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। जन-समाज में उनके प्रति जो आकर्षण था, वह ईश्वरत्व का परिणाम न होकर उनके इन्हीं व्यवहारों का था। गोस्वामीजी कहते हैं, "वैरी भी राम की सराहना करते हैं। उनका बोलना-चलना सभी तो मन को अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं" :

बैरिउ राम बड़ाई करहीं।
बोलनि चलनि बिनय मन हरहीं ॥

इसमें भी प्रथम स्थान 'बोलनि' को ही प्राप्त है। वस्तुतः दूसरों को आकृष्ट करने में वाणी की ही प्रधानता है। शत्रुओं की संख्या वृद्धि करने वाली भी वाणी ही है।

लेख के प्रारम्भ में उद्धृत पंक्ति में श्रीरामभद्र की वाणी को "बिगत सब दूषन" बताया गया है। वाणी के दोषों पर विचार करते हुए सर्वप्रथम वाग्देवी की मूर्ति पर ध्यान जाता है। शक्ति के अधिकांश रूपों में उनके हाथ में किसी-न-किसी प्रकार के शस्त्र का दर्शन अवश्य होता है। दुर्गा तो अनेक अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित हैं, किन्तु देवी सरस्वती के चार हाथ होते हुए भी शस्त्र का सर्वथा अभाव है। इसका तात्पर्य है, वाग्देवी का कार्य किसी पर आक्रमण करना नहीं है। अतः जो लोग अपनी वाणी के द्वारा किसी को आघात पहुँचाते हैं, वे वीणा-पाणि से स्वर-संधान के स्थान पर शर-संधान कराते हैं। इससे बढ़कर वाणी का कोई दुरुपयोग नहीं हो सकता। यद्यपि यह सत्य है कि स्वर बाण से भी अधिक नुकीला सिद्ध होता है। वाणी के द्वारा हृदय पर जो चोट लगती है, वह मारती भले ही न हो, पर वह व्यक्ति को जीवन-भर सालती रहती है। क्योंकि हृदय में पैठा हुआ बाण निकाला जा सकता है, पर प्रविष्ट हुए शब्दों को निकाल पाना असम्भव है :

कहते न बनै, सहते ही बनै,
मन ही मन पीर पिरैबो करै ॥

इसीलिए गोस्वामीजी कटुभाषी व्यक्ति की जिह्वा की तुलना धनुष से करते हैं। जिह्वा की कमान से शब्द के बाण छूट रहे हैं। कैकेयी द्वारा प्रयुक्त वाक्यों के लिए इसी भाषा का प्रयोग किया गया है :

जीभ कमान बचन सर नाना।
मनहुँ महिप मृदु लच्छ समाना ॥
जनु कठोरपन धरे सरीरू।
सिखइ धनुष बिद्या बर बीरू ॥

इन वाग्-बाणों ने महाराजश्री को मर्मान्तक पीड़ा ही नहीं पहुँचाई, उनके प्राण ही ले लिए। किन्तु प्रहारात्मकता भी कई प्रकार की होती है। परशुराम वाग्-बाण के स्थान पर वाग्-वज्र का प्रहार करते हैं। बाण और वज्र प्रहारात्मकता में तो समान ही हैं, किन्तु बाण का चलाना कला है। तरकस में छिपे हुए तीरों को निकालकर उनको धनुष पर चढ़ाना, प्रत्यञ्चा को खींचना, फिर लक्ष्य पर फेंकते हुए यह निर्णय करना कि विरोधी के किस अंग पर आघात करना है, यह सब सरल नहीं है। धनुर्विद्या को किसी गुरु से सीखना पड़ता है। कैकेयी ने मन्थरा से मह शिक्षा प्राप्त की थी :

जनु कठोरपन धरे सरीरू।
सिखइ धनुष बिद्या बर बीरू ॥

अंगद-रावण के वार्तालाप में यह कला अपने चरम उत्कर्ष पर है। यद्यपि दोनों ने इसका प्रयोग किया, किन्तु अंगद कुछ बीस ही पड़े। एक स्थिति आई जब रावण अंगद पर प्रहार करने के स्थान पर हृदय में घुसे हुए बाणों को निकालने का प्रयास करने लगा। उस समय रावण के वाक्यों की तुलना सँड़सी से की गई। अंगद ने वार्तालाप में अनेक वक्रोक्तियों का प्रयोग किया, तीर नुकीले और टेढ़े थे। रावण प्रत्युत्तर की सँड़सी से उन्हें निकालना चाहता है :

बक्र उक्ति धनु बचन सर, हृदय दहेउ रिपु कीस।
प्रति उत्तर सड़सिन्ह मनहुँ, काढ़त भट दससीस ॥

किन्तु वज्र के प्रहार में किसी कला का प्रश्न नहीं है। जहाँ पर आक्रमण के लिए व्यंग्य-विनोद-कटाक्ष का प्रयोग होता है वहाँ वह बाण की तरह है। किन्तु

जहाँ सीधा शाब्दिक आक्रमण किया जाता है, वहाँ वह वज्र है। परशुराम की वाणी में सीधा आक्रमण है। वे निस्संकोच खल, सठ, जड़ आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं। वे जनक-जैसे महापुरुष को सीधे 'जड़' (मूर्ख) कहकर संबोधित करते हैं :

अति रिस बोले बचन कठोरा।
कहु जड़ जनक धनुष केहि तोरा॥
बेगि देखाउ मूढ़ न तु आजू।
उलटउँ महि जहँ लगि तव राजू॥

श्रीलक्ष्मण के प्रति उनके आक्रोश का तो कहना ही क्या? ऐसा कोई कटु शब्द नहीं रहा होगा जिसका प्रयोग उन्होंने लक्ष्मण के विरुद्ध न किया हो। उनसे तो वार्तालाप का श्रीगणेश ही 'रे' से हुआ :

रे नृप बालक काल बस, बोलत तोहि न सँभार।
धनुहीं सम त्रिपुरारि धनु, बिदित सकल संसार॥

× ×

बोले चितइ परसु की ओरा।
रे सठ सुनेसि सुभाउ न मोरा॥
बालकु बोलि बधउँ नहिं तोही।
केवल मुनि जड़ जानहि मोही॥

× ×

कौसिक सुनहु मंद यह बालक।
कुटिल कालबस निज कुल घालक॥
भानुबंस राकेस कलंकू।
निपट निरंकुस अबुध असंकू॥

× ×

सहसबाहु भुज छेदनिहारा।
परसु बिलोकु महीप कुमारा॥
मातु पितहि जनि सोचबस, करसि महीस किसोर।
गर्भन्ह के अर्भक दलन, परसु मोर अति घोर॥

बाद में तो वे श्रीराम पर भी क्रुद्ध स्वर में प्रहार करने लगे :

बंधु कहइ कटु सम्मत तोरे।
तू छल बिनय करसि कर जोरे॥

करु परितोष मोर संग्रामा।
नाहिं त छाड़ु कहाउब रामा॥
छल तजि करहि समर सिवद्रोही।
बंधु सहित न तु मारउँ तोही॥

इसीलिए श्रीलक्ष्मण ने उनसे विनोदपूर्वक कहा, "आपका तो वाक्य ही कोटि-कोटि वज्रों के समान भयानक है। आप व्यर्थ ही परशु और धनुष का बोझ ढो रहे हैं" :

कोटि कुलिस सम बचन तुम्हारा।
ब्यर्थ धरहु धनु बान कुठारा॥

गोस्वामीजी ने परशुराम के भाषण को 'बकना' कहकर उनकी असाधारण आलोचना की :

भृगपति बकहिं कुठार उठाए।
मन मुसुकाहिं राम सिर नाए॥

विचारहीन वाणी का प्रयोग वाणी का द्वितीय दोष है। क्योंकि ब्रह्मा बुद्धि के देवता हैं :

अहंकार सिव बुद्धि अज, मन ससि चित्त महान।
मनुज बास सचरचार, रूप राम भगवान॥

सरस्वती ब्रह्मलोक-वासिनी हैं। जहाँ विचार है, वहीं सरस्वती का निवास है। अतः जब कोई विचारहीन होकर बोलना चाहता है, तब सरस्वती की सहायता उसे प्राप्त नहीं होती। भगवान् शंकर का निर्देश तो यह है कि तीन प्रकार के व्यक्तियों की वाणी को निरर्थक मानकर उसकी उपेक्षा कर देनी चाहिए। वे हैं—१. वातरोग-ग्रस्त, २. भूत-ग्रस्त, ३. एवं मदोन्मत्त :

बातुल भूत बिबस मतवारे।
ते नहिं बोलहिं बचन बिचारे॥
जिन्ह कृत महा मोह मद पाना।
तिन्ह कर कहा करिअ नहिं काना॥

वातरोग-ग्रस्त व्यक्ति चुप नहीं रह पाता क्योंकि उस समय रोगी के मस्तिष्क-तन्तु विचारशून्य हो जाते हैं। इसीलिए उसके वाक्यों में परस्पर कोई संगति नहीं

होती। यह सम्भव है कि बात-रोगी के मुख से कोई उत्कृष्ट श्लोक उच्चरित होने लगे, किन्तु उसके द्वारा उच्चरित वाक्य को योग्यता का माप-दण्ड मानते ही व्यक्ति ठगा जाएगा—वह तो 'प्रलाप' है।

भूतग्रस्त व्यक्ति की स्थिति और भी विचित्र होती है। मान्यता यह है कि अतिवाहिक शरीर के कारण भूत अपनी तृप्ति के लिए किसी अन्य शरीर का आश्रय ग्रहण करता है। क्योंकि वह अपने वायु-प्रधान शरीर से गति में तीव्रता तो पा लेता है किन्तु इन्द्रियों की असमर्थता से वह भोगों के लिए अन्य व्यक्तियों पर ही आश्रित होता है। ऐसी स्थिति में जब प्रेत किसी व्यक्ति के शरीर में प्रविष्ट होता है, उस समय स्वर और मुख व्यक्ति का ही प्रतीत होने पर भी वस्तुत: वह भूत की वाणी होती है। उस वाणी को व्यक्ति की वाणी मानकर महत्त्व देना निरर्थक है।

कुछ लोग जब सुरा पीकर उन्मत्त हो जाते हैं, उस समय उनके स्वर से सुरा बोलती है। ऐसी स्थिति में उनके वाक्यों में अर्थ ढूँढ़ना या उनके किसी वाक्य से अपने को अपमानित अनुभव करना हास्यास्पद है। वातरोग-ग्रस्त व्यक्ति शारीरिक रोग से संत्रस्त होता है। वाणी शरीर के माध्यम से ही प्रकट होती है। मुख भले ही यन्त्र हो किन्तु यन्त्र की खराबी भी सार्थक वाक्य को निरर्थक बना देती है। दुर्बल मन वाले व्यक्ति ही बहुधा भूताविष्ट होते हैं। शराब पीकर व्यक्ति में बुद्धि-विभ्रम उत्पन्न हो जाता है। कटु और प्रहारात्मक भाषण के पीछे व्यक्ति का अहंकार सक्रिय होता है। इसलिए दोष-शून्य वाणी के लिए यह आवश्यक है कि वक्ता अहंकारशून्य हो तथा शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक दृष्टि से स्वस्थ हो। इनमें से व्यक्ति में किसी-न-किसी प्रकार की न्यूनता रह ही जाती है। अत: सृष्टि में सर्वथा निर्दोष वाणी का प्रयोग मिलना असंभव-सा ही प्रतीत होता है। भगवान् राम की वाणी इन समस्त दोषों से मुक्त है।

किन्तु गोस्वामीजी इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हो जाते। पंक्ति के अगले वाक्य में वे प्रभु की वाणी की विशेषताओं का वर्णन करते हैं :

मृदु मंजुल जनु वाग बिभूषण।

श्रीराम की वाणी कोमल है। इस मृदुता का महत्त्व तब और बढ़ जाता है जब व्रह कैकेयी के वाक्यों के उत्तर में प्रयुक्त होती है। गोस्वामीजी की दृष्टि में "कठोरता ही सशरीर होकर कैकेयी के रूप में परिणत हो गई है" :

जनु कठोर पन धरे सरीरू।
सिखइ धनुष बिद्या बर बीरू॥

उन्हें दशरथ और कैकेयी के सम्वाद में प्रीति और कठोरता के दो चरम बिन्दु प्रतीत होते हैं :

भूप प्रीति कैकयी कठिनाई।
उभय अवधि बिधि रची बनाई॥

कैकेयी की वाणी की तुलना "वचन भयंकर बाज" से की गई है।

भूप मनोरथ सुभग बन, सुख सुबिहंग समाज।
भिल्लिनि जिमि छाड़न चहत, बचन भयंकर बाज॥

कैकेयी के वचनों के लिए बाज की उपमा बाण और वज्र की अपेक्षा अधिक सार्थक है। बाण और वज्र का प्रहार सामने से होता है; किन्तु आकाश से उतर कर बाज कब अपने पंजे का प्रहार करेगा, इसे कौन पक्षी जान सकता है ? कैकेयी की ओर से यह आक्रमण भी सर्वथा आकस्मिक और कल्पनातीत था। महाराज तो उन्हें मधुभाषिणी कोकिला के रूप में ही जानते थे :

बार-बार कह राउ, सुमुखि सुलोचनि पिक-बचनि।
कारन मोहि सुनाउ, गजगामिनि निज कोप कर॥

यह कोकिला बाज कैसे बन गई, इसे श्रीदशरथ नहीं समझ पाए। उन्होंने कैकेयी को प्रसन्न करने के लिए क्या नहीं किया ? पर कैकेयी तो प्रतिक्षण एक नये रूप में सामने आ रही थी। कभी मतवाली हस्तिनी, तो कभी सिंहिनी, तो अगले ही क्षण क्रुद्ध सर्पिणी :

मोर मनोरथ सुर तरु फूला।
फरत करिनि जनु हतेउ समूला॥

× ×

केहि हेतु रानि रिसानि परसत पानि पतिहिं निवारई।
मानहुँ सरोष भुअंग भामिनि बिसम भाँति निहारई॥
दुहुँ वासना रसना दसन बर मरम ठाहरु देखई।
तुलसी नृपति भबितब्यताबस काम कौतुक लेखई॥

× ×

जाइ दीख रघुबंस मनि, नरपति निपट कुसाजु।
सहमि परेउ लखि सिंहनिहि, मनहुँ बृद्ध गजराजु॥

इस बदलते हुए रूप को देखकर भयभीत महाराज आँखें मूँद लेते हैं :

माथे हाथ मूँदि दोउ लोचन।
तनु धरि सोच लाग जनु सोचन ॥

किन्तु उन्हीं कैकेयी के समक्ष रामभद्र मुस्कराते हुए खड़े हैं—वही मृदुता, वही हँसी, जिसे कैकेयी ने सदा राम के मुख पर देखा था, आज भी विद्यमान थी। किन्तु यह मृदुता वह है जो वज्र के प्रहार को भी झेल सकती है। कैकेयी की वज्र-वाणी के आघात से अयोध्या का प्रत्येक नागरिक घायल हो गया। महाराज श्रीदशरथ के प्राण चले गए। पर इस वाक्-वज्र का प्रभाव जिस पर सबसे अधिक पड़ना चाहिए था, वह ज्यों-का-त्यों आनन्द से मुस्कराता हुआ, अविचल भाव से खड़ा था। इस मृदुता के समक्ष वज्र भी पराजित हो जाता है।

ऐसी वाणी का सौन्दर्य कभी म्लान नहीं पड़ता। यद्यपि सुन्दरता चिरस्थायी वस्तु नहीं है। वह भी काल-क्रम से म्लान पड़ जाती है। वाणी का सौन्दर्य भी इसी श्रेणी में आता है। सभा-मंच पर वक्ता की वाणी के सौन्दर्य से अनगिनत लोग मुग्ध हो जाते हैं। शब्दों का संयोजन, यमकअलंकार की छटा, प्रतिपादन की शैली किसे आकृष्ट नहीं कर लेती है। पर यथार्थ जीवन में उसी व्यक्ति की वाणी सुन-कर लगता है जैसे सौन्दर्य-प्रसाधनों के द्वारा अब तक किसी कुरूपा को ही सजा दिया गया था। रंग-रोगन उतरते ही वास्तविकता सामने आ जाती है। अनुकूल परिस्थति में सुसंस्कृत वाणी बोलने वाला भी प्रतिकूलता में अनर्गल वाक्यों का प्रयोग करने लग जाता है। महाराज दशरथ कैकेयी से वार्तालाप करते हुए प्रारंभ में रससिक्त वाणी का प्रयोग करते हैं। एक-एक शब्द श्रृंगार की भावना से ओत-प्रोत है :

बार-बार कह राउ, सुमुखि सुलोचनि पिकबचनि।
कारन मोहि सुनाउ, गजगामिनि निज कोप कर ॥
अनहित तोर प्रिया केहि कीन्हा।
केहि दुइ सिर केहि जमु चह लीन्हा ॥
कहु केहि रंकहि करौं नरेसू।
कहु केहि नृपहि निकासौं देसू ॥
सकउँ तोर अरि अमरउ मारी।
काह कीट बपुरे नर नारी ॥
जानसि मोर सुभाउ बरोरू।
मनु तव आनन चन्द चकोरू ॥
परिजन प्रजा सकल बस तोरे।
प्रिया प्रान सुत सरबस मोरे ॥

जौं कछु कहौं कपटु करि तोही।
भामिनि राम सपथ सत मोही।।
बिहँसि मागु मन भावति बाता।
भूषन सजहि मनोहर गाता।।
घरी कुघरी समुझि जिय देखू।
बेगि प्रिया परिहरहि कुबेषू।।

किन्तु कैकेयी की क्रूरता ने महाराज को कठोर भाषा के प्रयोग के लिए बाध्य किया :

तोर कलंक मोर पछिताऊ।
मुएहुँ न मिटिहि न जाइहि काऊ।।
अब तोहि नीक लाग करु सोई।
लोचन ओट बैठु मुहु गोई।।
जब लगि जिऔं कहउँ कर जोरी।
तब लगि जनु कछु कहसि बहोरी।।
फिरि पछितैहसि अंत अभागी।
मारसि गाय नहारू लागी।।

किन्तु कैकेयी के वाक्य सुनकर रामभद्र की भाषा का सौन्दर्य क्रमशः बढ़ता ही जाता है। वार्तालाप के प्रारम्भ में प्रभु ने कैकेयी के लिए 'जननी' शब्द का प्रयोग किया। कैकेयी विमाता हैं। उन्हें प्रभु ने माँ नहीं, जननी कहकर पुकारा। जननी का अर्थ है, 'जन्म देने वाली'। रामभद्र की जननी कौसल्या हैं। कैकेयी श्रीराम की जननी कहलाना चाहती थीं, किन्तु उनकी दृष्टि में यह अगले जन्म में ही संभव था। अतः सारे संघर्ष के मूल में 'जननी' शब्द ही तो था। कैकेयी की दृष्टि में इस समय यदि राम का कोई अपराध था तो यही कि वे कौसल्या के पुत्र हैं। कैकेयी के मन में कौसल्या से बदला लेने की भावना कार्य कर रही थी :

जस कौसिला मोर भल ताका।
तस फल उन्हहि देउ करि साका।।

प्रभु के द्वारा जननी शब्द के प्रयोग का तात्पर्य ही यह था कि मैं तो आपको ही अपनी जननी मानता हूँ। तात्त्विक दृष्टि से प्रभु का जन्म साधारण व्यक्तियों की भाँति नहीं होता। इसीलिए वे कौसल्या अम्बा के समक्ष प्रकट होते हैं :

सुख जुत कछुक काल चलि गयऊ।
जेहि प्रभु प्रगट सो अवसर भयऊ।।

भए प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या - हितकारी।
हरषित महतारी मुनि-मन-हारी अद्भुत रूप बिचारी ॥

कौसल्या पूर्व जन्म में शतरूपा थीं। उन्होंने प्रभु से पुत्र-रूप में अवतरित होने की प्रार्थना के साथ-साथ विवेक देने का भी अनुरोध किया था। इसका अभिप्राय यह था कि कहीं मैं आपको केवल पुत्र ही न मान बैठूँ। पुत्रत्व के साथ ईश्वरत्व का भी ज्ञान बना रहे :

सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति, सोइ निज चरन सनेहु।
सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु, हमहि कृपा करि देहु ॥

इसीलिए प्रभु उनके समक्ष दो बार अपना ऐश्वर्य प्रदर्शित करते हैं। कौसल्या अम्बा यदि राम के ईश्वरत्व से परिचित हो चुकी हैं तो स्वयं को जननी (जन्म देने वाली) कैसे मान सकती हैं ? स्तुति में उन्होंने इसी ओर संकेत किया है— "जिस ब्रह्म के रोम-रोम में कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों का निवास है वह मेरे गर्भ में था, यह सर्वथा उपहासास्पद बात है। इसे सुनकर तो बड़े-बड़े धीरों की बुद्धि भी चञ्चल हो उठती है :

ब्रह्माण्ड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति बेद कहै।
सो मम उर वासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहै ॥

कैकेयी अम्बा ने कभी श्रीराम को ईश्वर के रूप में नहीं देखा। उनके लिए तो वे लाड़ले पुत्र मात्र थे। अतः प्रभु की दृष्टि में कैकेयी अम्बा ही जननीत्व की सच्ची अधिकारिणी हैं। वे यदि चाहें तो दावा कर सकती हैं कि वे राम की जन्मदात्री हैं। राम उस दावे को स्वीकार कर लेंगे, क्योंकि उनका व्रत ही भक्तों की भावना को पूर्ण करना है :

जो जेहि भाय रहा अभिलाषी।
तेहि तेहि कै तस तस रुचि राखी ॥

प्रभु को अगले जन्म पर अवश्य आपत्ति है। उन्होंने सोचा, 'माँ ने इतने वर्षों में केवल एक ही तो कामना की। उसकी पूर्ति में यदि इतना विलम्ब हो कि इसके लिए माँ को नया जन्म लेना पड़े, तो मेरा ईश्वरत्व व्यर्थ है। तुम अभी इसी जन्म में मेरी जननी हो। आज तुम्हारी ही कृपा से राम का पुनर्जन्म हो रहा है।' प्रभु के अन्तर्मन में मानो यह भावना छिपी हुई थी कि कुछ दिन बाद तुम्हें ज्ञात हो जाएगा कि तुम्हारे मन में जिसकी जननी होने का संस्कार है, वह तुम्हारे जननीत्व

को नहीं स्वीकार करना चाहता। श्रीभरत नेक्षोभ प्रगट करते हुए कैकेयी से यही कहा, "सूर्यवंश-जैसा वंश, महाराज दशरथ-जैसा पिता, श्रीराम और लक्ष्मण-जैसे भाई होते हुए तुम मेरी जननी हो गई। ब्रह्मा पर किसी का क्या बस ?" :

हंस बंस दसरथ जनक, राम लखन से भाइ।
जननी तू जननी भई, बिधि सन कछु न बसाइ ।।

"यदि भरत तुम्हें जननी के रूप में नहीं चाहता, तो वह कौसल्या अम्बा को यह सम्मान दे। मेरे लिए तो तुम कल्याणमयी हो। तुम्हारी ही हित-बुद्धि आज सामने आ गई। मुझे राज्य देते हुए किसी ने न तो मेरी रुचि पर ध्यान दिया, न ही हित पर। सभी को अपनी रुचि और स्वहित का ही विचार था। किन्तु वह तो तुम हो जिसने मेरी रुचि और हित, दोनों की पूर्णता का ध्यान रखा। वन में जाकर मुनियों के मिलन से बढ़कर हित का कौन-सा मार्ग हो सकता है ? (बहुधा माता-पिता ममता के कारण पुत्र को वन नहीं जाने देते, किन्तु तुमने मेरे हित के लिए न केवल स्वयं आसक्ति का त्याग किया अपितु पिताजी को भी प्रेरित किया। और अब इस प्रकार पिता का आदेश और आपकी सहमति भी प्राप्त है, फिर राज्य भी तो मेरे प्राणप्रिय भरत को प्राप्त हुआ है। ऐसा लगता है, ब्रह्मा हर दृष्टि से मेरे सम्मुख हो गया है" :

सुनु जननी सोइ सुत बड़भागी।
जो पितु मातु बचन अनुरागी ।।
तनय मातु पितु तोषनिहारा।
दुर्लभ जननि सकल संसारा ।।
मुनि गन मिलन बिसेष बन, सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि, सम्मत जननी तोर ।।
भरत प्रानप्रिय पावइ राजू।
बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू ।।

श्रीराम की वाणी को तुलसी ने 'वाग्-विभूषण' की उपाधि दी। आभूषण व्यक्ति की कमी को छिपा कर उसके सौंदर्य में वृद्धि करता है। प्रभु की वाणी को किसी अलङ्कार की आवश्यकता नहीं है किन्तु वे अपने वाक्यों के द्वारा दूसरे की वाणी को आभूषित कर देते हैं। कैकेयी की वाक्यावली में कोई सौन्दर्य नहीं था। किन्तु वाग्विभूषण राम ने उसे अपनी व्याख्या से ऐसा सजा दिया कि उसमें गुण-ही-गुण झलकने लगे। आज भी इस व्याख्या से प्रेरित होकर अनेक लोग कैकेयी में सद्भाव ढूंढ़ने लग जाते हैं। वे इसे नहीं समझ पाते कि यह तो 'वाक्-विभूषण' राम द्वारा की गई व्याख्या का चमत्कार है।

॥ श्रीराम: शरणं मम ॥

धर्म धुरीन धरम गति जानी।
कहेउ मातु सन अति मृदु बानी॥
पिता दीन्ह मोहि कानन राजू।
जहँ सब भाँति मोर बड काजू॥
आयसु देहि मुदति मन माता।
जेहि मुद मंगल कानन जाता॥

अर्थ—धर्म के पालक श्रीराम ने धर्म की मर्यादा समझकर कौसल्या अम्बा से कोमल वाणी में कहा, "पिताजी ने मुझे उस वन का राज्य दिया है जहाँ सब प्रकार से मेरा हित ही होगा, अत: आप प्रसन्न मन से आज्ञा दीजिये, जिससे मेरी यह यात्रा आनन्द से परिपूर्ण हो जाए।"

कौसल्या अम्बा राजभवन के एकान्त कक्ष में विराजमान थीं। उनके मनः-चक्षुओं के समक्ष भगवान् श्रीरामभद्र का मधुर चित्र था। वे बड़ी व्यग्रता से उस क्षण की प्रतीक्षा कर रही थीं जिसमें उनका सुखद स्वप्न साकार होने वाला था। अचानक मुस्कराते हुए श्रीराघवेन्द्र सामने आ खड़े हुए। उन्होंने आदरपूर्वक माँ के चरणों में प्रणाम किया। प्रभु के कुछ कहने के पूर्व ही माँ का उल्लास उनके स्नेहसिक्त शब्दों में प्रवाहित होने लगा। उत्सुकता-भरे शब्दों में उन्होंने पूछा, "प्रिय पुत्र ! यह तो बताओ कि उस मंगलमयी वेला में कितना समय अवशिष्ट है, जिसकी प्रतीक्षा अयोध्यावासी उसी उत्सुकता से कर रहे हैं, जैसे चातक स्वाँति नक्षत्र के मेघ के आगमन की प्रतीक्षा करता है ? तुम शीघ्रता से स्नान कर लो। पिताजी के पास जाने से पहले कुछ मधुर जलपान भी ग्रहण कर लो, नहीं तो राज्याभिषेक के क्रियाकलाप में अत्यन्त विलम्ब हो जायेगा" :

कहहु तात जननी बलिहारी।
कबहि लगन मुद मंगलकारी ॥
सुकृत सील सुख सीवँ सुहाई।
जनम लाभ कर अवधि अघाई ॥
जेहि चाहत नर नारि सब, अति आरत एहि भाँति।
जिमि चातक चातकि तृषित, बृष्टि सदा रितु स्वाँति ॥
तात जाउँ बलि बेगि नहाहू।
जो मन भाव मधुर कछु खाहू ॥
पितु समीप तब जाएहु भैआ।
भइ बड़ि बार जाइ बलि मैआ ॥

माँ के वचन क्या हैं, लगता है जैसे स्नेह-कल्पतरु पुष्पित हो उठा हो। उन पुष्पों में सुख और श्री का रस भरा हुआ था, किन्तु श्रीराघवेन्द्र का मन-भ्रमर उनकी ओर आकृष्ट नहीं हुआ :

मातु बचन सुनि अति अनुकूला।
जनु सनेह सुरतरु के फूला ॥
सुख-मकरंद भरे श्रिय मूला।
निरखि राम मधु भँवरु न भूला ॥

यदि एक ओर महारानी कैकेयी बन जाने का आदेश देकर श्रीरघुवीर को भयभीत नहीं कर पाईं, तो दूसरी ओर कौसल्या अम्बा की वाणी का प्रलोभन भी उन्हें अपने पथ से विचलित नहीं कर पाया। विश्व के अधिकांश व्यक्ति लोभ और भय की प्रवृत्तियों से ही संचालित होते हैं। सांसारिक जीवन में तो भय और प्रलोभन पग-पग पर आते ही रहते हैं। पुराण भी स्वर्ग और नरक का विस्तृत वर्णन करते हुए इसी लोभ और भय के मनोविज्ञान का प्रयोग करते हुए दिखायी देते हैं। समाज में बहुत-से ऐसे व्यक्ति हैं जो अनेक प्रकार के पाप करते हुए भी सुख एवं समृद्धि-सम्पन्न जान पड़ते हैं। राज्य का संविधान उन्हें दण्डित नहीं कर पाता। ऐसे व्यक्तियों को देखकर अन्य लोगों के अन्तःकरण में भी पाप के प्रति प्रलोभन जाग्रत होता है। शास्त्र इस समस्या के समाधान-हेतु नरक की स्मृति दिखाता है। वह यह बताना चाहता है कि जीवन की सत्ता शरीर के साथ ही समाप्त नहीं हो जाती। स्थूल शरीर के विनष्ट हो जाने पर भी जीव सूक्ष्म शरीर के द्वारा धर्मराज के न्यायालय में ले जाया जाता है। वहाँ उसके पाप और पुण्य का सही-सही लेखा-जोखा विद्यमान रहता है। वह पापों का परिणाम भोगने के

लिए विविध नरकों में भेजा जाता है जहाँ उसे घोर यातनाएँ दी जाती हैं। इसी प्रकार जो लोग मृत्युलोक में पुण्य करते हुए भी सुख और वैभव उपलब्ध नहीं कर पाते, वे स्वर्ग में पहुँच कर अक्षय यौवन, अमरता और दिव्य भोग प्राप्त करते हैं। यहाँ इस प्रश्न पर विवाद अभीष्ट नहीं है कि स्वर्ग और नरक की वास्तविक सत्ता है अथवा नहीं, और यदि उनका अस्तित्व है तो उनका वर्णन वास्तविक है या अतिशयोक्तिपूर्ण ? तर्क के द्वारा किसी निष्कर्ष पर पहुँच पाना कठिन होता है; क्योंकि तर्क के द्वारा सिद्ध कर दिये जाने पर भी संशय तो बना ही रहता है। इसीलिए गोस्वामीजी भी कह उठते हैं :

को जानै, को जैहैं जमपुर, को सुरपुर पर धाम को।
तुलसिहि बहुत भलो लागत जग जीवन राम गुलाम को।।

परन्तु, मनुष्य को पाप से विरत कर, उसे सत्कार्य की दिशा में ले जाने वाले शास्त्र का यह उपाय अपने उद्देश्य में कहाँ तक सफल हुआ है, यह संदिग्ध है। यदि सुदूर काल में नरक के भय से व्यक्ति पाप से विरत हो सकता है, तो वर्तमान भय उसे पाप की दिशा में प्रेरित भी कर सकता है। दृष्टान्त के लिए यदि कोई शस्त्र-धारी अथवा सत्ताधारी व्यक्ति किसी को धमकाते हुए उसे पाप-कर्म करने के लिए बाध्य करे तो ऐसी स्थिति में तात्कालिक भय नरक के भय से भी प्रबल सिद्ध होगा। यही स्थिति सुख और सत्कर्म की भी है। यदि पुण्य का परिणाम स्वर्ग में भी भोगों के रूप में ही प्राप्त होने वाला है तो कल्पित सुख की आशा में वर्तमान भोगों का परित्याग करना मूर्खता है, ऐसा अनेक लोगों को प्रतीत हो सकता है। अत: भय और प्रलोभन की प्रवृत्तियाँ समाज के सुव्यवस्थित सञ्चालन के लिए उपयुक्त माध्यम नहीं हैं।

ज्ञान और भक्ति का विचार-दर्शन इसका समाधान अन्य रूप में ढूँढ़ता है। वे यह मानकर चलते हैं कि इन दोनों वृत्तियों के स्थान पर ज्ञान और प्रेम की स्थापना की जानी चाहिए। मानस के सभी विशिष्ट पात्र भय और प्रलोभन की प्रवृत्तियों से ऊपर उठे हुए हैं। भगवान् राम का चरित्र ही इस विषय में उनका आदर्श है।

कौसल्या अम्बा की वाणी में राज्य का प्रलोभन था। यह प्रलोभन इसलिए और भी महत्त्वपूर्ण था क्योंकि यह माँ की ओर से आया था। इसमें प्रलोभन के साथ धर्म का समर्थन भी था। यदि प्रभु में राज्य की किञ्चित् वासना शेष होती तो वे बड़ी सरलता से कह सकते थे, "यद्यपि मैं राज्य स्वीकार नहीं करना चाहता था किन्तु माँ का स्थान पिता की तुलना में श्रेष्ठ है, अत: माँ को सन्तुष्ट करने के लिए मुझे राज्य को स्वीकार कर लेना चाहिए।" किन्तु श्रीराम का मन

भ्रमर इस भुलावे में नहीं आता। भ्रमर रस-शून्य नहीं है, और प्रभु भी मधुपायी भ्रमर हैं। वे "मुनि मानस पंकज भृङ्ग" हैं। वनवासी मुनियों के अन्तःकरण में दिव्य भाव का मकरन्द है। यहाँ स्नेह-सुरतरु का पुष्प है। 'सुरतरु' कहकर इसे स्वर्ग से सम्बद्ध किया गया। स्वर्ग भोग-भूमि है। प्रभु के समक्ष भोग और त्याग के दो विकल्प थे। प्रश्न यह था कि रस भोग में है या त्याग में ? प्रभु ने त्याग-रस का रसास्वादन किया।

इस प्रसंग में उन्हें 'धर्म-धुरीण' और 'धर्मगति का ज्ञाता' बताया गया—"धर्म धुरीन धर्म गति जानी।" धर्म का सच्चा रहस्य न जानने वाला धर्म का फल वैभव और भोग मानता है। इस अविवेक के कारण ही व्यक्ति ठगा जाता है। जिन वस्तुओं की उपलब्धि पाप-पथ से भी हो जाती है उन्हीं को धर्म का परिणाम मान लेना अविवेक की पराकाष्ठा है। धन न्याय-अन्याय दोनों ही प्रकार से उपार्जित किया जा सकता है; यही स्थिति भोगों की है। तब धर्म का सच्चा फल वही होना चाहिए, जिसे व्यक्ति पापों के द्वारा न पा सके। राज्य पाप और पुण्य दोनों ही मार्गों से मिल सकता है किन्तु सत्संग की उपलब्धि पापों से नहीं होती। इसलिए पुण्य का परिणाम सत्संग है :

पुन्य पुञ्ज बिनु मिलहिं न सन्ता।
सतसंगति संसृति कर अन्ता॥

अधिकांश व्यक्ति धर्म को कुछ क्रियाओं से सम्बद्ध कर देते हैं। क्रिया भी धर्म का एक अंग है। किन्तु समग्र धर्म वही नहीं है। वृक्ष का वास्तविक परिचय उसके फल से होता है। इसी तरह धर्म-तरु यदि वास्तविक होगा, तो उसमें वैराग्य का फल ही लगेगा :

धर्म ते बिरति जोग ते ग्याना।
ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना॥

यह सिद्धान्त मानस के अनेक प्रसंगों में प्राप्त होता है :

प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती।
निज-निज धर्म निरत श्रुति रीती॥
तेहि कर फल पुनि बिषय बिरागा।
तब मम चरन उपज अनुरागा॥

श्रीराघव ने अपने वन-गमन की सूचना माँ को जिन शब्दों में दी वह 'बचन-रचना-नागर' की उपाधि को सार्थक सिद्ध करती है। यह उपाधि परशुराम द्वारा

रामभद्र को जनकपुरी में दी गई थी :

बिनय सील करुना गुन सागर।
जयति बचन रचना अति नागर॥

प्रसन्न मन से प्रभु ने अपने वन के निष्कासन के समाचार को इन शब्दों में सुनाया, "पिताजी ने मुझे वन का राज्य प्रदान किया है, जहाँ मेरी आवश्यकता सबसे अधिक है। आप प्रसन्न मन से आज्ञा दें, जिससे वन-पथ मेरे लिए मंगलमय हो। चौदह वर्षों तक पिता के आदेश का पालन करने के पश्चात् मैं पुनः आपके चरणों का दर्शन करूँगा। आप अपने मन को म्लान न होने दें :

पिता दीन्ह मोहिं कानन राजू।
जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू॥
आयसु देहि मुदित मन माता।
जेहिं मुद मंगल कानन जाता॥
जनि सनेह बस डरपति भोरें।
आनँदु अंब अनुग्रह तोरें॥

"पिताजी ने मुझे वन का राज्य दिया है" यह नन्हा-सा वाक्य "अरथ अमित अरु आखर थोरे" का सर्वश्रेष्ठ दृष्टान्त है। "महाराज श्रीदशरथ ने सत्य की रक्षा के लिए श्रीराम का परित्याग किया", यह बड़ी प्रचलित मान्यता है। गुरु वशिष्ठ इसी सिद्धान्त के आधार पर दशरथ को इतिहास का सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति घोषित करते हैं :

भयउ न अहइ न अब होनिहारा।
भूप भरत जस पिता तुम्हारा॥
× ×
तजे राम जेहि बचनहिं लागी।
तन परिहरेउ राम बिरहागी॥
नृपहिं बचन प्रिय नहिं प्रिय प्राना।
करहु तात पितु बचन प्रवाना॥

प्रभु भी इसी का समर्थन करते हैं :

राखेउ राउ सत्य मोहि त्यागी।
तन परिहरेउ प्रेम पन लागी॥

पर यह मान्यता विवादास्पद है। क्योंकि यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि महाराज कैकेयी के प्रति वचनबद्ध थे तो राम को राज्य देने के लिए भी वे वचनबद्ध हो चुके थे। गुरु वशिष्ठ के द्वारा श्रीरामभद्र को यह सूचना दी गई थी कि कल उन्हें युवराज पद दिया जाएगा। ऐसी स्थिति में राघवेन्द्र को वन जाने का आदेश देकर उन्होंने सत्य का हनन किया। स्वयं महाराज दशरथ भी अपने को सत्यनिष्ठ नहीं मान पाते। उन्हें यह बात और भी पीड़ा पहुँचाती है कि न केवल उन्होंने वचन को पूरा नहीं किया, अपितु राज्य के स्थान पर वन दे दिया :

राज सुनाइ दीन्ह बन बासू।
सुनि हिय भयउ न हरष हरासू।।

श्रीभरत भी पिताजी के कार्य को अन्यायपूर्ण मानते हैं। कौसल्या अम्बा भी यही प्रश्न उठा सकती हैं। एक वाक्य से प्रभु ने भविष्य में उठने वाले सारे प्रश्नों का मार्ग अवरुद्ध करने की चेष्टा की, "पिताजी ने न केवल सत्य की रक्षा की, अपितु वचन से अधिक दिया। उन्होंने मुझे युवराज-पद देने का वचन दिया था। वन का राज्य देकर उन्होंने अपने औदार्य का परिचय दिया है। अयोध्या का राज्य भरत को देकर पिताजी ने माँ को दिए गए वचन की रक्षा की। मुझे वन का राज्य देकर उन्होंने गुरुदेव को दिए गए वचन की रक्षा करने में सफलता पाई। इस तरह दोनों सत्यों की रक्षा की गई।"

प्रभु के समक्ष एक समस्या और थी। यदि कहीं संवैधानिक सूक्ष्मता के आधार पर यह अनुरोध किया जाए कि भरत के द्वारा ननिहाल से लौटकर आने पर ही उन्हें वन जाना चाहिए, क्योंकि वरदान इसी क्रम से माँगे गए हैं :

सुनहु प्रानप्रिय भावत जी का।
देहु एक बर भरतहि टीका।।
मागउँ दूसर बर कर जोरी।
पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी।।
तापस बेष बिसेषि उदासी।
चौदह बरिस राम बनवासी।।

इसका उत्तर भी 'पिता दीन्ह मोहिं कानन राजू' में छिपा हुआ है। "दोनों भाइयों को राज्य दिया गया है। मैं ज्येष्ठ भाई हूँ इसलिए वन का राज्य पहले मुझे सँभालना चाहिए। मेरे युवराज-पद पर अभिषिक्त होने का मुहूर्त भी आज ही है, अतः भरत के आने से पहले मुझे अपना पद सँभालने के लिए प्रस्थान कर

देना चाहिए।" 'कानन राजू' की बात परम्परा से हटकर अटपटी-सी प्रतीत होती है। जंगल का राज्य देने की बात इतिहास में कभी सुनी नहीं गई। इस आशंका के निवारण के लिए ही प्रभु ने अगला वाक्य जोड़कर अपनी इस मान्यता का समर्थन किया—"जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू।"—जहाँ सब प्रकार से मेरा बड़ा कार्य है। प्रभु की दृष्टि में वन की उपेक्षा करके राजाओं ने बड़ी भूल की थी। किसी राज्य का तात्पर्य केवल राजधानी-मात्र नहीं है। एक नगर को सुखी और समृद्ध बनाकर इसी को राष्ट्र की उन्नति का प्रतीक मानकर आत्म-संतुष्ट हो जाना केवल आत्म-प्रवंचना मात्र है। सारा प्राचीन इतिहास इसी भूल की पुनरावृत्ति से भरा हुआ है। महाराज दशरथ चक्रवर्ती सम्राट् थे, ऐसी मान्यता इतिहास में प्रचलित थी। मानस में भी इसे स्वीकार कर लिया गया है :

ससुर चक्कवइ कोसल राऊ।
भुवन चारि दस प्रगट प्रभाऊ॥

पर यह चक्रवर्तित्व किस प्रकार का था, वह समझ से बाहर है। इसे सर्वथा नाम-मात्र का चक्रवर्तित्व कह सकते हैं। विश्वामित्र-जैसे महर्षि के आश्रम में राक्षसों का अत्याचार होता है। यज्ञ विध्वंस किया जाता है, पर यह समाचार स्वयं मुनि को लेकर आना पड़ता है। रावण के भाई खर-दूषण-त्रिशिरा चौदह हजार सैनिकों के साथ दण्डकारण्य में स्थायी रूप से निवास करते हैं। मुनियों की हड्डियों का ढेर लग गया है, पर दशरथ शान्तिपूर्वक अयोध्या में निवास करते हैं। वे इतने से ही आश्वस्त हैं कि उनकी अयोध्या सुरक्षित है। वहाँ समृद्धि और शान्ति है। वन-गमन को प्रभु इस त्रुटि के परिमार्जन का सर्वश्रेष्ठ अवसर मानते हैं। किन्तु इसका श्रेय वे स्वयं को नहीं, पिताजी को देना चाहते हैं। इसीलिए उन्होंने कौसल्या अम्बा से यही कहा, "पिताजी ने आवश्यकता समझकर ही मुझे वन का राज्य देने का निर्णय किया है। मेरे वन-गमन में लाभ-ही-लाभ है। अयोध्या का युवराज बनाकर तो परम्परा-मात्र का पालन ही किया जाता, इसमें मेरी कोई उपयोगिता न थी। किन्तु अब मैं ऐसे स्थान पर जा रहा हूँ जहाँ 'सब भाँति' से 'बड़ काजू' होने वाला है।" प्रभु का तात्पर्य यह है कि नीति की दृष्टि से भी उनका वन जाना आवश्यक है। नीति ही राष्ट्र के संचालन का आधार है :

राज कि रहइ नीति बिनु जाने।
अघ रहइ हरि सुजस बखाने॥

समाज को रावण के अत्याचार से मुक्त करने के लिए संघर्ष अवश्यम्भावी

है। किन्तु प्रश्न यह है कि यह युद्ध किस रूप में लड़ा जाय ? इस युद्ध का संचालन अयोध्या से करना उपयुक्त होगा या वन से ? किसी भी दृष्टि से देखा जाय, इसके लिए वन ही ठीक होगा। महाराजश्री अवस्था, मनःस्थिति किसी भी दृष्टि से युद्ध छेड़ने की स्थिति में नहीं है। और अयोध्या से प्रभु को युद्ध-संचालन की वे स्वीकृति नहीं देंगे। वात्सल्य के कारण भी वे प्रभु पर यह भार नहीं छोड़ना चाहेंगे, अतः नीति की दृष्टि से भी वन का राज्य सँभालना ही उपयुक्त रहेगा।

प्रीति की दृष्टि से भी श्रीराम वन जाने की अनिवार्यता अनुभव करते हैं। प्रेमामृत भरत-समुद्र में छिपा हुआ है। इसे मंथन के द्वारा ही प्रकट करना होगा। इस कार्य के लिए विरह-मंथन की सृष्टि करनी होगी। जब तक भरत का हृदय मथ नहीं उठेगा, तब तक उनके अन्तरंग हृदय का भाव-रस लोगों को उपलब्ध नहीं होगा :

प्रेम अभिय मन्दर बिरह, भरत पयोधि गँभीर।
मथि प्रगटेउ सुर साधु हित, कृपासिंधु रघुबीर॥

"वन जाने में मेरा अपना ही स्वार्थ है। रावण-वध के द्वारा मुझे कीर्ति प्राप्त होगी। तात्कालिक स्वार्थ की पूर्ति में संलग्न हो जाना मूर्खता का लक्षण है। कीर्ति के लिए शिव, दधीचि और हरिश्चन्द्र ने कितना अधिक बलिदान किया है। मैं तो केवल चौदह वर्ष के लिए वन जाकर उन लोगों की पंक्ति में बैठ जाऊँगा।"—यही तर्क प्रभु ने सुमन्त्र के समक्ष रखे :

सिवि दधीचि हरिचन्द नरेसा।
सहे धरम हित कोटि कलेसा॥
रंतिदेव बलि भूप सुजाना।
धरमु धरेउ सहि संकट नाना॥
धरमु न दूसर सत्य समाना।
आगम निगम पुरान बखाना॥
मैं सोइ धरमु सुलभ करि पावा।
तजे तिहूँ पुर अपजसु छावा॥

पारमार्थिक दृष्टि से तो वन का कहना ही क्या ! बड़े-बड़े महापुरुषों के सत्संग का सुअवसर अयोध्या में रहते हुए कैसे प्राप्त होता ? सत्ता पाकर व्यक्ति मदोन्मत्त हो जाता है। किन्तु मुझे तो ऐसे स्थान का राज्य दिया जा रहा है, जहाँ सन्त निवास करते हैं। जिनका संग करने पर उन्मत्त होने का भय रह ही नहीं जाता ;

कही तात तुम नीति सुहाई।
सब ते कठिन राजमदु भाई।।
जो अँचवत नृप मातहिं तेई।
नाहिन साधु सभा जेहिं सेई।।

इस तरह "जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू" कहते हुए प्रभु के अन्तर्मन में अनेक भाव उठ रहे थे। इसीलिए प्रभु ने वैभव-वस्त्र की दृष्टि से उदासी वेश ग्रहण कर लिया, किन्तु धनुष-वाण का परित्याग नहीं किया; क्योंकि वे यह मानकर वन जा रहे थे कि उन्हें वन का राज्य दिया जा रहा है। प्रजा और राजा के वेश में साम्य होना चाहिए। अतः वनवासियों का वेश स्वीकार करना उनकी दृष्टि में उचित ही था। किन्तु प्रजा के संरक्षण के लिए अस्त्र-शस्त्र की आवश्यकता है। खर-दूषण के विरुद्ध संघर्ष का श्रीगणेश करते हुए उन्होंने अपने इस अधिकार की घोषणा की :

हम छत्री मृगया बन करहीं।
तुम्ह से खल मृग खोजत फिरहीं।।

जिसे सांकेतिक भाषा में प्रभु ने 'बड़ काजू' कहा था, वह रावण-वध का कार्य था। भूभार-हरण के जिस कार्य के लिए उनका अवतार हुआ था, उस उद्देश्य की पूर्ति इस वन-यात्रा में ही सम्भव हुई।

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

तात तुम्हारि मातु बैदेही।
पिता राम सब भाँति सनेही॥
अवध तहाँ जहँ राम निवासू।
तहइँ दिवस जहँ भानु प्रकासू॥
जौं पै सीय राम बन जाहीं।
अवध तुम्हार काज कछु नाहीं॥
गुरु पितु मातु बंधु सुर साईं।
सेइअहिं सकल प्रान की नाईं॥
राम प्रान प्रिय जीवन जी के।
स्वारथ-रहित सखा सबही के॥
पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते।
सब मानिअहिं राम के नाते॥
अस जिय जानि संग बन जाहू।
लेहु तात जग जीवन लाहू॥
भूरि भाग भाजन भयहु, मोहि समेत बलि जाउँ।
जौं तुम्हरे मन छाँड़ि छल, कीन्ह राम पद ठाउँ॥

अर्थ—"हे तात ! बैदेही तुम्हारी माता हैं एवं सब प्रकार से स्नेह करने वाले श्रीराम ही पिता हैं। जैसे कि दिन वहीं पर होता है जहाँ कि सूर्य का प्रकाश हो, इसी प्रकार अयोध्या वहीं है जहाँ कि श्रीराम का निवास हो। यदि श्रीराम और सीता वन जा रहे हैं, तो अयोध्या में तुम्हारा कोई काम नहीं है। गुरु, पिता, माता, भाई, देवता और स्वामी इन्हें अपना प्राण समझकर ही इन सबकी सेवा करनी चाहिए। और फिर श्रीराम तो प्राणों से भी प्यारे तथा जीवन के भी जीवन हैं। वे सबके निःस्वार्थ सखा हैं। जहाँ तक (जितने) भी पूज्य और परमप्रिय सम्बन्ध

हैं सबको केवल राम के ही नाते से पूज्य और प्रिय मानना चाहिए। यह समझकर तुम उनके साथ वन जाकर संसार में जन्म लेने का पूरा लाभ लो। मैं तुम पर बलिहारी जाती हूँ। तुम और मैं, दोनों ही, बड़े सौभाग्यशाली हैं कि तुम्हारा मन निश्छल भाव से श्रीराम के चरणों की शरण में है।"

वन-गमन से पहले सुमित्रा अम्बा का व्यक्तित्व लोकदृष्टि से ओझल था, किन्तु अन्तर्यामी प्रभु तो उनके अन्तरंग प्रेम-रस से परिचित ही थे ! लक्ष्मण के आग्रह के समक्ष पराजय स्वीकार करते हुए कोसलेन्द्र ने उन्हें वन साथ ले जाने की स्वीकृति तो प्रदान कर दी, किन्तु उन्होंने सौमित्रि को यह आदेश दिया कि वे जाने से पहले सुमित्रा अम्बा से बिदा अवश्य ले आवें :

मागहु बिदा मातु सन जाई।
आवहु बेगि चलहु बन भाई॥

लक्ष्मण की निष्ठा और मनोभाव का ध्यान रखते हुए ही प्रभु ने "मागहु बिदा" शब्द का प्रयोग किया था। यदि प्रभु ने 'आदेश' माँगने के लिए कहा होता तो लक्ष्मण इसे स्वीकार न करते। 'बिदा' और 'आदेश' दोनों ही शब्द भिन्न-भिन्न अर्थ रखते हैं। 'बिदा' शिष्टाचार का अंग है। बिदा लेने वाला व्यक्ति जाने का निर्णय स्वयं कर लेने के बाद शिष्टाचार के रूप में बिदाई देने का अनुरोध करता है। इसमें किसी प्रकार की बाध्यता नहीं है, किन्तु 'आदेश' माँगने पर व्यक्ति निर्णय में स्वतन्त्र नहीं रहता। उसे जो आज्ञा प्राप्त हो, वही स्वीकार करना चाहिए। श्रीलक्ष्मण प्रभु के साथ जाने का निर्णय स्वतः कर चुके हैं। इस विषय में जब उन्होंने श्रीराम के अनुरोध को ही अस्वीकार कर दिया तब वे किसी अन्य के आदेश से अपने निर्णय में परिवर्तन कर सकेंगे, यह तो कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। इसलिए प्रभु ने केवल सुमित्रा अम्बा से बिदा माँगकर आने का ही आदेश दिया। इस सन्दर्भ में दो प्रश्नों का उठना स्वाभाविक है। यदि आदेश का प्रश्न नहीं था तो बिदा-मात्र लेने के लिए माँ के पास लक्ष्मण को भेजने की क्या आवश्यकता थी ? इससे भी अधिक महत्त्व का प्रश्न यह है कि स्वयं प्रभु सुमित्रा अम्बा के समक्ष बिदा लेने के लिए क्यों नहीं जाते ? वे महारानी कैकेयी की आज्ञा का पालन करने के लिए तो वन जा ही रहे थे। कौसल्या अम्बा से भी आशीर्वाद लेने के लिए उनके चरणों में जाते हैं, उनसे प्रार्थना करते हैं कि वे उनके वन-पथ की मंगलमयता के लिए आशीर्वाद प्रदान करें :

आयसु देहि मुदित मन माता।
जेहि मुद मंगल कानन जाता॥

क्या मर्यादा-पुरुषोत्तम के लिए यह उचित नहीं था कि वे सुमित्रा अम्बा के निकट जाकर उनसे भी आशीर्वाद प्राप्त करते। फिर ऐसी स्थिति में तो यह और भी आवश्यक हो गया था, जब वे सुमित्रा अम्बा के लाड़ले पुत्र को चौदह वर्ष के लिए साथ ले जा रहे थे।

सुमित्रा अम्बा के निकट रामचन्द्र का न जाना तो एक पहेली है ही ! किन्तु यह माँ भी कम अद्भुत नहीं हैं, जो अपने पुत्र को प्रभु की सेवा का आदेश देकर सहर्ष उसे बिना कर देती हैं। किन्तु चौदह वर्ष के लिए वन में जाने वाले राघव को विदाई देने के लिए अपने भवन से निकलकर बाहर तक नहीं आतीं। शायद ही विश्व-इतिहास में मूक प्रीति का ऐसा विरल दृष्टांत प्राप्त हो। आध्यात्मिक अर्थों में सुमित्रा अम्बा उपासना-शक्ति हैं। उपासना का ऐसा समग्र दर्शन, जो माँ सुमित्रा के जीवन में है, खोजने पर भी नहीं प्राप्त होता।

श्रीलक्ष्मण ने आग्रह और स्नेह के स्वर में घोषित कर दिया था :

गुरु पितु मातु न जानउँ काहू।
कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥
× ×
मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी।
दीनबन्धु उर अन्तरजामी॥

प्रभु ने गुरु, पिता का नाम तो नहीं लिया, पर माँ का नाम बिना लिये नहीं रह पाए। "नहीं ! लक्ष्मण, तुम्हें माँ से विदा लेने तो जाना ही है।" बहिरंग दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है जैसे प्रभु ने मर्यादा की दृष्टि से ऐसा आदेश दिया हो। किन्तु ऐसी स्थिति में प्रभु माता-पिता दोनों से आज्ञा लेने का आदेश देते। लक्ष्मण को माँ के पास भेजने में प्रभु का उद्देश्य ही दूसरा था। श्रीलक्ष्मण आज सर्वत्यागी के रूप में राम के साथ वन जाना चाहते हैं। उन्हें इन चरणों को छोड़कर और कुछ नहीं चाहिए। कीर्ति, सद्गति, ऐश्वर्य की ओर तो वे दृष्टि उठाकर भी देखने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं। धर्म-धुरीण राम के धर्मोपदेश को अस्वीकार करते हुए उन्होंने यही तो कहा था :

धर्म नीति उपदेसिअ ताही।
कीरति भूति सुगति प्रिय जाही॥

किन्तु 'सर्व-त्याग' का सच्चा अर्थ क्या है ? यों तो अयोध्या के नागरिक भी सब-कुछ छोड़कर अपने हृदय-सम्राट् राम के साथ वन की ओर चल पड़े थे। उन्होंने भी प्रभु के द्वारा दिए गए लौटने के आदेश को अस्वीकार कर दिया था।

पर वे प्रभु के साथ कहाँ रह पाए ? उन्हें रात में सोता छोड़कर राम वन की ओर चले गए। इतिहास में अनगिनत लोग उत्साह के अतिरेक में, भावावेश में, घरबार छोड़कर ईश्वर की ओर जाते दिखाई देते हैं, पर यह उत्साह टिकता कहाँ है ? आज भी क्या संन्यासियों की संख्या इस देश में कम है ? इनमें सभी पाखण्डी नहीं हैं। "नारि मुई गृह सम्पति नासी, मूँड़ मुँड़ाय भए संन्यासी" को सत्य सिद्ध करने वाले तो हैं ही, परन्तु सम्पत्ति, परिवार और पत्नी को छोड़ आनेवाले भी हैं। इनमें से अनेक सच्चे भाव से ही यह सब छोड़कर आए हुए होते हैं। पर यह भी उतना ही सत्य है कि इनमें से अधिकांश पुनः उसी स्थिति में लौट जाना भी चाहते हैं। अयोध्यावासियों की तरह वे खुलकर लौट नहीं पाते। उससे समाज में असम्मानित होने का भय रहता है। तब उन्हीं वस्तुओं के संग्रह में संलग्न होकर नया घर बसाते हैं। गोस्वामी जी सती को प्रतीक बनाकर ऐसे लोगों का दोहावली रामायण में व्यंग-भरा चित्र उपस्थित करते हैं। उन्होंने इस वास्तविकता को आँखों से देखा होगा। तत्कालीन समाज सती को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखता था। मृत पति के साथ चिता में अपना प्राण होम कर देने वाली सती उनके लिए पूजा की पात्र थी। जब कोई स्त्री सती होने के लिए चलती थी, हजारों व्यक्ति उसकी चरण-धूल माथे पर चढ़ाते थे। उस धूल को उठाकर स्मृति में संगृहीत कर लेते थे। पुष्प-वर्षा की होड़ लग जाती थी, मंगल-वाद्य बजते थे। बलिदान के इस दृश्य को देखने के लिए भीड़ उमड़ पड़ती थी। सती हो जाने के बाद उसकी भस्मी को पूजा की वस्तु माना जाता था। स्मृति में सती के समाधि-स्थल का निर्माण भी किया जाता था। उसकी पूजा की जाती थी। पर सदा यही तो नहीं होता था। अनेक ऐसे भी अवसर आते थे जब जीवन के प्रति मोह और मनुष्य की धर्मान्धता-जन्य क्रूरता से हृदय हिला देने वाले दृष्टान्त सामने आते थे। सती के सम्मान की कथाओं से उत्साहित होकर नारी घर से श्मशान तक गई अवश्य, पति के शव को गोद में लेकर बैठ भी गई, पर चिता प्रज्वलित होते ही ज्वाला की आँच से जीवन का मोह जागा और नारी ने भाग कर प्राण बचाना चाहा। तभी दर्शकों की धर्मान्धता-जन्य पशुता जागी और उन्होंने पुनः नारी को चिता में धकेल कर जल जाने के लिए बाध्य किया। तुलसी जीवन के इस यथार्थ से परिचित थे, इसलिए उन्होंने करुणा-द्रवित हृदय से इसका विरोध किया। पर साथ ही इसे उन्होंने पारमार्थिक जीवन के प्रतीक के रूप में भी देखा। त्याग और संन्यास की महिमा सुनकर अनेक लोग घर-बार छोड़कर निकल तो पड़ते हैं, किंतु त्याग की अग्नि में जलना सरल नहीं है, अतः वे पुनः भोगों की ओर भागते हैं। ऐसे लोगों से वे प्रश्न करते हैं, इस प्रकार 'सती' बनने की क्या आवश्यकता है ? घर में प्रियतम की विरहाग्नि में जलते हुए जीवित रहना, पति के उद्देश्यों को पूर्ण करना ही सच्चा सतीत्व है। उसके लिए लोक-

दृष्टि में सती कहलाने की, प्रदर्शन करने की, कोई आवश्यकता नहीं है। और यही सन्देश उनका त्यागियों के लिए भी था। सिर मुँड़ा कर त्याग का प्रदर्शन करने की क्या आवश्यकता ? क्या घर में प्रभु की प्रेम-भरी स्मृति ही भक्ति नहीं है ? दोहावली में उनका मनोभाव इन पंक्तियों में प्रगट होता है :

परमारथ पहिचानि मति, लसति बिषय लपटानि।
निकसि चिता ते अधजरति, मानहुँ सती परानि॥

× ×

सीस उघारन किन कहेउ, बरजि रहे प्रिय लोग।
घर ही सती कहावती, जरती नाह बियोग॥

× ×

घर कीन्हे घर जात है, घर छाँड़े घर जाइ।
तुलसी घर बन बीचहीं, राम प्रेम पुर छाइ॥

त्याग की व्याख्या के लिए उन्होंने एक अनोखा दोहा प्रस्तुत किया। साधु ने पत्नी का त्याग कर दिया है, किन्तु झोली में उसे कुछ वस्तुएँ तो रखनी ही पड़ती हैं। पत्नी साधु को मीठा उलाहना देती है, "खरिया-खरी-कपूर को झोली में लिये हुए साधु को पत्नी का त्याग नहीं करना चाहिए। यदि वैराग्य इतना दृढ़ है तो पत्नी के साथ-साथ इनका भी त्याग कर दीजिए।" जनश्रुति तो यह है कि तुलसी की पत्नी ने कभी साधु-वेश में उन्हें देखा। उनकी झोली पर उन्होंने कटाक्ष किया और गोस्वामीजी ने इस आलोचना को स्वीकार करते हुए झोली का भी त्याग कर दिया। वह दोहा इस रूप में है :

खरिया खरी कपूर सब, उचित न पिय तिय त्याग।
कै खरिया मोहि मेलि कै, बिमल बिबेक बिराग॥

दोहे में खरिया पर किया जाने वाला व्यंग प्रतीकात्मक जान पड़ता है। खरिया का प्रयोग तिलक के लिए किया जाता है, कपूर पूजन में प्रयुक्त किया जाने वाला पदार्थ है। दोनों ही उपासना के अंग हैं। वैष्णवजन तिलक और पूजा दोनों को ही बड़ा महत्त्व देते हैं और इनका महत्त्व भी है। किन्तु बहुधा इसके पीछे प्रदर्शन की प्रवृत्ति भी परिलक्षित होती है। तिलक देखते ही दूसरों के अन्तःकरण में उस व्यक्ति को भक्त मानकर सम्मान देने की भावना जाग्रत होती है, और तब तिलक भगवत्-चिह्न के स्थान पर अहं का प्रतीक बन जाता है। कपूर के द्वारा प्रभु की आरती उतारी जाती है, किन्तु जब उसका उद्देश्य स्वयं को पुजारी के रूप में प्रसिद्ध करना हो, तब पूज्य और पूजक दोनों ही के स्थान पर अहंकार बैठ जाता

है। ऐसी स्थिति में त्याग संग्रह की अपेक्षा भी अधिक घातक सिद्ध होता है। संग्रही को कम-से-कम यह भान तो बना ही रहता है कि उसके जीवन में भोगासक्ति है, त्याग का अभाव है। दूसरी ओर त्याग का मिथ्याभिमान साधक में मिथ्याचार को जन्म देता है। ऐसी स्थिति में प्रियतमा पत्नी का यह व्यंग सार्थक ही था कि पत्नी के त्याग से पुत्रैषणा का अभाव भले ही सिद्ध होता हो किन्तु 'खरिया खरी कपूर' का संग्रह यह सिद्ध करता है कि लोकैषणा के रूप में सम्मान पाने की वृत्ति शेष है। त्याग की पूर्णता तो तभी है जब वित्तैषणा और पुत्रैषणा के साथ-साथ लोकैषणा का भी त्याग कर दिया जाय। वास्तविक सर्वत्याग विरले ही व्यक्ति कर पाते हैं। इसीलिए सर्वत्याग के पथ पर प्रस्तुत लक्ष्मण को सुमित्रा अम्बा के पास भेजकर प्रभु ने उन्हें माँ से त्याग की शिक्षा और दीक्षा दोनों ही दिला दीं। सुमित्रा अम्बा और श्रीलक्ष्मण के वार्त्तालाप में यह रहस्य सामने आ जाता है।

प्रभु के साथ जाने को उतावले होते हुए भी श्रीलक्ष्मण इस आदेश को टाल नहीं पाते हैं, सुमित्रा अम्बा के पास जाकर चरणों में प्रणाम करते हैं। माँ को इस बीच में घटित दुर्घटना का समाचार ज्ञात नहीं था। वे तो सिंहासनासीन राम और उनकी सेवा में सन्नद्ध प्रसन्न-वदन लक्ष्मण का ध्यान कर रही थीं। उन्हें लग रहा था कि आज का दिन अयोध्यावासियों के लिए तो धन्यता का है ही, किन्तु लक्ष्मण के सौभाग्य का तो कहना ही क्या! किन्तु लक्ष्मण पर दृष्टि पड़ते ही वे चकित हो गईं। मुख पर विषाद और व्याकुलता का चिह्न उन्हें विस्मित कर देता है। उन्होंने लक्ष्मण से जिज्ञासा प्रकट की, सारा समाचार सुनकर उनकी आँखों में आँसू आ गये। उन्हें लगा, यह क्या अनर्थ हो गया? पाप-वृत्ति से परिचालित कैकेयी ने बुरे समय में दाँव दे दिया। माँ के आँसुओं को देखकर लक्ष्मण व्याकुल हो उठे—उन्हें वे आँसू पुत्र की आसक्ति से प्रेरित दिखाई दे रहे थे। उन्हें लग रहा था कि माँ मुझे वन-पथ में जाने से रोकेंगी। उनकी व्याकुलता को तुलसी ने इन पंक्तियों में प्रस्तुत किया है:

जाइ जननि पग नायउ माथा।
मन रघुनन्दन जानकि साथा॥
पूछे मातु मलिन मन देखी।
लखन कही सब कथा बिसेषी॥
गई सहमि सुनि बचन कठोरा।
मृगी देखि दव जनु चहुँ ओरा॥
लखन लखेउ भा अनरथ आजू।
ऐहि सनेह बस करब अकाजू॥

माँगत बिदा समय सकुचाहीं।
जाइ संग बिधि कहिहि कि नाहीं ।।
समुझि सुमित्रा रामसिय, रूप सुसील सुभाउ।
नृप सनेह लखि धुनेउ सिर, पापिनि दीन्ह कुदाउ ।।

किन्तु सुमित्रा अम्बा की बात सुनकर वे लज्जा में गड़ गये, उन्हें लगा कि प्रभु के प्रति सच्ची धीति और समर्पण की जैसी भावना माँ के अन्तःकरण में है उसकी तुलना में मेरे त्याग और स्नेह की वृत्ति का कोई मूल्य नहीं। उन्हें लगा कि सम्भवतः मेरे अन्तःकरण में त्याग, वैराग्य का अहंकार देखकर, उसके निवारण के लिए ही प्रभु ने मुझे माँ के पास भेजा है।

सचमुच ही सुमित्रा अम्बा की भावना इतनी उदात्त और सूक्ष्म है कि उसे उपासना का सार-सर्वस्व कह सकते हैं। जहाँ श्रीलक्ष्मण ने धर्म को ही अस्वीकार कर दिया था, वहाँ माँ ने यह स्पष्ट कर दिया कि सच्चा धर्म प्रभु के प्रेम-पथ में बाधक नहीं है। शास्त्र आदेश देता है कि पुत्र का कर्त्तव्य सर्वदा माता-पिता की सेवा करना है। लक्ष्मण इसे अस्वीकार कर देते हैं। किन्तु माँ का प्रश्न यह है कि शास्त्र अनुचित आदेश कैसे दे सकता है ? वेद तो ईश्वर का श्वास है। किन्तु शास्त्र का सच्चा तात्पर्य ग्रहण न कर पाने के कारण ही व्यक्ति को धर्म और प्रेम में परस्पर विरोध प्रतीत होता है। माता-पिता प्रणम्य हैं, उनका आदेश पालनीय है; किन्तु माता और पिता कौन हैं ?एक ही व्यक्ति अनगिनत जन्म लेता है और प्रत्येक जन्म में माता-पिता परिवर्तित हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में उसे किस जन्म के माता-पिता को अधिक महत्त्व देना चाहिए। यदि पिछले जन्मों को जाने भी दें तो इसी जन्म में माता-पिता यदि परस्पर-विरोधी आदेश दें तो किसकी आज्ञा स्वीकार करना धर्मानुकूल होगा ? अतः जब शास्त्र यह आदेश देता है कि माता-पिता पूज्य हैं, उनकी सेवा परम-धर्म है, तब उसका उद्देश्य वस्तुतः वास्तविक माता-पिता की ओर इंगित करना है। जब भी कोई माता-पिता की खोज करेगा, तब उसे भक्ति और ईश्वर ही सच्चे माता-पिता के रूप में दिखाई देंगे। तुम्हारे माता-पिता भी वही हैं :

तात, तुम्हारि मातु बैदेही।
पिता राम सब भाँति सनेही ।।

इस पंक्ति में उलाहने का स्वर छिपा हुआ है। इसी से यह भी समझा जा सकता है कि सुमित्रा अम्बा राघवेन्द्र के बिदा लेने के लिए न आने को किस दृष्टि से देखती हैं ? श्रीराम की तो बात ही क्या, लक्ष्मण का बिदा लेने के लिए आना

भी उन्हें रुचिकर नहीं प्रतीत हो रहा था। उन्हें लगा कि "लक्ष्मण ने राम के आदेश का यदि सच्चा तात्पर्य समझ लिया होता तो वह मेरे पास आता ही नहीं। राम का यही आदेश तो था—'माँगहु बिदा मातु सन जाई।' यदि राघवेन्द्र का अभिप्राय माता के रूप में मुझसे होता तो वह मेरे ही साथ महाराज श्रीदशरथ का भी नाम लेते। किन्तु जब उन्होंने केवल माँ से बिदा लेने के लिए कहा, तब उनका तात्पर्य था कि पिता के रूप में तो मैंने तुम्हें स्वीकृति प्रदान कर ही दी है, किन्तु अब तुम अपनी माता सीता से भी आदेश प्राप्त कर लो। अतः लक्ष्मण को वैदेही के चरणों में नमन कर उनसे ही आदेश लेकर चल पड़ना चाहिए था।"

माँ ने तो सर्वत्याग का दर्शन ही परिवर्तित कर दिया। उनका प्रश्न यह था कि त्याग ईश्वर का धर्म है अथवा जीव का? अपनी वस्तु को छोड़ देना ही त्याग है; किन्तु विश्व में ऐसी कौन-सी वस्तु है जिसे जीव अपनी कह सके? और उसका जब कुछ है ही नहीं, तब वह त्याग किसका करेगा? माँ का तात्पर्य था कि यदि लक्ष्मण स्वयं को त्यागी समझता हो अथवा अन्य लोग लक्ष्मण को सर्व-त्यागी की उपाधि दें, तो इससे बढ़कर कोई भ्रान्ति हो ही नहीं सकती। समग्र ब्रह्माण्ड का स्वामी ईश्वर है, अतः एकमात्र त्याग का दावा तो ईश्वर ही कर सकता है। यहाँ भी तो यही सिद्ध हो रहा है। अयोध्या का राज्य तो कोसलेन्द्र का ही है, वे उसे छोड़कर वन जा रहे हैं। अतः त्यागी के रूप में लक्ष्मण का नहीं, वरन् राम का अभिनन्दन होना चाहिए। यह प्रश्न अवश्य उठ सकता है कि इस त्याग का उद्देश्य क्या है? प्रत्यक्ष रूप से तो यही प्रतीत होता है कि वे कैकेयी और महाराज श्रीदशरथ के आदेश से ही वन जा रहे हैं; किन्तु यह यथार्थ नहीं हो सकता। सारा ब्रह्माण्ड ईश्वर के संकल्प से ही संचालित होता है:

राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई।
करै अन्यथा अस नहिं कोई।।

सारे शास्त्र इसी मत का समर्थन करते हैं। परशुराम के समक्ष भी भगवान् राम इसी सत्य का संकेत देते हैं। लक्ष्मण की वाणी से क्रुद्ध होकर परशुराम ने लक्ष्मण पर परशु चलाना चाहा, किन्तु उस समय चकित और स्तब्ध हो गये, जब उनका हाथ स्तम्भित हो गया। उन्हें यह गर्व था कि जिस परशु से मैंने समस्त क्षत्रिय-जाति का इक्कीस बार संहार कर दिया है, उसके समक्ष यह क्षुद्र क्षत्रिय बालक कहाँ टिकेगा? किन्तु वे आश्चर्य-चकित होकर प्रश्न करते हैं:

बहइ न हाथु दहइ रिस छाती।
भा कुठारु कुंठित नृपघाती।।

भयउ बाम बिधि फिरेउ सुभाऊ।
मोरे हृदयँ कृपा कसि काऊ ।।

किन्तु उसका तात्पर्य यही है कि परशुराम को मिथ्या गर्व था कि अपनी इच्छा से वे संहार और संरक्षण कर सकते हैं।

यदि राघव न चाहते तो कैकेयी या महाराज श्रीदशरथ के अन्तःकरण में इस प्रकार का संकल्प आ ही नहीं सकता था। तब इस संकल्प की प्रेरणा क्यों प्रदान की गई? क्या इसका उद्देश्य भरत को राज्य दिलाना था? सुमित्रा अम्बा श्रीभरत के स्वभाव-शील से पूरी तरह परिचित थीं। वे यह जानती थीं कि भरत कभी भी राज्य को स्वीकार नहीं करेंगे। तब वन जाने का क्या उद्देश्य हो सकता है? माँ इस निष्कर्ष पर पहुँचती हैं कि उनके वन जाने का उद्देश्य एकमात्र लक्ष्मण को सेवा का सुअवसर प्रदान करना है। लक्ष्मण प्रभु की समग्र सेवा स्वयं ही करना चाहते हैं। विशेष रूप से महर्षि विश्वामित्र के साथ उन्हें अकेले सेवा के लाभ का जो अभ्यास बन गया, वह विवाह के बाद घाटे के रूप में परिणत हो गया है। यहाँ तो सेवा बँटी हुई है, इससे लक्ष्मण का अन्तर्मन पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं हो पाता। लक्ष्मण की सेवा-क्षुधा को शान्त करने के लिए ही प्रभु ने यह योजना बनाई है। उन्होंने समग्र अयोध्या के वैभव और सम्बन्धों का परित्याग कर लक्ष्मण को यह सुअवसर प्रदान करने का निर्णय किया है कि वह माता, पिता, गुरु, बंधु, पुत्र, सेवक सभी रूपों में मेरे सामीप्य का सुअवसर प्राप्त करे। माँ ने लक्ष्मण को स्पष्ट शब्दों में यह बता दिया कि रामभद्र के वन-गमन के एकमात्र कारण तुम हो :

तुम्हरेहिं भाग रामु बन जाहीं।
दूसर हेतु तात कछु नाहीं ।।

इस वाक्य के द्वारा माँ लक्ष्मण के अन्तःकरण में यह भावना भर देना चाहती थीं कि तुम्हें कृतज्ञ होना चाहिए कि तुम्हारी आकांक्षा की पूर्ति के लिए ही राम इतना कष्ट सहन करने को प्रस्तुत हो रहे हैं।

इसके साथ ही उन्होंने इस धारणा का भी खण्डन किया कि लक्ष्मण को वन जाना पड़ रहा है, और वन में विविध प्रकार के कष्ट हैं। उनकी दृष्टि में श्रीराम जहाँ रहते हैं वहीं अयोध्या होती है। भावनात्मक दृष्टि से इसका तात्पर्य यह था कि प्रभु की पुरी क्या कोई जड़ पदार्थ है? वह तो नित्य-चैतन्य है। वह प्रभु की ऐसी अनुरागिणी है कि जहाँ राम जाते हैं, वह भी वहीं चली जाती है :

अवध तहाँ जहँ राम निवासू।
तहँइ दिवस जहँ भानु प्रकासू ।।

दिन कहीं सुस्थिर होकर नहीं रहता; वह तो सूर्य का अनुगामी है। जहाँ सूर्य जाता है, वहीं दिन भी जाता है। यदि राम सूर्य हैं तो अयोध्यापुरी दिन है। आज से अयोध्या कहा जाने वाला यह सुन्दर नगर ही वन के रूप में परिणत हो जाएगा। आध्यात्मिक अर्थों में वन के रूप का बड़ा विलक्षण परिचय विनय-पत्रिका में प्राप्त होता है :

देव-दीन-उद्धरण रघुवर्य करुणाभवन, शमन-संताप, पापौघहारी।
विमल बिग्यान-विग्रह, अनुग्रहरूप, भूपबर, बिबुध, नर्मद, खरारी॥ १॥
संसार-कांतार अतिघोर, गंभीर, घन, गहन तरुकर्म संकुल, मुरारी।
वासना-वल्लि खर-कंटकाकुल विपुल, निबिड़ विटपाटवी कठिन भारी॥ २॥
विविध चितवृत्ति, खग-निकर स्येनोलूक, काक-वक-गृध्र आमिष अहारी।
अखिल खल, निपुण-छल, छिद्र निरखत सदा, जीवजन पथिक मन खेदकारी॥ ३॥
क्रोध - करि मत्त, मृगराज कंदर्प, मद-दर्पबृक-भालु अति उग्रकर्मा।
महिष मत्सर क्रूर, लोभ शूकर - रूप, फरु छल, दंभ मार्जारधर्मा॥ ४॥
कपट मर्कट बिकट, ब्याघ्र पाखण्ड मुख, दुखद मृगब्रात, उत्पातकर्ता।
हृदय अवलोकि यह शोक शरणागतं पाहि मां पाहि भो विश्वभर्ता॥ ५॥
प्रबल अहंकार दुरघट महीधर, महामोह गिरि-गुहा निबिड़ान्धकारम्।
चित्त बेताल, मनुजाद मन, प्रेतगन रोग, भोगौघ वृश्चिक-विकारम्॥ ६॥
विषय-सुख-लालसा दंश-मशकादि, खल झिल्ली-रूपादि सब सर्प स्वामी।
तत्र आक्षिप्त तव विषम माया नाथ, अंध मैं मंद व्यालादगामी॥ ७॥
घोर, अवगाह भव आपगा पापजलपूर, दुष्प्रेक्ष्य दुस्तर, अपारा।
मकर षडवर्ग, गोनक्र, चक्राकुला, कूल शुभ-अशुभ, दुःख तीव्र धारा॥ ८॥
सकल संघट पोच शोचवश सर्वदा दास तुलसी विषम गहन ग्रस्तम्।
त्राहि रघुवंशभूषण कृपाकर, कठिन काल विकराल-कलित्रासत्रस्तम्॥ ९॥

प्रभु की पुरी अयोध्या में काल-कर्म-स्वभाव-गुण का प्रवेश नहीं है। यदि आज यहाँ इन सबका साक्षात्कार हो रहा है, तो इसका तात्पर्य ही यह है कि अब यह संसार कांतार बन गया है। संसार-कांतार के सारे लक्षण इसमें विद्यमान हैं। यहाँ किसी को मार्ग नहीं दिखाई दे रहा है। दूसरों के दोष-दर्शन का चोर प्रविष्ट हो गया है। क्रोध का मतवाला हाथी, कामरूप सिंह, दर्प का भालू, मात्सर्य का महिष, लोभ का शूकर यहाँ विद्यमान है। ऐसी स्थिति में तुम कितने सौभाग्यशाली हो कि इस भयानक वन को छोड़कर अपने माता-पिता के साथ दिव्य अयोध्या राज्य में निवास करोगे। माँ के इन वाक्यों को सुनकर श्रीलक्ष्मण की आँखों में आनन्द के आँसू उमड़ पड़े होंगे, क्योंकि उन्हें माँ ने सेवा की एक नई दृष्टि प्रदान

की थी। सेवा के कुछ और भी अनुपम सूत्र भक्तिमती अम्बा से लक्ष्मण को प्राप्त हुए। उन्होंने बताया, "लक्ष्मण, सच्चे सेवक का यह कर्त्तव्य है कि वह स्वप्न में भी कभी स्वयं को राग-रोष, ईर्ष्या, मद-मोह के वश में न होने दे। जाग्रत की तो बात ही क्या, स्वप्न में भी सेवक के अन्तःकरण में इन दुर्विचारों का प्रवेश नहीं होना चाहिए। सेवक का तात्पर्य कुछ कर्मों का पालन करना-मात्र नहीं है। सेवक का समग्र मन, वचन और कर्म सेव्य के प्रति समर्पित होना चाहिए। मुझे विश्वास है कि तुम समस्त विकारों का परित्याग कर सेवा-धर्म का पालन करोगे":

राग रोष इरिषा मद मोहू।
जनि सपनेहुँ इन्ह के बस होहू॥
सकल प्रकार बिकार बिहाई।
मन क्रम बचन करेहु सेवकाई॥

सुमित्रा अम्बा के सेवा-सूत्र की जितनी भी व्याख्या की जाय, थोड़ी है। सेवक पूरी तरह से किसी की सेवा तभी कर सकता है जब उसका एक ही सेव्य हो। अनेक स्वामियों की सेवा करने वाला किसी को भी सन्तुष्ट नहीं कर पाता। सेवक स्वामी के प्रति पराधीन होता है। जो लोग दुर्गुण-दुर्विचारों के द्वारा संचालित होते हैं, वे श्रीराम के सेवक कैसे हो सकते हैं ? वह तो कभी काम के संकेत पर नाचता है, कभी क्रोध की इच्छा से अपने अन्तःकरण में प्रचण्ड अग्नि जला लेता है। कभी लोभ के आदेश से धन की सुरा पीकर उन्मत्त हो जाता है। ऐसे व्यक्ति के पास समय ही कहाँ बचेगा कि जिसमें वह प्रभु की सेवा कर सके ? यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या इन विकारों का पूरी तरह परित्याग कर देने पर व्यवहार का निर्वाह सम्भव है ? इस समस्या के समाधान के लिए माँ ने 'बस होहू' शब्द का प्रयोग किया है। व्यवहार में ऐसे अनेक अवसर आते हैं जब इन्हें स्वीकार करना पड़ता है। किन्तु इनकी सार्थकता तभी है जब वे सेवक के रूप में भक्त की इच्छा के अनुकूल चलें। स्वभावतः सेवक का कोई अपना स्वार्थ नहीं होता इसलिए वह इनका प्रयोग भी केवल सेव्य के सुख के लिए ही करता है। सेवक स्वयं किसी से राग नहीं करता; किन्तु उसके सेव्य का यदि किसी से राग हो तो वह उस नाते से राग स्वीकार कर लेता है। श्रीलक्ष्मण स्वयं राग-शून्य हैं, किन्तु चित्रकूट में श्रीभरत के प्रति उनके अन्तःकरण में स्नेह उमड़ता है :

बचन सप्रेम लखन पहिचाने।
करत प्रनाम भरत जिय जाने॥
बंधु सनेह सरस एहि ओरा।
उत साहिब सेवा बस जोरा॥

मिलि न जाइ नहिं गुदरत बनई।
सुकबि लखन मन की गति भनई।।
रहे राखि सेवा पर भारू।
चढ़ी चंग जनु खैंच खेलारू।।

किन्तु यह राग श्रीभरत के प्रति नहीं है; यदि ऐसा होता तो वे कुछ ही क्षण पहले श्रीभरत का वध करने के लिए प्रस्तुत न हो गये होते। श्रीभरत के प्रति उनका रोष भी किसी व्यक्तिगत द्वेष से प्रेरित नहीं था। जब उनके अन्तःकरण में यह संशय उत्पन्न हुआ कि भरत प्रभु से युद्ध करने आ रहे हैं, तब वे भरत ही नहीं, अपने सहोदर भ्राता शघुघ्न का वध करने के लिए भी उद्यत हो गये :

जिमि करि निकर दलइ मृगराजू।
लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू।।
तैसहि भरतहि सेन समेता।
सानुज निदरि निपातउँ खेता।।

किन्तु जैसे ही श्रीभरत के दिव्य प्रेम का परिचय प्राप्त हुआ, त्यों ही उनसे मिलने के लिए श्रीलक्ष्मण का हृदय मचल उठा। लक्ष्मण के जीवन में ईर्ष्या है अथवा नहीं ? उनके मुख से चित्रकूट में एक ऐसा वाक्य निकलता है जिसमें ईर्ष्या की ध्वनि का संदेह होता है :

आइ बना भल सकल समाजू।
प्रगट करउँ रिस पाछिल आजू।।

यह कौन-सा पिछला क्रोध था ? जिसका स्मरण इस समय श्रीलक्ष्मण को आ रहा है। तुलसी-साहित्य की दृष्टि से इसका यह कारण हो सकता है कि बाल्यावस्था में चारों भाई सरयू-तट पर चौगान खेलने के लिए एकत्र होते हैं। उसमें श्रीराम और लक्ष्मण एक ओर तथा भरत और शत्रुघ्न दूसरी ओर होते थे। इस खेल में प्रभु सर्वदा श्रीभरत को ही जिता दिया करते थे :

मैं प्रभु कृपा रीति जिय जोही।
हारेउ खेल जितावहिं मोही।।

खेल के पश्चात् श्रीभरत की जय-ध्वनि गूंज उठती थी :

एक कहैं भई हार रामजू की एक कहैं भइया भरत जये।

श्रीलक्ष्मण को रामजू की पराजय प्रिय न लगे, यह स्वाभाविक था। किन्तु जब वे प्रभु के प्रसन्न मुख की ओर दृष्टि डालते थे, तब उनका आक्रोश आनन्द में परिणत हो जाता था। चित्रकूट में उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि बाल्यावस्था की वह पराजय ही सारे अनर्थों की जड़ है। उसीने भरत के हृदय में यह भ्रांति उत्पन्न कर दी कि वे राम की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली हैं। आज उस रोष को पुनः जीवित करने की आवश्यकता है। किन्तु श्रीभरत की विजय से उनकी ईर्ष्या का कारण भी एकमात्र श्रीराम-प्रेम है। श्रीलक्ष्मण जब भगवान् शंकर को भी चुनौती देने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं, तब ऐसा लगता है कि उनकी वाणी में मद बोल रहा है :

जौं सहाय कर संकर आई।
तौ मारउँ रन राम दुहाई॥
× ×
जौं सत संकर करइँ सहाई।
तदपि हतौं रघुबीर दुहाई॥

किन्तु उन्हें अपने बल का रंच-मात्र भान नहीं है। यदि यह मद है तो इसे राम के आश्रय का कभी न उतरने वाला मद कह सकते हैं :

जौं तेहि आजु बधे बिनु आवौं।
तौ रघुपति सेवक न कहावौं॥

उनमें स्वयं भले ही मोह न हो किन्तु वे श्रीराम को मोहातुर देखकर स्वयं भी दुःखी हो जाते हैं। चित्रकूट में जब प्रभु को प्रियजनों का और श्रीभरत का स्मरण आता है तब उनकी आँखों में आँसू देखकर लक्ष्मण भी व्याकुल हो जाते हैं :

जब-जब राम अवध-सुधि करहीं।
तब-तब बारि बिलोचन भरहीं॥
लखि सिय लखन बिकल होइ जाहीं।
जिमि पुरुषहिं अनुसर परिछाहीं॥

इन सबको वे प्रभु के नाते से ही स्वीकार करते हैं और कभी इनके वश में नहीं होते। माँ ने आदेश दिया था कि स्वप्न में भी इनके वश में नहीं होना है। श्रीलक्ष्मण ने इसका और भी विलक्षण निर्वाह किया। स्वप्न आता ही कहाँ से? जब उन्होंने निद्रा पर ही विजय प्राप्त करली थी। सेवाधर्म का उपदेश देने के बाद सुमित्रा अम्बा ने उन्हें जो दिव्य आशीष प्रदान किया, वह मानस में सर्वथा अनुपम है :

तुलसी प्रभुहिं सिख देहि आयसु, दीन्ह पुनि आसिष दई।
रति होउ अबिरल अमल सिय, रघुबीर पद नित-नित नई।।

मानस की दृष्टि में चरण-रति ही साधना की चरम परणति है :

सम जम नियम फूल फल ग्याना।
हरि पद रति रस बेद बखाना।।

साधना का श्रीगणेश सम, यम और नियम से होता है। इसके फलस्वरूप अन्तःकरण की शुद्धि होती है। अन्तःकरण की शुद्धि के बाद व्यक्ति में ज्ञान का उदय होता है। यों तो वृक्ष की अंतिम उपलब्धि फल है; किन्तु फल की परिपक्वता से उसमें मिठास का उदय हो जाता है। इसी तरह साधना की चरम परणति ज्ञान ही है। ज्ञान का उदय होते ही जीवन धन्य हो जाता है। किन्तु मिठास लाने के लिए रति की आवश्यकता है। यह 'रति' क्या है ?

एक रति वह है जिसे हम काम की पत्नी के रूप में जानते हैं। श्रृंगारिक दृष्टि से रति रस की चरम उपलब्धि है। किन्तु भक्ति-शास्त्र में जिस रति की चर्चा की गई है, वह उन तीन दोषों से शून्य है जो सांसारिक रति में विद्यमान हैं। सुमित्रा अम्बा ने सांसारिक रति से इसकी भिन्नता बताने के लिए इसके साथ तीन विशेषणों का प्रयोग किया है—'अविरल', 'अमल' और 'नित-नित नई'। सांसारिक रति में अविरलता असम्भव है, उसमें विराम होता ही है। श्रम की अनुभूति के कारण व्यक्ति सीमित समय तक ही रति की भावना में स्थित रह सकता है। किन्तु भगवत्-चरणों की रति श्रमापनयन करती है, इसलिए इसमें व्यक्ति सर्वदा संलग्न रह सकता है। तांसारिक रति मल-रहित तो हो ही नहीं सकती, क्योंकि वासना की मलिनता उसमें निरन्तर विद्यमान रहती है। वासना के अभाव में रति की स्थिति ही सम्भव नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि वासनायुक्त रति उस मलिन जल के समान है जो तत्काल प्यास तो बुझा देता है, किन्तु इसका गँदलापन बाद में अनेक रोगों की सृष्टि करता है। भगवत्-रति अपनी निर्मलत। के कारण तृप्ति के साथ-साथ स्वस्थता का भी दान देती है। सांसारिक रति में पुरानेपन की अनुभूति होने लगती है, अतः धीरे-धीरे रसानुभूति में ह्रास होते-होते अरुचि का उदय हो जात। है। भगवान् का सौन्दर्य नित्य-नूतन है; इसलिए वहाँ पर रति में भी नित्य-नूतनता का होना स्वाभाविक है। माँ का आशीर्वाद श्रीलक्ष्मण के जीवन में पूरी तरह चरितार्थ हुआ। चित्रकूट में उनकी अन्तर्दशा का वर्णन इस दोहे में किया गया है :

छिन छिन लखि सिय राम पद, जानि आपु पर नेह।
करत न सपनेहु लखन चित, बन्धु मातु पितु गेह।।

लक्ष्मण की दृष्टि प्रतिक्षण श्रीसीता राम के चरणों में आवद्ध रहती है। इससे अविरलता और नित्य-नूतनता दोनों की सिद्धि होती है। जाग्रत अवस्था में व्यक्ति भले ही प्रतिक्षण किसी व्यक्ति अथवा वस्तु को देखता रहे किन्तु आँखों में आने वाली निद्रा अन्तराल उत्पन्न कर ही देती है। किन्तु सौमित्रि एक क्षण के लिए भी निद्रा नहीं लेते, अतः यहाँ विरलता का भय नहीं है। यदि नित्य-नूतनता की अनुभूति न हो तो प्रतिक्षण एक ही वस्तु को देखने का कठिन कार्य कौन कर सकता है? सुस्वादु भोजन करता हुआ भी व्यक्ति बीच-बीच में स्वाद-परिवर्तन के लिए भिन्न रस का आस्वादन कर लेता है। किन्तु यहाँ तो प्रभु को छोड़कर बन्धु, माता, पिता, पत्नी, घर किसी की याद कभी आती ही नहीं। यह नित्य-नूतनता की पराकाष्ठा है। श्रीलक्ष्मण के जीवन में वासना की मलिनता का तो रंचमात्र स्पर्श है ही नहीं—यहाँ तो स्वसुख भूलकर केवल प्रभु की सेवा की वृत्ति ही शेष रह गई है। माँ ने कहा भी तो यही था कि "मन क्रम बचन करेहु सेवकाई।" लक्ष्मण के द्वारा इसका ऐसा निर्वाह किया गया जो विश्व के इतिहास में असम्भव प्रतीत होता है:

सेवहिं लखन सीय रघुबीरहिं।
जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहिं।।

लक्ष्मण को सुमित्रा अम्बा के पास भेजकर प्रभु ने केवल औपचारिकता का ही निर्वाह नहीं किया था, वे तो इस अवसर के बहाने समग्र उपासना-दर्शन को ही सुमित्रा अम्बा के माध्यम से प्रकट कराना चाहते थे। उपासना की समग्रता के लिए जिस भाव-भूमि की आवश्यकता थी, वह तीनों माताओं में से एकमात्र सुमित्रा अम्बा के चरित्र में ही उपलब्ध थी। कौसल्या अम्बा स्वभाव से ही अत्यन्त गंभीर प्रकृति की थीं। यद्यपि उन्हें भगवान् राम के ऐश्वर्यमय स्वरूप का साक्षात्कार करने का दो बार सौभाग्य प्राप्त हुआ, किन्तु प्रभु का ईश्वरत्व उन्हें अभिभूत नहीं कर पाया। वे व्यवहार में बहुधा वात्सल्य भाव में स्थित रहीं। यद्यपि उनका वात्सल्य तरंगवती नदी के स्थान पर मंदाकिनी के समान प्रशान्त था। उनके वात्सल्य पर मर्यादा की भावना का निरन्तर नियंत्रण बना रहा। उन्हें समाज और परिवार की मर्यादा का निरन्तर भान बना रहता था।

कैकेयी अम्बा ने राम को कभी ईश्वर के रूप में स्वीकार नहीं किया। वे श्रीरामभद्र के शील और सद्गुणों पर मुग्ध थीं, विशेष रूप से श्रीराघवेन्द्र के

द्वारा प्राप्त होने वाला सम्मान उन्हें अत्यन्त प्रिय प्रतीत होता था। उनकी प्रीति का आधार भी व्यवहार था, इसीलिए मंथरा द्वारा भड़काए जाने पर उन्होंने राम के परिवर्तन पर विश्वास कर लिया। राम के ईश्वरत्व का ज्ञान होने पर उनमें ऐसी भ्रान्ति का उदय हो ही नहीं सकता था।

एकमात्र सुमित्रा अम्बा ही ऐसी पात्र हैं, जिन्हें राम के ईश्वरत्व पर कभी संशय नहीं हुआ। आदि से अन्त तक वे अपनी आस्था में अडिग रहीं। उनके समर्पण की पूर्णता का रहस्य भी यही था। उनके लिए राम का अनुराग व्यवहार से सम्बद्ध नहीं था, इसीलिए उन्होंने लक्ष्मण के समक्ष मातृत्व की जो व्याख्या की, वह भक्ति-परम्परा के ही अनुकूल है। वे बड़े स्पष्ट शब्दों में यह घोषित करती हैं कि मातृत्व की सार्थकता एकमात्र भक्त पुत्र की उपलब्धि में है। उनकी दृष्टि में यदि पुत्र में भक्ति का अभाव है तो ऐसे पुत्र को जन्म देने के स्थान पर स्त्री बन्ध्या ही रह जाती तो अच्छा था :

पुत्रबती जुबती जग, सोई।
रघुवर भगत जासु सुत होई॥
न तरु बाँझ भलि बादि बिआनी।
राम बिमुख सुत ते हित जानी॥

माँ के द्वारा प्रयुक्त 'जुवती' शब्द बड़ा ही सांकेतिक है। पुत्र के जन्म के पश्चात् स्त्रियों की युवावस्था ह्रास की ओर उन्मुख होती है, किन्तु माँ की दृष्टि में भक्त पुत्र को जन्म देने के पश्चात् ही नारी 'युवती' कहलाने की अधिकारिणी है। जिनके जीवन का लक्ष्य भोग है, वे श्रृङ्गारिक मनोवृत्ति में आसक्त व्यक्ति सन्तति-जन्म को सौंदर्य में बाधक मानते हैं। किन्तु कितना भी प्रयास क्यों न किया जाय, यौवन स्थायी नहीं रह सकता। आकृति का सौंदर्य एक-न-एक दिन समाप्त हो जाता है। यदि कोई युवती अपने यौवन को शाश्वत बनाना चाहती है तो वह अपने पुत्र के जीवन में उस भक्ति की सृष्टि करे जिसका सौंदर्य चिरन्तन और शाश्वत है—वह सौंदर्य जो व्यक्ति के अन्तःकरण में भोक्तापन की सृष्टि नहीं करता, अपितु श्रद्धा का सृजन करता है। संतति-रहित नारी अभागिनी मानी जाती है, उसे बाँझ कहकर भी अनादृत किया जाता है, सौभाग्यवती स्त्रियाँ प्रातः-काल बंध्या नारी का दर्शन करना भी अशुभ मानती हैं; किन्तु सुमित्रा अम्बा इसे नहीं स्वीकार करतीं। यदि भक्त पुत्र का जन्म नहीं होना है, तो वह नारी बाँझ होते हुए भी सौभाग्यशालिनी है; क्योंकि, अभक्त पुत्र को जन्म देकर वह सौभाग्य काअनुभव करेगी, जबकि वह पुत्र अगणित लोगों के अभाग्य का हेतु बनेगा। उसी वृक्ष का सफल होना सार्थक है जो अपने फल के द्वारा रस-तृप्ति और स्वास्थ्य

प्रदान कर सके। किन्तु जिस वृक्ष में विष-फल फलित होना है, वह फलरहित रह-कर ही लोगों की सबसे बड़ी सेवा कर सकता है। उसकी फलहीनता अनगिनत लोगों को मृत्यु के मुख से बचा कर परम पुण्य का लाभ करेगी। अभक्त पुत्र के जन्म के लिए माँ ने 'बियानी' शब्द का प्रयोग किया है। यह शब्द पशुओं के ही प्रसङ्ग में प्रयुक्त किया जाता है। अभक्त पुत्र का जन्म पशु के जन्म के समान ही है और वह पशु भी हिंसक ही होगा। भक्ति सेवा की वृत्ति है और वह सेवावृत्ति पशु को मनुष्य की अपेक्षा भी श्रेष्ठ बना देती है। रामचरितमानस के अनेक पात्र पशु-योनि में दिखाई देते हैं। श्रीहनुमान, अंगद, जाम्बवान्, सुग्रीव आदि पशु-योनि में जन्म लेकर भी सेवा के द्वारा धन्यता प्राप्त करते हैं। प्रभु उन्हें सखा बनाकर अयोध्या ले आते हैं और अयोध्यावासी उनकी पूजा करते हैं :

कौन सुभग सुसील बानर, जिन्हहिं सुमिरत हानि।
किये ते सब सखा पूजे, भवन अपने आनि॥

आज भी कपिराज हनुमान की पूजा का व्यापक प्रचार इसी सत्य का स्मरण कराता रहता है। पुलस्त्य के कुलोद्भव रावण के पुतले को प्रतिवर्ष जलाकर ही समाज सन्तुष्ट नहीं हो जाता, अपितु उसके दस सिरों के ऊपर गर्दभ का ग्यारहवाँ सिर लगाकर अपना आक्रोश भी प्रकट करता है। रावण पाण्डित्य, शूरता आदि अनेक गुणों में अप्रतिम था, किन्तु भक्ति के अभाव ने उसमें पशुता की सृष्टि की। इस दृष्टि से अञ्जना सौभाग्यशालिनी हैं और कैकसी मुनि-पत्नी होते हुए भी अभागिनी हैं।

यहाँ यह भी स्मरण रखने योग्य है कि प्राचीन काल से ही सद्गुण-संपन्न पुत्र की कामना की जाती रही है। बहुधा वीर एवं दाता पुत्र की याचना की परम्परा प्राप्त होती है। एक दोहे में कवि ने नारी से दाता अथवा शूर पुत्र उत्पन्न करने का अनुरोध किया है। वह भी यही कहता है कि ऐसे पुत्र के अभाव में गुणहीन पुत्र को जन्म देकर अपनी सुन्दरता नष्ट करने से क्या लाभ होगा :

जननी जनै तो अस जनै, या दाता या सूर।
नाहिं त रहती बाँझ ही, ब्यर्थ गँवावत नूर॥

किन्तु सुमित्रा अम्बा की दृष्टि में शूरता और दातृत्व का भी कोई मूल्य नहीं है। वे तो एकमात्र भक्त पुत्र की कामना करती हैं। यह उपासनाशास्त्र की मान्यता के अनुकूल है। भक्ति-रहित गुण को भक्त केवल अभिमान का हेतु मानता है—अभिमान, जो बाह्य सौंदर्य की सृष्टि तो करता है, किन्तु जिसकी कड़वाहट से परिचय प्राप्त होते ही व्यक्ति उसे स्पर्श करने में भी डरता है :

सूर सपूत सुलच्छन सुन्दर गनियत गुन गरुआई।
बिनु हरिभजन इनारुन के फल तजत नहीं करुआई।।

कौसल्या अम्बा के जीवन में पारिवारिक प्रेम का दर्शन प्राप्त होता है। उन्हें श्रीराम के द्वारा वन-गमन की आज्ञा माँगने पर पारिवारिक संघर्ष की चिन्ता सताती है :

राखि न सकहि न कहि सक जाहू।
दुहू भाँति उर दारुन दाहू।।
× ×
राखउँ सुतहि करउँ अनुरोधू।
धरम जाइ अरु बंधु बिरोधू।।

किन्तु सुमित्रा अम्बा के जीवन में किसी प्रकार का अन्तर्द्वन्द्व नहीं है। वे किसी भी व्यावहारिक सम्बन्ध को केन्द्र मानकर धर्म की व्याख्या नहीं करती हैं। उनकी यह निर्विवाद मान्यता है कि वास्तविक सम्बन्ध का केन्द्र केवल ईश्वर से है। अतः कर्तव्य-निर्णय का आधार वे सामाजिक संबंध को स्वीकार नहीं करतीं। वे लक्ष्मण से स्पष्ट शब्दों में कहती हैं कि संसार में राम के नाते से ही पूज्यता और प्रियता स्वीकार की जानी चाहिए :

पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते।
सब मानिअहिं राम के नाते।।

स्वयं उन्होंने अपने जीवन में भी इसी सूत्र को स्वीकार किया। इसी सूत्र के आधार पर उन्होंने एक विरोधाभासी-सा प्रतीत होने वाला शब्द स्वीकार किया। एक ओर वे लक्ष्मण से कहती हैं कि तुम्हारी माता वैदेही हैं, किन्तु दूसरी ओर वे यह भी कहती हैं कि तुम-जैसा पुत्र पाकर मैं धन्य हो गई। इस विरोधाभास के मूल में भी उपर्युक्त सूत्र का संकेत निहित है। सुमित्रा अम्बा की दृष्टि में लक्ष्मण का उन्हें माँ स्वीकार करना, उपासना की दृष्टि से बाधक बनेगा। यदि वन में श्रीराम की सेवा करते हुए कभी भूलकर भी उन्हें यह स्मरण आ गया कि मेरी माता सुमित्रा इस समय अयोध्या में होंगी, तो इस सम्बन्ध की स्मृति उन्हें राम के समीप रहते हुए भी उनसे दूर बना देगी, जबकि लक्ष्मण के सम्बन्ध की स्वीकृति मुझे राम के समीप पहुँचानेवाली बनेगी। जब भी मुझे यह स्मरण आयेगा कि मेरा पुत्र इस समय श्रीराम के चरणों में बैठा हुआ है, तब यह सम्बन्ध मुझे भावनात्मक दृष्टि से राम के चरणों के समीप पहुँचा देगा। इसके लिए माँ ने बड़ा ही भावना-

भरा तर्क प्रस्तुत किया। नैवेद्य को जिस पात्र में रखकर भगवान् को अर्पित किया जाता है, यद्यपि वह पात्र अर्पित किये जाने वाले पदार्थ पर अपना अधिकार प्रकट नहीं कर सकता, किन्तु उसे इसका संतोष तो होता ही है कि वह इसी नाते से प्रभु के कर-कमलों तक पहुँच पाया। "लक्ष्मण, यद्यपि तुम वैदेही के पुत्र हो, किंतु व्यावहारिक जगत् में मुझे वह पात्र बनने का अधिकार मिला, जिसके माध्यम से तुम प्रभु के प्रति अर्पित किये जा रहे हो। इसलिए मेरे परम सौभाग्य का हेतु तो यह सम्बन्ध ही है" :

भूरि भाग भाजन भयहु, मोहि समेत बलि जाउँ।
जौं तुम्हरे मन छाँड़ि छलु, कीन्हि राम पद ठाउँ॥

सुमित्रा अम्बा ने स्नेह-पूरित हृदय से लक्ष्मण को प्रभु के निकट जाने की अनुमति दी। किन्तु ऐसे अवसर पर भी वे रामभद्र से स्वयं मिलने नहीं जाती हैं। सुमित्रा अम्बा की वाणी के माध्यम से उपासना का जो उदात्त रहस्य प्रकट हुआ था, उसकी तुलना में माँ का स्वयं न जाना उनके हृदय की अथाह गहराई को प्रकट करता है। सच्चे प्रेमियों के हृदय की अगाधता को वाणी के द्वारा नहीं मापा जा सकता है। यही प्रेम की अनन्तता का परिचायक है। सुमित्रा अम्बा रामभद्र के शील-भरे स्वभाव से पूरी तरह परिचित हैं। राम उनसे मिलने के लिए क्यों नहीं आए; यह समझना उन स्नेहमयी माँ के लिए कठिन नहीं था। राघव उस समय स्वयं को उस ऋणी के रूप में देख रहे थे जो पुराना ऋण न चुका सका हो और नया ऋण लेने की आवश्यकता आ गई हो। ऋणी व्यक्ति ऋणदाता से आँख चुराता है। किन्तु उस संकोच की कल्पना करें जब नये ऋण की आवश्यकता आ जाए, तब कौनसा मुख लेकर ऋणी धनी के समक्ष जाए ? प्रभु को प्रतीत होता है, "मैं माँ का कितना बड़ा ऋणी हूँ जिसने बाल्यावस्था से ही अपने लाड़ले पुत्र को मेरी सेवा में लगा दिया है। उस ऋण का तो कोई प्रतिदान मैं दे ही नहीं पाया और चौदह वर्षों के लिए लक्ष्मण को माँ से दूर करने का कठोर कार्य मैं करने जा रहा हूँ, तब किस मुख से मैं माँ से जाकर कहूँ कि तुम अपने पुत्र को चौदह वर्ष के लिए मेरे साथ वन भेज दो!" प्रभु इसी भावना के कारण माँ के समक्ष नहीं जाते; किंतु जब उन्होंने लक्ष्मण को विदा लेने के लिए भेजा, तब माँ की उदारता के प्रति उनका प्रगाढ़ विश्वास प्रकट होता है। प्रभु का तात्पर्य यह दिखाना था कि माँ के समक्ष न जाना मेरे स्वभाव की बाध्यता है, किन्तु मैं जानता हूँ कि मेरी माँ ने केवल देना सीखा है। प्रतिदान की कोई आकांक्षा उसके जीवन में विद्यमान नहीं है। वह कैसी उदार दाता है, इसे सभी लोग देख लें। प्रभु का यह स्वभाव और विश्वास उनके चरित्र के अनुरूप ही है। किन्तु सुमित्रा अम्बा की प्रीति तो इससे भी अधिक

उदात्त निकली। संसार ने ऋणी को धनी के समक्ष संकुचित होते देखा होगा, किन्तु उस धनिक का हृदय कैसा होगा जो ऋणी के समक्ष जाने में लज्जा का अनुभव न करे। वह इसलिए भयभीत हो उठे कि कहीं ऋणी मुझे देखकर संकोच का अनुभव न करे। सुमित्रा अम्बा का अनोखा हृदय इसी प्रकार का था। उन्हें लगा, "यदि मैं लक्ष्मण को लेकर रामभद्र के समीप गई तो उन्हें यही प्रतीत होगा कि माँ अपना पुत्र समर्पित करने के लिए आई हुई है।" उस समय कितना संकोच शीलसिंधु को होगा, इससे माँ पूरी तरह परिचित थीं। गोस्वामीजी ने प्रभु के स्वभाव का एक चित्र प्रस्तुत किया है कि जब भी कोई निष्काम-भाव से श्रीराम को प्रणाम करता है तब वे यह सोचकर संकोच में गड़ जाते हैं कि "मैं इसका क्या प्रतिदान दूँ" :

ज्यौं सब भाँति कुदेव कुठाकुर सेते बपु बचन हिये हूँ।
त्यों न राम सुकृतग्य जे सकुचत सकृत प्रनाम किए हूँ॥

माँ दाता बनकर श्रीराम से मिलना नहीं चाहती थीं, इसीलिए वे लक्ष्मण के साथ प्रभु के पास नहीं पहुँचीं। किन्तु देश और शरीर का यह व्यवधान भावना और प्रेम के सामीप्य को ही प्रकट करता है।

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

सहज सनेह बिबस रघुराई ।
पूछी कुसल निकट बैठाई ॥

अर्थ—निषादराज के सहज स्नेह के वशीभूत होकर श्रीराघवेन्द्र ने निकट बैठाकर उनसे कुशल पूछी।

निषाद और प्रभु का मिलन कोई साधारण घटना न थी। प्राचीन परम्परा के स्थान पर प्रभु जिस नये समाज-दर्शन को क्रियान्वित करना चाहते थे, उसकी भूमिका का यह श्रीगणेश था। महाराज श्रीदशरथ के हृदय में राम-राज्य की जो कल्पना थी, उसे शुद्ध परम्परावादी कहा जा सकता है। सूर्यवंश में ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य का उत्तराधिकारी होता आया था, श्रीदशरथ ने उसी परम्परा को आगे बढ़ाना चाहा था। अयोध्या के स्वर्ण-सिंहासन पर समासीन होकर राघवेन्द्र राज्य का संचालन करेंगे, इस विषय में उन्हें रंच-मात्र भी सन्देह नहीं था। यदि उनकी कल्पना साकार हुई होती, तो इतिहास राम-राज्य का स्मरण अलग से करने की आवश्यकता का अनुभव न करता। अगणित राजाओं के राज्य की ही भाँति वह भी परम्परा की लीक पर चलने वाला शासन-तन्त्र होता। किन्तु दशरथ की यह कल्पना प्रभु को अभीष्ट न थी। इसलिए राज्य की उपलब्धि के समाचार ने जहाँ उन्हें उदास बना दिया, वहाँ वन-गमन की कल्पना से ही वे आनन्दित हो उठे। उन्हें लगा कि एक आदर्श राज्य की स्थापना का जो संकल्प उनके अन्तःकरण में

था, उसे साकार करने का सुअवसर उन्हें प्राप्त होने जा रहा है। इसीलिए उन्होंने "पिता दीन्ह मोहि कानन राजू" कहकर अपना अन्तर्दर्शन माँ के समक्ष प्रकट किया था। श्रीराम के लिए यह केवल काव्यमयी कल्पना नहीं थी; वे तो अयोध्या से प्रस्थान करते ही अपनी मान्यताओं को साकार रूप देने लगे।

निषाद तत्कालीन समाज-व्यवस्था में अस्पृश्य माना जाता था :

जासु छाँह छुइ लेइहि सींचा।
लोक बेद सब भाँतिहि नीचा।।

लौकिक व्यवहार में प्रयुक्त होने वाली इस अस्पृश्यता को वैदिक मान्यताओं का समर्थन प्राप्त था। आस्तिक समाज वर्ण-व्यवस्था को ईश्वर की कृति मानता रहा है। इसके लिए वह श्रीकृष्ण की आत्म-स्वीकृति को प्रमाण के रूप में उपस्थित करता है। श्रीकृष्ण ने गीता में स्वयं को चातुर्वर्ण्य की सृष्टि करने वाला बताया है :

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण - कर्म - विभागशः।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम्।।

पुनर्जन्मवादी किसी वर्ग-विशेष में जन्म को पूर्व-जन्म के कर्मों से सम्बन्धित मानता है। उसकी मान्यता यह है कि श्रेष्ठ कर्म करनेवाला द्विजवर्ण में जन्म लेता है, और निषिद्ध आचरण करनेवाले व्यक्ति का जन्म शूद्र-वर्ण में होता है। अस्पृश्य को देखकर उसमें सहानुभूति का उदय नहीं होता, वरन् इसे वह पूर्वजन्मों के कर्मों का परिणाम मानकर स्वयं की न्यायवृत्ति को सन्तुष्ट कर लेता है। वह इस विषमता का समर्थन यह कहकर कर लेता है कि यह तो परिवर्तित होते रहनेवाला चक्र है। अस्पृश्य अपने स्वधर्म का पालन करके अगले जन्म में ब्राह्मण हो सकता है, और स्वधर्मच्युत ब्राह्मण चाण्डाल-योनि में उत्पन्न हो सकता है। अतः इसमें अन्याय का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। किन्तु केवल सैद्धान्तिक विश्लेषण से व्यावहारिक जीवन में आनेवाली समस्याओं का समाधान नहीं हो जाता। सिद्धान्त की वास्तविक परीक्षा तो यह है कि वह लोगों के अन्तःकरण में क्या प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है। व्यक्ति के सामने न तो पूर्वजन्म होता है और न ही वह अगले जन्म को देख सकता है। यदि अस्पृश्य को यह ठीक-ठीक स्मरण बना रहता कि वह किन असत्कर्मों के कारण अस्पृश्य बनने के लिए बाध्य किया गया है, तो सम्भवतः वह अधिक उलाहना न देता। ठीक उसी तरह जैसे एक कारागार के कैदी को यह ज्ञात रहता है कि उसे किस अपराध का दण्ड भोगना पड़ रहा है। दूसरी ओर उच्चवर्ण वाले अपनी ऊँचाई को स्वयंसिद्ध सत्य मानकर शूद्र की उपेक्षा ही नहीं, वरन्

उससे घृणा भी करते हैं। शूद्र से घृणा करने में ग्लानि की बात तो दूर, वे गौरव का अनुभव करते हैं। उन्हें लगता है कि इसके द्वारा वे ईश्वरीय मर्यादा का पालन कर रहे हैं। ऐसे लोगों के द्वारा सारी शास्त्रीय मर्यादा इतने में ही समा जाती है कि वे शूद्र के प्रति कितने असहिष्णु हो सकते हैं। इस तरह पुनर्जन्मवादियों का विश्लेषण भले ही उन्हें वैज्ञानिक प्रतीत होता हो, किन्तु समाज में वह दुर्भाव की सृष्टि करता है। यद्यपि इन दुष्परिणामों की समस्या सामने आने पर परम्परावादी यह कहकर समाधान करते हैं कि सैद्धान्तिक दुरुपयोग के कारण किसी सिद्धान्त का ही परित्याग नहीं कर देना चाहिए, वरन् दुरुपयोग को ही रोकने की चेष्टा होनी चाहिए। युक्तिसङ्गत प्रतीत होने पर भी व्यवहार में यह कभी-कभी असम्भव हो जाता है। सिद्धान्त घृणा का कवच बनकर उसे संरक्षण प्रदान करता है। इसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया यही होती है कि उस घृणा का वध करने के लिए सिद्धान्त के कवच पर ही आक्रमण करना पड़ता है। आज यही हो रहा है और इसे अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। सिद्धान्त का केवल वैज्ञानिक अथवा तार्किक होना ही यथेष्ट नहीं है, उसे व्यवहार की भूमि पर भी अपनी यथार्थता सिद्ध करनी चाहिए। वर्ण-व्यवस्था का सिद्धान्त इसे सिद्ध करने में असमर्थ रहा है।

प्राचीन काल से लेकर अब तक के सहृदय मनीषियों के अन्तःकरण को यह प्रश्न व्यथित बनाता रहा है। अपने-अपने ढंग से इस समस्या के समाधान का प्रयास भी किया गया है, किन्तु घृणा की यह अन्तर्वृत्ति लोगों के जीवन से मिट नहीं पाती है। इसके एकमात्र अपवाद भगवान् राम हैं। उन्होंने अपने प्रेम-दर्शन के द्वारा इस पर विजय प्राप्त करने में सफलता पाई। वस्तुतः यह भागवत धर्म है।

विराट् का वर्णन करते हुए वैदिक मंत्रों में वर्ण की उत्पत्ति के लिए इस प्रतीकात्मक भाषा का उपयोग किया गया है—"ब्राह्मण इस विराट् पुरुष का मुख है, क्षत्रिय बाहु हैं, और वैश्य उदर है। शूद्र का जन्म विराट् के चरण से हुआ है":

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥

दुर्भाग्यवश इसका जो तात्पर्य ग्रहण किया जाना चाहिए था, उसके स्थान पर ठीक प्रतिकूल अर्थ-ग्रहण किया गया। यदि सभी वर्ण भगवान् के ही अंग हैं तो उनमें परस्पर घृणा और संघर्ष कैसा? किन्तु इस श्लोक का स्मरण ही बहुधा अस्पृश्यता के समर्थन के लिए किया जाता है। तथाकथित शास्त्रीयतावादी यह कहता है कि "सिर का स्थान चरण कैसे ले सकता है? जैसे हाथ के द्वारा पैर का

स्पर्श हो जाने पर हस्त-प्रक्षालन करते हैं, उसी प्रकार अस्पृश्य के स्पर्श के बाद यदि हम स्नान करते हैं, तब इसमें अनौचित्य कहाँ है ?" वस्तुतः इस शब्द-जाल में घृणावृत्ति को छिपाने का प्रयास किया जाता है। ऐसे लोगों से यह प्रश्न किया जा सकता है कि केवल स्पर्श के समय ही इस सूत्र की स्मृति आती है अथवा जीवन के प्रत्येक क्रिया-कलाप में हाथ और चरण के सम्बन्ध का ध्यान बना रहता है? क्या जिस अभिन्नता की अनुभूति एक व्यक्ति को अपने विविध अङ्गों में होती है, उसी प्रकार की भावानुभूति शूद्र के प्रति भी हमारे अन्तःकरण में उत्पन्न होती है ? इसका यथार्थ उत्तर है, "कदापि नहीं !"

लगता है, वेद-मन्त्र के वास्तविक अर्थ को प्रगट करने के लिए ही प्रभु का अवतार हुआ। यदि वेद ईश्वर की वाणी है तो उसका सच्चा तात्पर्य भी उसी को ज्ञात होगा। यदि कभी अर्थ के विषय में संशय हो तो स्वयं अवतरित प्रभु के चरित्र में उसका अर्थ खोजा जाना चाहिए। वर्ण-व्यवस्था को प्रभु किस दृष्टि से देखते हैं, यह निषाद और प्रभु के मिलन के माध्यम से हृदयंगम किया जा सकता है। और वह समाधान आज के युग-सन्दर्भ में और भी अधिक उपयोगी है।

निषादराज को श्रीराघवेन्द्र के आगमन का समाचार प्राप्त हुआ। प्रसन्नतापूर्वक उन्होंने अपने बान्धवों को बुला लिया। कन्द-मूल-फल लेकर वे प्रभु का स्वागत करने के लिए जाते हैं। दूर से ही उन्होंने साष्टांग प्रणाम किया। वे स्नेहपूर्वक श्रीराघव को देखने लगे। अब तक जो चित्र अंकित किया गया, वह नया नहीं था। किसी भी शासन-तन्त्र में शासक और उससे सम्बन्धित लोगों का स्वागत किया ही जाता है। राजकुल के किसी सदस्य के आगमन पर उसके स्वागत में भेंट लेकर जाना गाँव के मुखिया का कर्त्तव्य माना जाता था। निषाद ने दूर से ही दण्डवत् प्रणाम किया था, यह उस समय की सामाजिक मान्यता के ही अनुकूल था। निषाद अस्पृश्य था; इसीलिए अन्य वर्ण वालों की तरह वह चरण छूकर प्रणाम नहीं कर सकता था। यह तो शासक और शासित के बीच की दूरी थी जो वर्ण-व्यवस्था के कारण और भी बढ़ गई थी। किन्तु इसके पश्चात् जो कुछ हुआ, वह निषाद की कल्पना में भी नहीं आ सकता था। श्रीरामभद्र ने निषाद को अपने निकट बैठा लिया और कुशल-प्रश्न पूछने लगे :

यह सुधि गुह निषाद जब पाई।
मुदित लिए प्रिय बन्धु बुलाई ॥
लिए फल मूल भेंट भरि भारा।
मिलन चलेउ हियँ हरष अपारा ॥
करि दण्डवत भेंट धरि आगे।
प्रभुहि बिलोकत अति अनुरागे ॥

सहज सनेह बिबस रघुराई।
पूछी कुसल निकट बैठाई।।

तत्कालीन समाज अपनी पवित्रता की सुरक्षा के लिए यह आवश्यक मानता था कि शूद्र वर्ण के लोगों से अधिकाधिक दूरी बनाए रखी जाए, जिससे पाप का संक्रमण उन तक न हो सके। इससे उनका शरीर भले ही छाया से बच जाए, परन्तु उनके अन्तर्मन में ग्लानि और दूसरों के प्रति उपेक्षा की जो वृत्ति उत्पन्न होती थी उसे शुभ कैसे कहा जा सकता है ? वर्ण-व्यवस्था में शूद्र द्वारा द्विज वर्ण को दिया जाने वाला सम्मान भय के द्वारा ही प्रेरित हो सकता था। द्विज इस प्राप्त सम्मान को अपनी श्रेष्ठता का प्रतीक मानकर अपने मन में मिथ्या अहंकार पाल लेता था। अहंकार और भय की भावनाओं पर आधारित समाज-व्यवस्था कैसे स्वस्थ हो सकती थी ? प्रभु के चरित्र में इसके स्थान पर आदर और स्नेह का मिलन होता है। जिस समाज में स्नेह और आदर व्यवहार के आधार होते हैं, वही समाज सच्ची आस्तिकता से प्रेरित माना जा सकता है। समस्त ब्रह्माण्ड के कण-कण में ईश्वर को स्थित मानने वाला दर्शन यदि व्यवहार में अभिमान, घृणा और उपेक्षा की भावना के द्वारा संचालित हो तो उसे मिथ्याचार ही कहा जा सकता है।

भगवान् राम के राज्य के लिए किसी स्वर्ण-सिंहासन की अपेक्षा नहीं थी। शस्त्रधारी राजा स्वर्ण-सिंहासन पर आसीन होकर जिस राज्य का संचालन करता है, उसका मुख्य आधार भय और प्रलोभन है। वह शस्त्र के द्वारा भय और स्वर्ण के द्वारा लोभ की सृष्टि करता है। भगवान् राम ने 'पिता दीन्ह मोहि कानन राजू' कहकर कौसल्या अम्बा से वन जाने का आदेश माँगा था। इस राज्य के लिए कोई स्वर्ण-सिंहासन साथ में नहीं भेजा गया था। जिस आसन पर विराजमान होकर प्रभु इस नये राज्य का संचालन करने जा रहे थे, वह था हृदय का सिंहासन। यह राज्य लोभ और भय के स्थान पर प्रेम के द्वारा संचालित होता है। प्रभु का यह दिव्य प्रेम पाकर निषादराज धन्य हो गए। समर्पण की उदात्त प्रेरणा उनके अन्तः-करण में जाग्रत होती है। वे प्रभु से अपने गाँव में निवास करने की प्रार्थना करते हैं :

देव धरनि धन धाम तुम्हारा।
मैं जन नीच सहित परिवारा।।
कृपा करिअ पुर धारिअ पाऊ।
थापिय जन सब लोग सिहाऊ।।

प्रजा द्वारा राजा को जो भेंट प्राप्त होती है, वह बाध्यतामूलक है। लोभ से

प्रेरित राजा येन-केन-प्रकारेण अपना कोष भरना चाहता है, प्रजा दीनता का प्रदर्शन करती हुई कम-से-कम देना चाहती है; किन्तु यहाँ न चाहने पर भी दूसरों के अन्तःकरण में सर्वस्व समर्पित करने की भावना जाग्रत होती है। प्रभु ने इस भेंट को स्वीकार नहीं किया। क्योंकि इस प्रेम-राज्य के कोषागार में धन और रत्न के स्थान पर लोगों की सद्भावनाएँ एकत्र की जाती हैं।

निषादराज द्वारा प्रस्तुत किया जाने वाला प्रस्ताव कितनी उदात्त भावनाओं से पूर्ण है, उसका परिचय उपर्युक्त पंक्ति के प्रत्येक शब्द से प्राप्त है। अपने नन्हे-से गाँव के लिए 'पुर' शब्द का प्रयोग करते हुए उन्होंने राघवेन्द्र के प्रति अनोखे सम्मान का प्रदर्शन किया। इस शब्द का प्रयोग करते हुए उनके अन्तर्मन में वही भावना विद्यमान थी, जिसे सुमित्रा अम्बा ने श्रीलक्ष्मण के समक्ष व्यक्त किया था :

अवध तहाँ जहँ राम निवासू।
तहइँ दिवस जहँ भानु प्रकासू॥

निषादराज का तात्पर्य यह था कि "यदि मैं अन्य राजाओं की भाँति ही आपको स्वीकार करता तो इस नन्हे-से गाँव में चलकर ठहरने का अनुरोध न कर पाता। किन्तु मैं जानता हूँ कि आपकी उपस्थिति से ही लघुता महानता में परिणत हो जाती है। आपके निवास से यह गाँव भी 'पुर' का सम्मान प्राप्त कर लेगा। यह निमन्त्रण आपकी आवश्यकता की पूर्ति के लिए नहीं है—क्योंकि आपके लिए तो नगर, पुर, ग्राम और वन सब एक ही जैसे हैं, किन्तु इसमें मेरा अपना स्वार्थ है। इस निषाद को समाज से सदा उपेक्षा और असम्मान ही प्राप्त हुआ है, किन्तु सम्मान पाने की भूख किस व्यक्ति में नहीं होती? आप मेरी भूख को मिटा सकते हैं। स्वर्गस्थ देवताओं के मन्दिर का निर्माण तो अनेक लोग कर सकते हैं, किन्तु निषाद-मन्दिर का निर्माण तो केवल आपके द्वारा ही सम्भव है। आपके आवास से इस निषाद का सम्मान इतना अधिक बढ़ जाएगा कि मृत्यु-लोक के लोगों की तो बात ही क्या, स्वर्गस्थ देवता भी इसके सौभाग्य से ईर्ष्या करने लगेंगे।"

निषाद के स्नेह-भरे वाक्यों को सुनकर प्रभु भावाभिभूत हो गए। उन्होंने कहा, "मित्र, तुमने जो-कुछ कहा है, वह सब सत्य है, किन्तु पिताजी ने मुझे कुछ दूसरे ही आदेश प्रदान किए हैं, इसलिए किसी गाँव में जाना मेरे लिए उचित नहीं होगा" :

कहेउ सत्य सब सखा सुजाना।
मोहि दीन्ह पितु आयसु आना॥

बरष चारि दस बास बन, मुनि ब्रत बेष अहार।
ग्राम बास नहिं उचित सुनि, गुहहि भयउ दुःख भार॥

प्रभु ने एक निषाद को सखा कहकर पुकारा, इस नन्हे-से शब्द ने उनके जीवन के समस्त दैन्य को समाप्त कर दिया। यह वह दीनता थी, जिसे समाज ने बलपूर्वक उसपर लाद दिया था। 'सखा' शब्द के सम्बोधन के द्वारा प्रभु ने अपने पुराने सम्बन्ध की स्मृति दिलाई। उपनिषदों की भाषा में जीव और ब्रह्म नित्य सखा हैं। जनकपुर के प्रसंग में श्रीराम और लक्ष्मण के परस्पर स्नेह को देखकर महाराज श्रीजनक को प्रतीत हुआ कि इनका स्नेह तो ब्रह्म और जीव के समान है :

इन्ह कै प्रीति परसपर पावनि।
कहि न जाइ मन भाव सुहावनि॥
सुनहु नाथ कह मुदित बिदेहू।
ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू॥

स्नेह के साथ 'सहज' शब्द का प्रयोग तात्त्विक है। संसार में व्यक्ति का स्नेह सहज नहीं होता। उस स्नेह के साथ कोई-न-कोई कारण विद्यमान रहता है। इसीलिए समय पाकर स्नेह शिथिल हो जाता है। जीव और ब्रह्म का स्नेह कारण-रहित है, इसीलिए उसे 'सहज' की संज्ञा दी गई। जीव इस सम्बन्ध को भूल कर स्वयं में हीनता आरोपित कर लेता है। वहअपनी कल्पित हीनता को दूर करने के लिए तथाकथित बड़े लोगों से किसी-न-किसी प्रकार का सम्बन्ध जोड़ना चाहता है। इन सम्बन्धों का आधार 'जाति, पाँति, कुल, धर्म' आदि होता है। इनमें से किसी वस्तु का अभाव लोक-दृष्टि से अपमान का कारण बन जाता है। प्रभु इन्हें 'बिना जल के मेघ' की उपमा देते हैं :

जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई।
धन बल परिजन गुन चतुराई॥
भगति-हीन नर सोहइ कैसा।
बिनु जल बारिद देखिअ जैसा॥

एकमात्र जीव और ईश्वर का सम्बन्ध 'कारण-रहित' है; इसीलिए वे सबके सुहृद् और सखा हैं :

राम प्रान प्रिय जीवन जी के।
स्वारथ-रहित सखा सब ही के॥

इस सिद्धान्त का सबसे बड़ा दृष्टान्त निषाद और प्रभु के मिलन में प्राप्त होता

है। वे सबके स्वार्थरहित सखा हैं। इसीलिए वे लोक-दृष्टि से अस्पृश्य माने जाने वाले निषाद को भी 'सखा' कहकर ही सम्बोधित करते हैं। जो निषाद लोक-दृष्टि में ज्ञान-शून्य था, वह प्रभु की दृष्टि में 'सुजान' है। सुजान शब्द का अर्थ है, 'सुन्दर जानने वाला'। मानस में यह विशेषण श्रीरामभद्र के लिए बहुधा प्रयुक्त किया गया है :

यह प्राकृत महिपाल सुभाऊ।
जान **सिरोमनि कोसल राऊ॥**

× ×

प्रनतपाल सर्वग्य *सुजानू*।

× ×

अस जिय जानि *सुजान* **सिरोमनि।**
लेइअ संग मोहि छाड़िअ जनि॥

यदि प्रभु सुजान हैं तो उनका सखा जीव अजान कैसे हो सकता है? प्रभु से अपने सम्बन्ध को न जानना ही सबसे बड़ा अज्ञान है। ईश्वर को पहिचान कर उनके प्रति समर्पित हो जाना ही सुजानता का सबसे बड़ा प्रमाण है। संसार की दृष्टि में 'सुजानता' की जो परिभाषा है, उसे तुलसी स्वीकार नहीं करते। सांसारिक वैभव के लिए प्रयत्नशील सुजान को वे सबसे बड़ा गँवार मानते हैं :

झूठो है झूठो है झूठो महा जग, संत कहंत जे अंत लहा है।
ताको सहै सठ! संकट कोटिक काढ़त दंत करन्त हहा है॥
जानपनी को गुमान बड़ो तुलसी के बिचार गँवार महा है।
जानकी-जीवन जान न जान्यो तो जान कहावत जान्यो कहा है॥

जीवन में पहली बार निषाद 'कहेहु सत्य सब' कहकर सम्मानित किया गया। निषाद तो लोक-दृष्टि में 'कपटी' था, उससे सत्य की आशा कौन करता? दरिद्रता ऐसा अभिशाप है जो व्यक्ति के सद्‌गुणों को प्रकाशित ही नहीं होने देता। उसके अच्छे कार्यों में भी समाज पाखण्ड की ही कल्पना करता है। प्रभु की दृष्टि में लोभ और भय से संचालित होने वाला व्यक्ति सत्य-निष्ठ नहीं हो सकता था। निषाद लोभ और भय की प्रवृत्ति से पूरी तरह मुक्त हैं, इसका परिचय तो आज उनके व्यवहार से ही प्राप्त हो गया। राजा का स्वागत तो सारी प्रजा करती है; किन्तु सत्ता-विहीन व्यक्ति का स्वागत तो वही कर सकता है, जिसमें लोभ और कामना का अभाव हो। राजनैतिक दृष्टि से सोचने वाला व्यक्ति एक ऐसे व्यक्ति का स्वागत भी नहीं करेगा, जिसके स्थान पर दूसरा व्यक्ति सिंहासनासीन

हो रहा हो। उसे यह भय सतावेगा कि नया सत्ताधीश कहीं इससे रुष्ट न हो जाय। अतः जिस व्यक्ति में भय और लोभ का अभाव है, वह असत्य का आश्रय क्यों लेगा ? इसीलिए प्रभु निषाद की सत्य-निष्ठा की सराहना करते हैं।

आध्यात्मिक दृष्टि से प्रभु के द्वारा यह जीव के उद्‌बोधन का प्रयास है। श्रीराम के दर्शन का फल भी यही है। स्वयं श्रीराम ही यह घोषित करते हैं कि मेरे दर्शन से जीव को अपने सहज स्वरूप का ज्ञान होता है :

मम दरसन फल परम अनूपा।
जीव पाव निज सहज सरूपा।।

जीवन का सहज स्वरूप क्या है ? ब्रह्म सच्चिदानन्द है :

राम सच्चिदानन्द दिनेसा।
नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा।।

जीव सच्चिदानन्द ब्रह्म का अंश है। अतः उसमें भी वही सत्-चित्-आनन्द विद्यमान है। किन्तु वह अपने स्वरूप को भूलकर दुःखी हो रहा है। उसने भ्रांति के कारण देह और गेह को ही अपना स्वरूप मान लिया है :

जिव जव ते हरि ते विलगान्यो।
तब ते देह-गेह निज मान्यो।।
माया-बस स्वरूप बिसरायो।
तेहि कारन नाना दुख पायो।।

आचार्य व प्रभु के द्वारा उसे अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होता है। "अरे ! तुम तो आनन्द-सिन्धु के निवासी हो। उसे न जानकर ही प्यास के मारे मर रहे हो" :

आनँद सिन्धु मध्य तव बासा।
बिनु जाने कस मरसि पिआसा।।

आज निषाद को भी प्रभु ने सांकेतिक भाषा में उसी स्वरूप का साक्षात्कार कराया।

"कहेहु सत्य सब" में जीव के सत्-स्वरूप की ओर इंगित था। सत्-जीव में असत् आ भी कैसे सकता है। 'सुजाना' में 'चित्' तत्त्व की ओर संकेत था। चित् का तात्पर्य है, चैतन्य, जिसमें जड़ता (अज्ञान) का लेश नहीं है—"तुम जड़ नहीं, साक्षात् चैतन्य हो। इसीलिए तुम्हें मैं 'सुजान' कहकर सम्बोधित करता हूँ।"

सखा का तात्पर्य है—"यदि मैं आनन्द-रूप हूँ, तो मित्रता के नाते तुम्हारा भी उसमें समान भाग है।"

इस उद्‌बोधन के पश्चात् निषाद में दैन्य और निराशा का लेश भी नहीं रह जाता। उन्हें अपने सखा-धर्म का स्मरण रहता है। सेना-सहित श्रीभरत के आगमन का समाचार उन्हें रंच-मात्र भयभीत नहीं कर पाता। वे उनकी विशाल सेना से जूझने के लिए सन्नद्ध हो जाते हैं। लड़ते हुए मारे जाने में कोई आपत्ति नहीं है। युद्ध में शरीर का ही विनाश होता है, वह तो क्षणभंगुर ही है। जीव अमर है, उसे कैसा भय :

समर मरन पुनि सुरसरि तीरा।
राम काज छन भंगु सरीरा॥
भरत भाइ नृप मैं जन नीचू।
बड़े भाग अस पाइय मीचू॥
तजउँ देह रघुनाथ निहोरे।
दुहू हाथ मुद मोदक मोरे॥

इस तरह प्रभु ने एक नन्हें वाक्य द्वारा ऐसा उद्‌बोधन दिया, जिससे निषाद कृत-कृत्य हो गए। समाज ने उन्हें लघु-से-लघु बना दिया था। कपटी, कायर, कुमति अथवा कुजाति कहकर ही उन्हें सम्बोधित किया जाता था; किन्तु श्रीराम-भद्र के अपनत्व ने उन्हें भुवन-भूषण बना दिया। श्रीभरत उनका परिचय पाते ही रथ छोड़कर उनसे मिलने के लिए दौड़ पड़ते हैं। निषादराज को हृदय से लगाकर कुशल-प्रश्न पूछते हैं। निषादराज बड़े गौरव से प्रभु के स्नेह का स्मरण करते हैं, जिसने उन्हें लोक-वंद्य बना दिया। गद्‌गद-कण्ठ से वे घोषणा करते हैं :

कपटी कायर कुमति कुजाती।
लोक बेद बाहर सब भाँती॥
राम कीन्ह आपन जब ही ते।
भयउँ भुवन भूसन तब ही ते॥

निषादराज के प्रस्ताव पर भी प्रभु उनके ग्राम-वास के आमंत्रण को स्वीकार नहीं करते। इस तरह निषादराज के स्नेह का समादर करते हुए भी प्रभु मर्यादा-पथ से विचलित नहीं होते। यही उनके चरित्र का सन्तुलन है, जो सामाजिक सुव्यवस्था और वैयक्तिक भावनाओं की परितृप्ति के लिए आवश्यक है।

आध्यात्मिक अर्थों में इससे ईश्वर के प्रति समर्पण की प्रक्रिया का ज्ञान होता

है। संसार में जब किसी को कोई भेंट दी जाती है, तब वह पदार्थ को स्वीकार कर लेता है। भावनाओं का मूल्य भी वह पदार्थ की मात्रा अथवा उसके मूल्य से आँकता है। किन्तु ईश्वर वस्तु का नहीं, भावना का भूखा है :

लघु भाग-भाजन उदधि उमग्यो लाभ सुख चित चाय कै।
तेहि मातु ज्यों आदरी सानुज राम भूखे भाय कै।।

यद्यपि प्रभु निषादराज के गाँव में जाकर उनकी सम्पत्ति को स्वीकार नहीं करते, किन्तु निषादराज की भावनात्मक सम्पत्ति के समर्पण को स्वीकार करने में वे अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव करते हैं।



।। श्रीरामः शरणं मम ।।

नाथ आजु मैं काह न पावा।
मिटे दोष दुख दारिद दावा॥
बहुत काल मैं कीन्हि मजूरी।
आजु दीन्हि बिधि बन भलि भूरी॥
अब कछु नाथ न चाहिअ मोरे।
दीन दयाल अनुग्रह तोरे॥

अर्थ —"हे नाथ ! आज मैंने क्या नहीं पा लिया। आज मेरे जीवन के दोष, दुःख और दरिद्रता की सारी जलन समाप्त हो गई। मैंने बहुत समय तक मजदूरी की परन्तु ब्रह्मा ने आज अच्छी और भरपूर मजदूरी दिलवाई। हे दीनदयाल ! आपकी कृपा से अब मुझे और कुछ नहीं चाहिए।"

हठीला केवट अपनी अटपटी वाणी से प्रभु के हृदय को गुदगुदा देता है। राघवेन्द्र के उन्मुक्त हास्य से गंगा-तट मुखरित हो उठा :

सुनि केवट के बैन, प्रेम लपेटे अटपटे।
बिहँसे करुनाऐन, चितइ जानकी लखन तन।।

इतना ही नहीं, वह राघव को अपनी इच्छानुकूल चलने को बाध्य कर देता है। उसका आग्रह था कि "यदि आपको पार जाना है तो चरण धुलाकर ही आप इस संकल्प की पूर्ति कर सकते हैं। क्योंकि आपके श्रीचरणों की रज में मानवी बना देने की दिव्य जड़ी है। अतः नाव पर बैठाने के पहले आपको चरण धुलाने होंगे। यह चरण-प्रक्षालन भी 'आपकी (प्रभु की) आवश्यकता है', इसलिए आपको ही मुझसे चरण धोने का अनुरोध करना होगा" :

चरन कमल रज कहँ सब कहई।
मानुष करनि मूरि कछु अहई॥
छुअत सिला भइ नारि सुहाई।
पाहन ते न काठ कठिनाई॥
तरनिउ मुनि घरनी होइ जाई।
बाट परइ मोरि नाव उड़ाई॥
एहि प्रतिपालउँ सब परिवारू।
नहिं जानउँ कछु अउर कबारू॥
जौं प्रभु पार अवसि गा चहहू।
मोहि पद पदुम पखारन कहहू॥

कोसलकिशोर ने उसकी आकांक्षा के अनुकूल ही व्यवहार किया। उससे आग्रह-भरे स्वर में शीघ्रतापूर्वक चरण धोकर पार उतारने का अनुरोध किया :

सुनि कृपालु बोले मुसुकाई।
सोइ करु जेहि तब नाव न जाई॥
बेगि आनु जल पायँ पखारू।
होत बिलम्ब उतारइ पारू॥

किन्तु प्रभु को पार उतारने के पश्चात् केवट कुछ बदला हुआ-सा प्रतीत होने लगा। जिस समय गंगा-तट पर राघव आकर खड़े हुए, केवट ने उन्हें प्रणाम अथवा दण्डवत् करने की शिष्टता नहीं दिखलाई। रामभद्र के खड़े रहने पर भी वह नौका में बैठा हुआ वहीं से उनसे वार्तालाप करने लगा। नौका लाने का आग्रह उसने अस्वीकार कर दिया। तुलसी तो इस दृश्य को देखते ही विस्मय-भरे शब्दों में प्रभु के ऐश्वर्य का स्मरण करते हैं—"अजामिल-जैसे कोटि-कोटि दुष्टों को भव-सरिता में डूबते हुए देखकर जिन्होंने अपनी करुणा के आश्रय से उबार लिया, जिनके स्मरण-मात्र से सुमेरु पर्वत रज-कण के समान और समुद्र अजाखुर-जैसा हो जाता है, जिनके चरणों से विनिस्सृत गंगा कठिन पापों को भी विनष्ट कर देती हैं, वे जगदीश्वर राम, इस सरिता को पार करने के लिए खड़े होकर नाव माँग रहे हैं" :

नाम अजामिल ते खल कोटि अपार नदी भव बूड़त काढ़े।
जो सुमिरे गिरि मेरु सिलाकन होत अजाखुर बारिधि बाढ़े॥
तुलसी जेहि के पद पंकज ते प्रगटै तटिनी जो हरै अघ गाढ़े।
ते प्रभु या सरिता तरिबे कहँ माँगत नाव करारे ह्वै ठाढ़े॥

ऐसा अद्‌भुत व्यवहार करने वाला केवट प्रभु को पार उतारते ही शिष्टता की मूर्ति बन बैठा :

केवट उतरि दंडवत कीन्हा।

किन्तु दण्डवत् की प्रक्रिया इसी समय उपयुक्त भी थी। लगता है, दण्डवत् में छिपे हुए प्रतीकार्थ को केवट भलीभाँति जानता था। दंड के समान भूमि पर पड़कर प्रणाम करने की प्रक्रिया को दण्डवत् कहते हैं। दंड (डंडा) में अपनी चेतना और आकांक्षा नहीं होती है। वह जिसके हाथ में होता है, उसी की इच्छा के अनुकूल कार्य करता है। मान-अपमान, प्रहार और संरक्षण किसी भी प्रक्रिया में वह स्वतन्त्र नहीं है। समग्र समर्पण ही दण्डवत् है। प्रारम्भ में ही दण्डवत् कर देने पर केवट उस अनोखे वार्त्तालाप का अधिकार खो देता, जिसके द्वारा वह प्रभु को हँसाने में समर्थ हुआ था। दण्डवत् के बाद नौका न ले आना विरोधाभास-सा प्रतीत होता। अपने प्रारम्भिक उद्देश्य की पूर्ति के पश्चात् वह समर्पण की भावना को अभिव्यक्त करने के लिए दण्डवत् करता है।

प्रारम्भ में केवट का उद्देश्य प्रभु को हँसाना ही था। इस उद्देश्य के पीछे उसकी प्रेममयी भावना विद्यमान थी। वह उस गम्भीर और उदासी-भरे वातावरण से कोसलकिशोर को मुक्त करना चाहता था, जो सुमन्त की बिदाई के करुण दृश्य से निर्मित हुआ था। महामन्त्री सुमन्त को महाराजश्री ने प्रभु को लौटाने के लिए भेजा था। वे अपने प्रयत्न में असफल रहे, ग्लानि और लज्जा के कारण वे बालकों के समान रुदन करने लगे :

नृप अस कहेउ गोसाइँ जस, कहइ करौं बलि सोइ।
करि बिनती पायन्ह परेउ, दीन्ह बाल जिमि रोइ॥

बाद में तो वे स्वयं साथ चलने का आग्रह करने लगे। राघव इसे कैसे स्वीकार कर सकते थे? बड़ी कठिनाई से वे सुमन्त को साथ चलने से रोक पाए। ऐसे बोझिल वातावरण में ही वे गंगा-तट पर आकर खड़े हो गए। स्नेहिल केवट का हृदय प्रभु की मुखाकृति देखकर व्याकुल हो गया। उसने मन-ही-मन यह निर्णय किया कि कुछ ऐसी बात की जाय, जिससे रामभद्र आह्लादित हो जायँ। उनकी मुखाकृति पर हँसी थिरक उठे। शृंगवेरपुर का आवास भले ही अल्पकालिक रहा हो, किन्तु उसमें रामभद्र के शील-सौजन्य की जो झाँकी देखने को मिली, उसी से केवट का यह साहस हुआ कि वह उनसे ऐसी अटपटी भाषा में वार्त्तालाप कर सका।

बहुधा केवट और निषादराज को लेकर मानस के अध्ययनकर्त्ताओं में एक

विवाद रहा है। एक पक्ष केवट और निषादराज को एक ही मानता है। दूसरा पक्ष दोनों को अलग-अलग व्यक्ति स्वीकार करता है। गोस्वामीजी की शब्दावली से दोनों पक्षों को अपने समर्थन के लिए कुछ वाक्य प्राप्त हो जाते हैं। लगता है, स्वयं गोस्वामीजी भी इस रहस्य को सुलझाने के लिए बहुत व्यग्र नहीं थे। उन्होंने अपने शब्दों के माध्यम से एक भूलभुलैया की सृष्टि कर दी है। इसमें भटकते हुए श्रोता और पाठक की कल्पना उन्हें प्रिय लगती रही होगी। जब उनका केवट प्रभु के लिए व्यंग-विनोद की नयी सृष्टि रच रहा था, तब तुलसी अपने श्रोता और पाठक से विनोद का आनन्द क्यों न लेते ? इसके पीछे उनकी एक भावनात्मक समस्या कार्य कर रही थी।

उपासनाशास्त्र में ईश्वर और जीव के बीच में पाँच प्रकार के सम्बन्धों की भावना की गई है। वे इस प्रकार हैं—

१. 'दास्य'—ईश्वर परम करुणामय स्वामी हैं और जीव उनका दास है।
२. 'सख्य'—ईश्वर और जीव परम सुहृद् सखा हैं।
३. 'वात्सल्य'—ईश्वर बालक बनकर जीव को वात्सल्य रस का पान कराने के लिए उसे पिता बना लेते हैं।
४. 'मधुर'—ईश्वर प्रियतम हैं और जीवात्मा उनकी प्रियतमा।
५. 'शान्त'—जीव और ब्रह्म तात्त्विक दृष्टि से एक ही हैं। अतः अपनी अन्तरात्मा के रूप में ईश्वर से की जाने वाली प्रीति शान्त भाव के अन्तर्गत आती है।

रामचरितमानस में 'सेवक-सेव्य' भाव को ही सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया गया है। भुशुण्डिजी का तो यही आग्रह है कि 'सेवक-सेव्य' भाव के बिना कोई भव-सागर से पार नहीं जा सकता :

सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजिअ राम पद पंकज, अस सिद्धान्त बिचारि।।

निश्चित रूप से उपासना का विशाल भवन सेवक-सेव्य भावना की नींव पर ही टिका हुआ है। कुछ लोग मधुर भाव को ही उपासना में सर्वोच्च स्थान देते हैं। यदि इसे स्वीकार भी कर लें कि उपासना के भवन का सर्वोच्च शिखर मधुर रस ही है, फिर भी यह मानना ही होगा कि वह सर्वोच्च शिखर दास्य-भावना की नींव पर टिका हुआ है। दास्य-भावना का मुख्य उद्देश्य प्रभु की सेवा और उनका सुख है। दास के जीवन में यदि स्वार्थ का लेश भी हुआ तो वह सच्ची सेवा नहीं कर सकता। सर्व-त्याग ही सेवा का बल है :

भानु पीठि सेइअ उर आगी।
स्वामिहिं सर्व भाव छल त्यागी।।

अन्य भावनाओं में सबसे बड़ा भय यही है कि इन सम्बन्धों में प्राप्त अधिकार के द्वार कहीं उपासक स्वसुख की पूर्ति में संलग्न न हो जाए। स्वसुख की भावना पर आधारित उपासना का भवन चिर-स्थायी नहीं हो सकता। "भव न तरिअ" में इसी कठिनाई की ओर संकेत किया गया है। संसार सागर है और उपासना नौका के समान है। सुदृढ़ नौका पर बैठकर व्यक्ति समुद्र के पार जाने की कल्पना तो कर सकता है, किन्तु अनेक ऐसी कठिनाइयाँ आ सकती हैं, जिनसे यात्री नौका-सहित समुद्र में ही डूब जाए। सबसे अधिक आवश्यकता नौका के निश्छिद्र होने की है। उपासना की नौका में स्वसुख की आकांक्षा ही सबसे बड़ा छिद्र है। क्योंकि संसार-सागर है क्या ? अपने सुख की अभिलाषा ही तो संसार है। नौका में बैठा हुआ व्यक्ति तभी तक जल में सुरक्षित है, जब तक नौका में छिद्र न हो।

दूसरी समस्या कर्णधार की है। यदि उपासना की नौका पर अहंकार कर्ण-धार बनकर बैठ जाए, तब वह यात्री उपासना की नौका में चलता हुआ भी लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकता। सेवक-सेव्य भावना के द्वारा ही व्यक्ति इन दोनों पर विजय प्राप्त कर सकता है। सेवक स्वसुख की भावना से शून्य होता है। उसके जीवन में अहंकार भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह निरन्तर स्वयं को लघु मानकर चलता है। किन्तु सख्य, माधुर्य आदि भावों में स्वसुख और अहंकार दोनों के आने की सम्भावना बनी रहती है। ईश्वर से बराबरी की भावना कहीं व्यक्ति के अहं-प्रदर्शन का माध्यम न बन जाय, यह सजगता सखा के जीवन में होनी ही चाहिए। मधुर रस की आड़ में स्वसुख की भावना बहुधा उपासकों के जीवन में आ जाती है। इस समस्या के समाधान के लिए अन्य भावों के साथ-साथ सेवक-सेव्य भावना को स्वीकार करना सुरक्षा का सबसे बड़ा साधन है। इसीलिए रामचरितमानस में अन्य सभी भावोंकी अपेक्षा सेव्य-सेवक भावना को अधिक महत्त्व दिया गया है।

निषादराज को प्रभु ने सखा कहकर सम्बोधित किया है, किन्तु उनके चरित्र में भी सख्य की अपेक्षा दास्य भाव का ही महत्त्व अधिक है। निषादराज के चरित्र में दास्य की मर्यादा के कारण जिस सख्य-भाव का पूरा प्राकट्य नहीं होता, केवट के वार्तालाप में गोस्वामीजी ने उसी सख्य-भाव को अभिव्यक्ति दी है। स्थूल रूप से केवट और निषाद भले ही दो पात्र हों, किन्तु भावनात्मक पूर्णता के लिए यदि दोनों को मिलाकर एक चित्र प्रस्तुत किया जाए तो वह दास्य-मिश्रित सख्य का सर्वश्रेष्ठ दृष्टान्त होगा। निषादराज के लिए प्रभु के मुख से किया जानेवाला

'सखा' सम्बोधन सबसे अधिक केवट को प्रोत्साहित करता है। उसे लगा कि इनसे भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। इन्हें तो सख्य की भावना प्रिय है, इसलिए क्यों न इस भावना का ही रस प्राप्त किया जाय ! केवट का वार्त्तालाप औपचारिकता-विहीन सख्य-भावना को ही प्रकट करता है, किन्तु इस प्रसंग का समापन दास्य-भावना के ही अनुरूप है। सख्य-भाव के द्वारा प्रभु के आनन्द को अभिव्यक्ति देने के बाद केवट दास्य के अनुकूल व्यवहार करने लग जाता है। प्रभु के नौका से उतरते ही केवट ने उनके चरणों में साष्टांग प्रणाम किया। इस नमन में क्षमा-याचना का भाव भी मिश्रित था—मैंने आपसे बातचीत करते हुए बड़ी ही ढिठाई का परिचय दिया है। मैं तो आपका एक तुच्छ सेवक हूँ—यद्यपि यह अपराध भी आपके वात्सल्य के बल पर ही किया गया है।

किन्तु इस प्रणाम ने तो प्रभु को कृतज्ञता के बोझ से दबा दिया। वे सोचने लगे इस केवट को मैंने कुछ भी तो नहीं दिया। इसने अपनी रसमयी वाणी से मुझे आह्लादित किया। आज मैं स्वयं को कितना उन्मुक्त अनुभव कर रहा हूँ ! अयोध्या में वन-गमन के समाचार से प्रभु को जिस प्रसन्नता की अनुभूति हुई थी, उसके लिए गोस्वामीजी ने बड़ी सार्थक भावमयी उपमा दी—"श्रीराम का मन तो जंगल से पकड़े हुए नवीन हाथी की तरह था। उसे राज्य-बाड़े में बन्दी बनाया जा रहा था। वन-गमन के समाचार से वह हाथी आनन्दित हो उठा" :

नव गयन्द रघुबीर मन, राज अलान समान।
छूट जान बन गमन सुनि, उर अनन्द अधिकान ॥

मनुष्य हाथी को नगर में ले आकर सजाता है। उसके मुख पर रंग-बिरंगी चित्रकारी करता है। मणि-स्वर्णखचित झूल से सजाता है। उसके कण्ठ में बजने वाली घण्टियों को धारण कराते हुए भले ही यह सोच रहा हो कि वह हाथी को सम्मान दे रहा है, उसकी गौरव-समृद्धि में वृद्धि कर रहा है, परन्तु कोई हाथी के मन से पूछे ! विशेष रूप से उस गज से, जो कुछ समय पहले पकड़ा गया हो। परतन्त्रता का अभ्यस्त हाथी वन की स्वतन्त्रता को भूल जाता है; किन्तु वन में उन्मुक्त विहार करने वाले हाथी को यह सारा शृंगार भार ही प्रतीत होता है। वह तो इस कारागार से मुक्त होकर वन-विहार के लिए व्यग्र रहता है।

प्रभु के मन-गयंद को अयोध्या का राज्य कारागार-जैसा प्रतीत हो रहा था। उसका विधि-विधान, उसकी मर्यादा की कल्पना ही उन्हें भार लग रही थी, भले ही महाराज श्रीदशरथ, प्रजा, पुरवासी इसे राम के गौरव में वृद्धि समझ रहे हों। पर रामभद्र की प्रसन्नता उस समय हृदय में समा नहीं पा रही थी जब उन्हें राज्य से मुक्ति का समाचार मिला। उन्मुक्त गयन्द वन की ओर चल तो पड़ा,

किन्तु सुमन्त्र की उपस्थिति से उसे यह लग रहा था कि उसे पुनः लौटाने की चेष्टा की जा रही है। मर्यादा, आज्ञपालन, कर्त्तव्य के स्वर कहाँ समाप्त हुए थे ? सुमन्त्र को बिदा कर वे गंगा-तट पर आए। यहीं आकर 'नव गयन्द' को वन के उन्मुक्त आनन्द का बोध हुआ। यह सम्पूर्ण उन्मुक्तता की अनुभूति केवट के वार्त्तालाप से हुई। आज पहली बार प्रभु को खुलकर हँसने का अवसर मिला। 'बिहँसे करुन ऐन' यह एक नई बात थी। हँसी आनन्द की अभिव्यक्ति का सबसे बड़ा चिह्न है। हँसी की भी एक मात्रा होती है। कभी आनन्द बाहर प्रकट करना उचित नहीं जान पड़ता है तब उसे विवेक के माध्यम से नियंत्रित रखना पड़ता है। ऐसे अवसर प्रभु के समक्ष भी आते थे। परशुराम की उपहासास्पद चेष्टाओं को देखकर हँसी आना चाहती है, परन्तु राम दूसरों की भावना का बड़ा ध्यान रखते हैं, इसलिए वे हँसी को मन से बाहर नहीं आने देना चाहते :

भृगुपति बकहिं कुठार उठाए।
मन मुसुकाहिं राम सिर नाए॥

गुरुजनों की मर्यादा वे कभी विस्मृत नहीं करते। उनके समक्ष उनके होठों पर आने वाली हँसी सर्वदा नियंत्रित रहती है :

देखि राम जननी अकुलानी।
प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसुकानी॥

एक बार जी खोलकर 'बिहँसने' का मन हुआ, किन्तु वहाँ भी गुरुजनों की उपस्थिति का बोध बना रहा। अतः बात 'मन बिहँसे' तक ही पहुँची :

गौतम तिय गति सुरति करि, नहिं परसत पग पानि।
मन बिहँसे **रघुबंस मनि, प्रीति अलौकिक जानि॥**

वह उन्मुक्त हँसी, जो केवट की बातें सुनकर फट पड़ी थी, पहले न अयोध्या में आई, न जनकपुर में :

सुनि केवट के बैन, प्रेम लपेटे अटपटे।
बिहँसे करुनाऐन, चितइ जानकी लखन तन॥

प्रभु सबको मुक्त करते हैं, किन्तु मर्यादा के कारागार से प्रभु की हँसी को उन्मुक्त करने वाला यह केवट कितना महान् है ! प्रभु को लगा, इसका क्या पुरस्कार हो सकता है ? केवट ने पार उतारने के पहले चरण का प्रक्षालन करके मेरा पथ-श्रम दूर करने की चेष्टा की। उसकी इन सेवाओं के बदले में मैं क्या

दूँ ?" प्रभु के इस शील को ही तुलसी जीव के लिए सबसे बड़ा आश्वासन मानते हैं। जीव के द्वारा की गई ढिठाई को वे स्नेह मानते हैं। श्रीभरत भी गद्गद-कण्ठ से कह उठते हैं :

सो मैं सब बिधि कीन्ह ढिठाई।
प्रभु मानी सनेह सेवकाई॥

उन्हें दूसरों की क्रिया में प्रीति का दर्शन होता है :

श्रीरघुबीर की यह बानि !
नीचहू सों करत नेह, सुप्रीति मन अनुमानि॥१॥
परम अधम निषाद पाँवर, कौन ताकी कानि।
लियो सो उर लाइ सुत ज्यों प्रेम को पहिचानि॥ २॥
गीध कौन दयालु जो बिधि रच्यो हिंसा सानि।
जनक ज्यों रघुनाथ ता कहँ दियो जल निज पानि॥ ३॥
प्रकृति-मलिन कुजाति सबरी, सकल अवगुन खानि।
खात ताके दिए फल अति रुचि बखानि-बखानि॥ ४॥
रजनिचर अरु रिपु बिभीषन, सरन आयो जानि।
भरत ज्यों उठि ताहि भेंटत, देह-दसा भुलानि॥ ५॥
कौन सुभग सुसील बानर, जिनहिं सुमिरत हानि।
किए सब सखा पूजे, भवन अपने आनि॥ ६॥
राम सहज कृपालु कोमल, दीन हित दिन दानि।
भजहि ऐसे प्रभुहि तुलसी, कुटिल कपट न ठानि॥ ७॥

शीलसिंधु के संकोच को जनकनन्दिनी ने तत्काल जान लिया। प्रभु के अन्तर्मन को उनसे अधिक जान भी कौन सकता है ! वे 'पिय-हिय की जाननिहारी' हैं। दूसरे के हृदय की बात जान पाना कठिन है। अधिकांश व्यक्ति तो सच्चे अर्थों में अपने ही हृदय की बातों को नहीं जानते, फिर दूसरों का तो प्रश्न ही क्या है ? दूसरों के अन्तर्मन की बात जानने के लिए योग और प्रेम के दो मार्ग हैं। जैसे चश्मे के द्वारा दृष्टि-शक्ति बढ़ जाती है, वैसे ही योगाभ्यास के माध्यम से व्यक्ति अवरोधों को पार करके दूसरों के अन्तर्मन की बात जान लेता है। इसके अनगिनत दृष्टांत योगियों और सिद्धों के जीवन में प्राप्त होते हैं। किन्तु यह सामर्थ्य कभी-कभी बड़ी विक्षेपकारी सिद्ध होती है। दूसरों के अन्तर्मन में उठने वाले भावों को जान लेने की सामर्थ्य का प्रदर्शन करने वाला व्यक्ति लोक-दृष्टि में सम्मान पाकर अपने अहं को तुष्ट करने का प्रयास कर सकता है। किन्तु इससे

उसके अन्तःकरण में अशान्ति की ही वृद्धि होती है। प्रेमी दूसरों के अन्तर्मन में उठने वाली बातों को जानने की चेष्टा भी क्यों करे ? उसका मन निरन्तर प्रियतम का चिन्तन करता हुआ तदाकार हो जाता है। इसलिए प्रिय के मन में उठने वाले संकल्पों को जान लेना उसके लिए कठिन नहीं होता। श्रीसीता आदिशक्ति हैं, समस्त सिद्धियाँ उनकी सेवा में संलग्न रहती हैं :

लोकप होंहि बिलोकत तोरे।
तोहि सेवहिं सब सिधि कर जोरे।।

इसलिए अन्तर्यामित्व की सिद्धि भी उनमें विद्यमान है। किन्तु समग्र रामचरितमानस में उन्होंने अपनी इस सामर्थ्य का कहीं उपयोग नहीं किया। ऐश्वर्यमूलक चरित्र के स्थान पर मानस में विदेह-नंदिनी के माधुर्य-भरे चरित्र को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। उनके द्वारा सिद्धियों के प्रयोग का वर्णन केवल दो ही अवसरों पर प्राप्त होता है। एक बार सिद्धियों का प्रयोग अयोध्या से आई हुई बारात की सेवा के लिए किया गया :

जानी सिय बरात पुर आई।
कछु निज महिमा प्रगटि जनाई।।
हृदय सुमिरि सब सिद्धि बोलाईं।
भूप पहुनई करन पठाईं।।
सिधि सब सिय आयसु अकनि, गईं जहाँ जनवास।
लिए सम्पदा सकल सुख, सुरपुर भोग-बिलास।।

दूसरी बार वे चित्रकूट में स्वयं ही अनेक रूप बना लेती हैं। अयोध्या से आई हुई सासुओं की सेवा के लिए ही इस सिद्धि का प्रयोग किया गया था :

सीय सासु प्रति वेष बनाई।
सादर करिअ सरिस सेवकाई।।
लखा न मरमु रामु बिनु काहू।
माया सब सिय माया माहूँ।।

चमत्कार और ऐश्वर्य के लिए वे सिद्धियों का उपयोग नहीं करती हैं। अन्तर्यामित्व का प्रयोग तो उन्होंने कभी जीव पर किया ही नहीं। यदि वे अपने अन्तर्यामित्व का प्रयोग करतीं तो साधु-वेशधारी रावण को तत्काल पहिचान लेतीं। श्रीहनुमान के प्रति अशोक-वाटिका में संशय उत्पन्न होने पर भी अन्तर्यामित्व के स्थान पर उन्होंने प्रेम की कसौटी पर ही परख कर उन्हें भक्त स्वीकार किया :

कपि के बचन सप्रेम सुनि, उपजा मन बिस्वास।
जाना मन क्रम बचन यह, कृपासिंधु कर दास।।

मानो भक्त की यह आकांक्षा है कि माँ अपने अन्तर्यामित्व का प्रयोग हम जीवों पर न करें। यदि उन्होंने जीव के अन्तर्मन को जान लिया, तो वह वात्सल्य का अधिकारी नहीं रह जायगा। वे अपने भोलेपन के कारण जीव पर सरलता से विश्वास कर लें, तभी वह उनकी करुणा का अधिकारी बन सकता है। उनके अन्तर्यामित्व का परिचय केवल केवट-प्रसङ्ग में प्राप्त होता है। किन्तु यहाँ भी वे प्रभु के अन्तर्मन में उठने वाले संकोच को जान लेती हैं। यह उनकी प्रीति-परम्परा के अनुकूल भी है। अपने प्रियतम को छोड़कर वे अन्य किसी के मन से तदाकारता क्यों उत्पन्न करने लगीं ? इस अन्तर्यामित्व में जीव को लाभ-ही-लाभ है। प्रभु जीव को देना चाहते हैं और करुणामयी अम्बा उनके संकल्प को साकार रूप देना चाहें, इससे बढ़कर जीव के लिए आनन्द का क्या सम्वाद हो सकता है ?

माँ ने अपने कर-कमलों में धारण की हुई मुद्रिका को उतार कर प्रभु के कर-कमलों में पहुँचा दिया। प्रभु आभूषणों का परित्याग कर उदासी-वेश की मर्यादा का पालन करते हैं। श्रीकिशोरीजी आभूषणों को धारण किए हुए ही वन में पधारती हैं, किन्तु उनका यह संग्रह त्याग की अपेक्षा भी श्रेष्ठ है, क्योंकि उसका उद्देश्य प्रियतम की प्रसन्नता ही है। अपने कर-कमलों की मुद्रिका उतार कर देने में उन्हें परम सुख का अनुभव हो रहा है। प्रभु ने भी प्रसन्न-मन से केवट से उतराई लेने का आग्रह किया :

कहेउ कृपालु लेहु उतराई।
केवट चरन गहेउ अकुलाई।।

रामभद्र का यह वाक्य सुनते ही केवट व्याकुल हो उठा। प्रभु का संकोच देखकर केवट को बड़ी लज्जा का अनुभव हुआ था। उसे लगा, 'मैंने पार उतारने के बाद दण्डवत् करके भूल कर दी। सेवा के अन्त में प्रणाम करना पुरस्कार माँगने का संकेत भी माना जाता है। मेरे दण्डवत् ने ही प्रभु को संकोच में डाल दिया। ''जो सेवक स्वामी को संकोच में डाल दे उसकी बुद्धि सर्वथा मलिन है,'' वही अपराध मुझसे हुआ। श्रीभरत ने सेवक धर्म की व्याख्या करते हुए यही सूत्र प्रस्तुत किया है :

जो सेवक साहिबहि सकोची।
निज हित चहइ तासु मति पोची।।

केवट प्रभु का संकोच देखकर ही ग्लानि में गड़ा जा रहा था, पर मिथिलेश-नन्दिनी को मुद्रिका उतार कर देते देखकर उसकी व्याकुलता की कोई सीमा न रही। वह स्वयं की तुलना कैकेयी से करने लगा। कठोर-हृदया कैकेयी के कारण प्रभु को आभूषणों का परित्याग कर देना पड़ा, किन्तु वहाँ भी किसी ने विदेहजा से आभूषण उतारने का अनुरोध नहीं किया। यह कलङ्क तो मुझे ही मिलने वाला है कि मैंने वन-यात्रा में गंगा-उतराई के लिए उन्हें आभूषण उतारने को बाध्य किया। चरण-प्रक्षालन का स्मरण आते ही उसके भावुक मन में मिथिलेश-किशोरी के विवाह की स्मृति का उभर आना स्वाभाविक था। विवाह के अवसर पर महाराज श्रीजनक ने चरण पखारने का सौभाग्य पाया होगा। उसके पश्चात् आभूषण-अलंकृता किशोरीजी का अर्पण किया होगा। दूसरा चरण धोने वाला मैं हूँ, जिसे उन आभूषणों में से उतराई दी जा रही है। मैंने प्रारम्भ में ही प्रभु से कह दिया था कि "मुझे उतराई नहीं चाहिए।" यह वाक्य तो धृष्टता की पराकाष्ठा थी। मानो मैं इस वाक्य के द्वारा उदार-शिरोमणि के समक्ष अपनी उदारता के दंभ का प्रदर्शन कर रहा था। मेरी निष्कामता के मिथ्या प्रदर्शन को पहिचान कर ही प्रभु उतराई लेने का आग्रह कर रहे हैं। "केवट चरन गहेउ अकुलाई" के पीछे कुछ ऐसी ही भावनाएँ केवट के अन्तर्मन में उठ रही होंगी।

व्याकुल हृदय और उच्छ्वसित कण्ठ से केवट बोल पड़ा :

नाथ, आजु मैं काह न पावा।
मिटे दोष दुख दारिद दावा।।

"प्रभु, आज मैंने क्या नहीं पा लिया !" केवट की इस वाणी ने उसके इस दावे की यथार्थता को प्रमाणित कर दिया जो उसने प्रभु से प्रारम्भ में ही किया था। उसने प्रभु का मर्म जानने का दावा किया था :

मागी नाव न केवट आना।
कहइ तुम्हार मरमु मैं जाना।।

प्रभु के श्रीचरणों को पाने के बाद अब क्या पाना शेष रहा ? अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष के रूप में प्राप्तव्य चारों फल चरण से सुलभ हो जाते हैं।

अर्थ की उपलब्धि के लिए व्यक्ति लक्ष्मी का आवाहन और उनकी कृपा चाहता है। पद्मा की कृपा बड़ा कठिनाई से प्राप्त होती है। आने के बाद भी उनका स्थिर रहना बड़ा ही कठिन है। उनका नाम ही चंचला है। किन्तु वह लक्ष्मी भी अपना स्वभाव छोड़कर प्रभु के चरणों की सेवा में संलग्न रहती हैं :

जासु कृपा कटाच्छ सुर, चाहत चितव न सोइ।
राम पदारविन्द रति, करत सुभावहिं खोइ॥

× ×

जद्यपि परम चपल श्री संतत थिर न रहत कबहूँ।
प्रभु पद पंकज पाइ अचल भइ, करम बचन मनहू॥

(विनयपत्रिका)

उन चरणों को पाकर अर्थ की उपलब्धि में क्या संशय शेष रहा?

समस्त धर्मों के पालन का फल प्रभु के चरणों की ही उपलब्धि है। इन्हें पाने के बाद कौन धर्म शेष रहा?:

दान दया दम तीरथ मज्जन।
जहँ लगि धर्म कहहिं श्रुति सज्जन॥
आगम निगम पुराण अनेका।
कहे सुने कर सब फल एका॥
तव पद पंकज प्रीति निरन्तर।
सब साधन कर यह फल सुन्दर॥

काम अत्यंत निन्दनीय माना जाता है, किन्तु प्रभु के श्रीचरणों की कृपा से काम भी पावन हो जाता है। उसकी उपलब्धि भी इन चरणों से ही होती है। पाषाणी अहल्या काम-जन्य त्रुटि से ही अपने पति से परित्यक्ता हो गई थी, इन पाद-पद्मों के स्पर्श से पुनः चेतन होकर अपने पति के सन्निकट पहुँच जाती है:

जो अति मन भावा सो बर पावा, गै पति लोक अनन्द भरी॥

केवट के प्रारम्भिक वार्तालाप में तो यही व्यङ्ग-विनोद था—"कहीं आपके चरणों के स्पर्श से मेरी नौका सुन्दरी स्त्री बन गई, तो घर में पत्नी को कैसे समझाऊँगा?"

परसै पग धूरि तरै तरनी, घरनी घर क्यों समुझाइहौं जू?

(कवितावली)

मोक्ष का तो कहना ही क्या! चरण-विनिस्सृता गंगा का तो कार्य ही निरंतर मुक्ति का वितरण करते रहना है। स्वयं केवट की मुक्ति का तो प्रश्न ही क्या है, इस चरण-जल के द्वारा वह अपने पुरखों को भी मुक्त कर देता है।

पद पखारि जल पान करि, आपु सहित परिवार।
पितर पार करि प्रभुहिं पुनि, मुदित गयउ लै पार।।

अत: केवट का यह प्रश्न बड़ा सार्थक था—'नाथ, आजु मैं काह न पावा ?' चरण दे देने के बाद भी प्रभु का यह संकोच कि 'मैंने कुछ नहीं दिया', उनके शील-स्वभाव की ही झाँकी प्रस्तुत करता है। "प्रभु सकुचे एहि कछु नहिं दीन्हा" और "नाथ आजु मैं काह न पावा" इन दो वाक्यों में ही दान का सच्चा स्वरूप सामने आ जाता है। संसार में देने-लेने का चक्र निरन्तर चलता ही रहता है। शास्त्रों ने दान की बड़ी महिमा गायी है। वह धर्म-रूप वृषभ का एक चरण है, किन्तु व्यवहार में इसका जो स्वरूप सामने आता है, वह सर्वथा भिन्न प्रतीत होता है। दान देनेवाले अहंकार-ग्रस्त हो जाते हैं और लेनेवाला दान पाकर भी दीनता से मुक्त नहीं होता। दान देनेवाले बहुधा सोचते हैं कि 'मैंने बहुत दिया', और लेनेवालों को लगता है, 'अभी क्या मिला ?' किन्तु जब दान देनेवाले को प्रभु के समान यह प्रतीत हो कि 'मैंने कुछ नहीं दिया' और लेनेवाले को ऐसा लगे कि 'मैंने सब-कुछ पा लिया', तभी दान की सार्थकता है।

केवट ने अपने जीवन से दोष, दु:ख और दरिद्रता के मिट जाने का दावा किया। केवट का तात्पर्य यह था कि संसार में समृद्धि पाकर भी व्यक्ति के जीवन से दोष, दु:ख और दरिद्रता का विनाश नहीं होता। विनाश की तो बात ही क्या, लेनेवाले व्यक्ति में बहुधा इन तीनों की वृद्धि हो जाती है। शास्त्रों की दृष्टि में लेना स्वयं ही दोष है। व्यावहारिक विश्व में भी लेनेवाले को सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता। ऐसी स्थिति में उसका दु:ख बढ़ जाना स्वाभाविक है। पाने के बाद भी व्यक्ति की दरिद्रता कहाँ दूर होती है ? अपितु यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि मानसिक दृष्टि से उसकी दरिद्रता बढ़ती ही जाती है। इतिहास में इसके अनगिनत दृष्टांत भरे हुए हैं। 'रामचरितमानस' में रावण इस प्रवृत्ति का सबसे बड़ा दृष्टांत है। ब्रह्मा और शंकर की प्रसन्नता से उसे अनेक वरदान प्राप्त हुए। वह स्वर्णमयी लङ्का का स्वामी बन बैठा। लङ्का प्रत्येक दृष्टि से समृद्धि के शिखर पर पहुँच गई। बहिरङ्ग दृष्टि से लङ्का उन्नत हो रही थी, किन्तु उसके स्वामी के जीवन में मानसिक दरिद्रता बढ़ती जा रही थी :

सुख सम्पति सुत सेन सहाई।
जय प्रताप बल बुद्धि बड़ाई।।
नित नूतन सब बाढ़त जाई।
जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई।।

इस दरिद्रता की चरम परिणति श्रीसीता के अपहरण में परिलक्षित होती है। इन उपलब्धियों के बाद कौन ऐसा दोष है जो रावण के जीवन में नहीं आ गया ?

काम : **देव यच्छ गन्धर्ब नर, किन्नर नाग कुमारि।**
जीति बरीं निज बाहुबल, बहु सुन्दर बर नारि॥

क्रोध : **पुनि पुनि सिंहनाद करि भारी।**
देइ देवतन्ह गारि पचारी॥

लोभ : **एक बार कुबेर पर धावा।**
पुष्पक जान जीति लै आवा॥

और अन्त में, रावण के देखते-देखते लङ्का की सारी समृद्धि समाप्त होने लगी। शूर्पणखा का विरूपीकरण, खर-दूषण का विनाश, लङ्का-ध्वंस आदि दुःख के अनेक कारण आते गए; और यह उसके दुर्भाग्य की पराकाष्ठा थी कि वह अपना दुःख भी किसी के समक्ष प्रकट नहीं कर सका। इस तरह 'कहेहू ते कछु दुःख घटि होई' का लाभ भी वह प्राप्त न कर सका।

जब केवट यह कहता है कि 'अब मुझे कुछ नहीं चाहिए', तब 'नाथ, आजु मैं काह न पावा' की सार्थकता सिद्ध हो जाती है। पाने की आकांक्षा का मिट जाना ही सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि है। जब तक व्यक्ति में पाने की अभिलाषा विद्यमान है तब तक वह सब-कुछ पाकर भी शान्ति नहीं पा सकता :

बिनु संतोष न काम नसाहीं।
काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं॥

केवट को प्रभु ने कोई बाह्य समृद्धि नहीं दी थी। मुद्रिका के रूप में वे जिस दिव्य रत्न को देना चाहते थे, उसे केवट ने लेना अस्वीकार कर दिया। किन्तु केवट को अपने स्वरूप का ज्ञान हो गया; और यह ज्ञान उसे प्रभु की कृपा से उपलब्ध हुआ था। आध्यात्मिक अर्थों में इसे इस रूप में प्रतिपादित किया जा सकता है—केवट बुध है और उसकी नौका विद्या की प्रतीक है :

केवट बुध बिद्या बड़ि नावा।

किन्तु आज तक यह केवट दरिद्रता का ही दुःख भोगता रहा; क्योंकि वह अपनी विद्यारूपी नौका का प्रयोग केवल क्षुधा-निवारण में ही कर रहा था; और जब तक विद्या का उपयोग तुच्छ कामनाओं की पूर्ति में किया जाता है, तब तक बड़े-से-बड़ा विद्वान् भी दुःख की पीड़ा से मुक्त नहीं हो सकता। अनगिनत लोगों

को नित्य पार उतारता हुआ भी केवट दीन-हीन बना रहा। विद्वान् भी बहुधा अपनी विद्या के द्वारा दूसरों को मुक्ति का मार्ग बताते रहते हैं, किन्तु स्वयं दु:ख से मुक्त नहीं हो पाते। करुणा से प्रेरित ईश्वर एक दिन भक्ति-गङ्गा के तट पर आकर खड़ा हो जाता है; उसने केवट से कोई वरदान माँगने के लिए नहीं कहा, किन्तु आज उसे वह अपने दर्शनों का परम फल दे रहा था :

मम दरसन फल परम अनूपा।
जीव पाव निज सहज सरूपा।।

प्रभु केवट से नौका की याचना करते हैं और इसके माध्यम से वे उसे यह स्मरण करा देते हैं, "मित्र, तुम दीन नहीं हो, तुम्हारे पास तो वह नौका है जिसके आश्रय से मुझे पार उतरना है। तुम बद्धनहीं, मुक्त हो।" जीव और ब्रह्म दोनों ही नित्य सखा हैं; यदि ब्रह्म मुक्तिदाता है तो जीव में भी यही सामर्थ्य है। केवट ने न केवल प्रभु को पार उतार दिया अपितु अपने पुरखों को भी मुक्त करने में समर्थ हुआ। अब केवट को और क्या चाहिए ? यहाँ "नाथ आजु मैं काह न **पावा**" और 'जीव **पाव** निज सहज सरूपा' इन दोनों पंक्तियों में **'पावा'** और **'पाव'** शब्दों का साम्य ध्यान देने योग्य है। प्रभु ने यह नहीं कहा कि जीव को मैं उसका स्वरूप **देता हूँ**। यदि वह दिया जाय तो सहज हो ही नहीं सकता, वह आगन्तुक ही माना जाएगा। अत: यहाँ 'जीव पाव' काअर्थ है,'जीव पा लेता है।' जीव अपनी ही वस्तु को, जिसे वह खोई हुई मान रहा था, पा गया। खोने की भ्रांति थी इसलिए 'पाव' शब्द का प्रयोग किया गया। वस्तुत: खोना और पाना दोनों यथार्थ नहीं हैं :

खोया कहै सो बावरा, पाया कहै सो कूर।
खोना-पाना कुछ नहीं, ज्यों का त्यों भरपूर।।

इसी को विनयपत्रिका में गोस्वामीजी स्वप्न के दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं :

मैं हरि, साधन करइ न जानी !
जस आमय भेषज न कीन्ह तस, दोष कहा दिरमानी।। १।।
सपने नृप कहँ घटै बिप्र बध, बिकल फिरै अघ लागै।
बाजिमेध सत कोटि करै नहिं, शुद्ध होइ बिनु जागै।। २।।
स्रग महँ सर्प बिपुल भयदायक, प्रगट होइ अबिचारे।
बहु आयुध धरि बल अनेक करि, हारहिं मरइ न मारे।। ३।।
निज भ्रम ते रबिकर-सम्भव सागर अति भय उपजावै।
अवगाहत बोहित नौका चढ़ि, कबहूँ पार न पावै।। ४।।

तुलसिदास जग आपु सहित, जब लगि निरमूल न जाई।
तब लगि कोटि-कलप उपाय करि, मरिय तरिय नहिं भाई ॥ ५ ॥

जब तक दाता और ग्रहीता बने रहेंगे, तब तक श्रेष्ठता और कनिष्ठता भी बनी रहेगी—देने वाला बड़ा और लेने वाला छोटा माना जाएगा—किन्तु जहाँ अपनी ही खोई वस्तु प्राप्त हो जाय वहाँ यह समस्या समाप्त हो जाती है। केवट का तात्पर्य यह था कि आपने मुझसे माँगकर मुझे इतना बड़ा बना दिया है कि मुझ में दोष, दुःख और दरिद्रता का लेश नहीं रह गया, अब देकर छोटा न बनावें। ब्रह्म सच्चिदानन्द है, उसमें दोष, दुःख और दरिद्रता का सर्वथा अभाव है। सत् में दोष कैसे सम्भव है? चित् में दरिद्रता हो ही नहीं सकती। दरिद्रता अभावजन्य होती है। चित् का तात्पर्य है एक अखण्ड चेतना, जो सर्वत्र एकरस व्याप्त है। उसे अभाव की अनुभूति कैसे होगी? आनन्द में दुःख की उपस्थिति असम्भव है? अतः केवट भी आज सच्चिदानन्द-स्वरूप हो गया।

व्यावहारिक स्तर पर प्रभु ने केवट से मुद्रिका लेने का आग्रह करते हुए 'उतराई' शब्द का प्रयोग किया। रामभद्र का तात्पर्य यह था कि यह न तो दान है और न पुरस्कार। दान या पुरस्कार को देनेवाले की उदारता माना जाता है। उतराई तो शुद्ध पारिश्रमिक है। किसी के श्रम के बदले उसे कुछ देना उदारता नहीं, केवल विनिमय-मात्र है। पारिश्रमिक न देनेवाला व्यक्ति कर्त्तव्य-च्युत और अन्यायी माना जाएगा। इसीलिए मैं उतराई लेने का आग्रह कर रहा हूँ। केवट का आग्रह था, यदि लेना ही है तो अभी नहीं लूंगा। पारिश्रमिक भी तो कार्य पूर्ण होने पर ही लिया जाता है। अभी कार्य पूरा कहाँ हुआ है? आप चौदह वर्ष के लिए बन जा रहे हैं, अतः लौटकर आना भी सुनिश्चित है। जब आप लौटकर आवेंगे तो दोनों ओर की उतराई ले लूंगा। यदि आपको यह लगता हो कि पारिश्रमिक तत्काल देना चाहिए तो मुझे भी धर्म का पालन करना चाहिए। मैं अपना पारिश्रमिक ब्रह्मा द्वारा पा चुका हूँ। मैं नित्य परिश्रम करते हुए ब्रह्मा को उलाहना ही देता रहता था—"तुमने मेरे भाग्य में क्या लिख दिया है जो इतना कम पारिश्रमिक मिलता है?" पर ब्रह्मा भी क्या करते? वह तो कर्म के अनुकूल फल देने के लिए बाध्य थे। लगता है, मेरे उलाहने से द्रवित ब्रह्मा ने आपको भेज दिया। ब्रह्मा का संकेत यह था कि "मैं तो अपने नियम से बाध्य हूँ। किन्तु अब ऐसे प्रभु को भेज रहा हूँ जो विधान से परे हैं, परम स्वतंत्र हैं। वे कर्म के अनुकूल पारिश्रमिक न देकर अपनी मर्यादा के अनुकूल देते हैं। इनसे चाहे जो पारिश्रमिक माँग लो!" वह सत्य सिद्ध हुआ। अन्य लोग कार्य होने के बाद पारिश्रमिक देते हैं। मैंने आपसे कार्य के पहले ही श्रीचरणों की याचना की, और आपने वह तत्काल पूरी कर दी।

अब एक बार पारिश्रमिक पा लेने के बाद पुनः लेना क्या अधर्म नहीं होगा ? :

बहुत काल मैं कीन्ह मजूरी।
आज दीन्ह बिधि बनि भलि-भूरी।।

हाँ, लौटते हुए पुनः पारिश्रमिक लेने का अधिकार मुझे हो जाएगा, तब लेने में मैं आपत्ति नहीं करूँगा :

फिरती बेर मोहि जो देवा।
सो प्रसाद जन सिर धरि लेवा।।

सत्य तो यह है कि केवट ने प्रभु के सन्तोष के लिए ही यह वाक्य कहे। उसके जीवन से माँगने की आकांक्षा ही समाप्त हो चुकी है। पाने की सच्ची सार्थकता भी यही है :

अब कछु नाथ, न चाहिय मोरे।
दीनदयाल अनुग्रह तोरे।।

इसीलिए तुलसी संसार से याचना करने का निषेध करते हैं। क्योंकि लोगों से माँगने पर याचकता की वृत्ति बढ़ती ही है। केवल एकमात्र प्रभु राम ही ऐसे दाता हैं जो याचकता की वृत्ति को मिटा देते हैं :

जग जाचिअ कोउ न जाचिअ जौं जिय जाचिअ जानकी जानहि रे।
जेहि जाचत जाचकता जरि जाइ जो जारति जोर जहानहिं रे।।
गति देखु बिचारि बिभीषन की अरु आनु हिए हनुमानहिं रे।
तुलसी ! भजु दारिद-दोष-दवानल-संकट-कोटि-कृपानहिं रे।।

[कवितावली, उ० कां०, २८]

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

राम सपेमु कहेउ मुनि पाहीं।
नाथ कहिअ हम केहि मग जाहीं॥
मुनि मन बिहँसि राम सन कहहीं।
सुगम सकल मग तुम्ह कहँ अहहीं॥

× ×

मुनि बटु चारि संग तब दीन्हे।
जिन्ह निज जनम सुकृत बहु कीन्हे॥

अर्थ—श्रीराम ने प्रेम-सहित महर्षि भरद्वाज से कहा—"हे नाथ! आप बतावें कि मैं किस मार्ग से जाऊँ।" महर्षि यह प्रश्न सुनकर मन में बहुत हँसे तथा प्रभु से कहा कि आपके लिए तो सभी मार्ग सुगम हैं। उसके पश्चात् मुनि ने चार विद्यार्थियों को, जिन्होंने अपने पूर्व-पूर्व जन्मों में अनेक पुण्य किए थे, प्रभु के साथ भेजा।

महर्षि भरद्वाज के आश्रम में रात्रि व्यतीत करने के बाद प्रभु प्रातःकाल वहाँ से आगे चलने के लिए प्रस्तुत हुए। महर्षि के चरणों में नमन करते हुए श्री-रामभद्र ने मार्ग के विषय में जिज्ञासा प्रकट की, "स्वामिन्! मैं किस मार्ग से यात्रा करूँ?" महर्षि मुस्करा पड़े। यह संत और भगवंत का अनोखा वार्तालाप था। कोसलेन्द्र के इस प्रश्न का क्या तात्पर्य था? उन्होंने किसी स्थान-विशेष का नाम लिए बिना ही मार्ग के विषय में प्रश्न किया। यह परम्परा के प्रतिकूल था। मार्ग का निर्णय तो गन्तव्य के निश्चय के बाद ही होता है। जहाँ तक व्यावहारिक मार्ग-दर्शन का सम्बन्ध था, निषादराज उनके साथ थे। वे विशेष रूप से मार्ग दिखाने के लिए ही प्रभु के साथ आए थे। गंगा-तट पर ही उन्होंने साथ चलने का आग्रह करते हुए उसका उद्देश्य भी बताया :

नाथ साथ रहि पंथ देखाई।
करि दिन चारि चरन सेवकाई ।।
जेहि बन जाइ रहब रघुराई।
परन कुटी मैं करबि सुहाई ।।
तब मोहि कहँ जसि देब रजाई।
सोइ करिहउँ रघुबीर दोहाई ।।

केवट की योजना स्पष्ट थी। मार्ग दिखाने के साथ-साथ वे श्रीराघवेन्द्र के निवास के लिए पर्णकुटी बनाकर ही वापस लौटने वाले थे। ऐसी स्थिति में मार्ग के विषय में जिज्ञासा केवट के मार्ग-दर्शन पर क्या अविश्वास-जैसी प्रतीत नहीं होती है ? महर्षि द्वारा दिये गये उत्तर से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह जिज्ञासा केवल भौतिक मार्ग के लिए ही नहीं थी—महर्षि भरद्वाज परमार्थ-पथ के विशेषज्ञ माने जाते थे :

तापस सम दम दयानिधाना।
परमारथ पथ परम सुजाना ।।

भौतिक मार्ग के लिए प्रश्न किए जाने पर सबसे पहले गन्तव्य स्थान का नाम लेना आवश्यक है। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति का गन्तव्य भिन्न-भिन्न होता है, किन्तु आध्यात्मिक पथ की जिज्ञासा में इस प्राथमिकता का कोई मूल्य नहीं। क्योंकि पारमार्थिक जीवन में समग्र साधकों का लक्ष्य एक ही होता है, अतः गन्तव्य स्थान का नाम लिए बिना ही प्रभु के द्वारा मार्ग के विषय में यह प्रश्न किया गया।

प्रभु स्वयं ही परमार्थ-पथ के पथिकों के गन्तव्य हैं; किन्तु आज साध्य ही साधक बन बैठा। मनुष्य के रूप में जन्म लेकर वे मानवीय मर्यादा का पालन करें, यह उनके चरित्र के सर्वथा अनुरूप था। ईश्वर स्वतन्त्र है, इसलिए वह मार्ग का निर्धारण करने में भी स्वतन्त्र है। इस तथ्य को दृष्टिगत रखकर महर्षि ने मीठी चुटकी लेते हुए शील-निधि से यह वाक्य कहा था—"सुगम सकल मग तुम्ह कहँ अहहीं।" किन्तु श्रीराघव इस स्वतन्त्रता को स्वीकार नहीं करते हैं। वे यह जानते हैं कि उनके द्वारा इस स्वतन्त्रता का उपयोग करना एक अनुचित परम्परा को जन्म देना है। क्योंकि यह मानवीय स्वभाव है कि महापुरुषों को वह जैसा कहते या करते हुए देखता है, स्वयं भी उसका अनुकरण करने लगता है। इसीलिए महापुरुष आवश्यक न होने पर भी लोक-संग्रह मात्र के लिए उचित परम्पराओं का पालन करते हैं। श्रीकृष्ण ने भी गीता में इसी मत का प्रतिपादन किया है :

यद्यदाचरति श्रेष्ठः स्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।
न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानावाप्त- मवाप्तव्य वर्त एव च कर्मणि।।
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः।।
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथाकुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वाँस्तथा सक्तश्चिकीर्षु र्लोकसंग्रहम्।।
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्म - संगिनाम्।
जोषयेत्सर्व कर्माणि विद्वान्मुक्त समाचरन्।।

स्वतन्त्रता और उच्छृंखलता में इतना अधिक साम्य है कि व्यक्ति बहुधा स्वतन्त्रता के नाम पर उच्छृंखलता का ही वरण करता है। स्वतन्त्रता तभी सार्थक है, जब व्यक्ति में आत्म-नियन्त्रण की पूरी क्षमता आ जाय। समाज के सुव्यवस्थित संचालन के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अपनी स्वतन्त्रता का परिसीमन करना पड़ता है। इसके अभाव में स्वतन्त्रता संघर्ष और सर्वनाश की प्रेरिका बन जाएगी। इसीलिए जब व्यक्ति आत्म-नियन्त्रण खो देता है, तब उसके नियमन के लिए संविधान और दण्ड की व्यवस्था करनी पड़ती है। कलह की कलियुगी वृत्ति से प्रेरित व्यक्ति ही स्वतन्त्रता के नाम पर मनमाने मार्ग का चुनाव करता है। किसी सुव्यवस्थित नगर में मार्ग भी पूर्व-निर्मित होते हैं। यदि कोई व्यक्ति चलने की स्वतन्त्रता के नाम पर नये-नये मार्गों का निर्माण करने लगे तो दूसरे व्यक्ति उसे निश्चित रूप से रोकने की चेष्टा करेंगे। तब कटुता और संघर्ष के कारण सारा समाज अव्यवस्थित हो जाएगा। इसीलिए कलि-वर्णन के प्रसंग में जिन दोषों का वर्णन किया गया है, उनमें से एक यह भी है :

मारग सोइ जा कहँ जोइ भावा।
पंडित सोइ जो गाल - बजावा।।

किन्तु इसके प्रतिकूल यह कहा जा सकता है कि व्यावहारिक जीवन में मन-माने पथ का निर्धारण करने से भले ही संघर्ष की सृष्टि हो, किन्तु पारमार्थिक पथ में स्वतन्त्रता से इस प्रकार के संघर्ष की सम्भावना नहीं है। तब क्यों न प्रत्येक साधक अपने मार्ग का निर्धारण स्वयं करे ? किन्तु भगवान् राम के प्रश्न से ही

यह स्पष्ट हो जाता है कि परमार्थ-पथ की स्वतन्त्रता को भी वे स्वीकार नहीं करते। पारमार्थिक जीवन में साधना-पद्धति का स्वयं-निर्धारण साधक को बहुधा लक्ष्य से भटका देता है। अपितु यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि व्यावहारिक जीवन में पथ की स्वतन्त्रता केवल संघर्ष की सृष्टि करती है; किन्तु आध्यात्मिक जीवन में वह मानसिक आत्महत्या का हेतु बन जाया करती है। इसलिए व्यावहारिक जीवन की तुलना में पारमार्थिक जीवन अधिक नियन्त्रण की आवश्यकता को स्वीकार करता है। पारमार्थिक पथ में गुरु को सर्वोत्कृष्ट स्थान प्राप्त है। रामचरितमानस में यह दावा किया गया है कि बिना गुरु के ब्रह्मा और शंकर भी संसार-समुद्र को पार नहीं कर सकते :

गुरु बिनु भवनिधि तरइ न कोई।
जौं बिरंचि संकर सम होई॥

इस चौपाई में 'भवनिधि' शब्द का उपयोग व्यंग से भरा हुआ है। वस्तुतः भवसागर के निर्माता ब्रह्मा ही हैं। उनकी वन्दना गोस्वामीजी ने इसी रूप में की है :

बदउँ बिधि-पद-रेनु, भवसागर जेहि कीन्ह जहँ।
संत सुधा ससि धनु, प्रगटे खल बिष बारुनी॥

शंकर प्रलयकर्त्ता के रूप में भवसागर को सुखाने वाले हैं। यह सम्भव है कि ब्रह्मा को यह प्रतीत होने लगे कि मेरा विरचित भव-सागर मुझे नहीं डुबो सकता, और इसलिए मुझे संसार-सागर से पार जाने के लिए किसी कर्णधार की अपेक्षा नहीं है। पर ऐसा नहीं है। स्वनिर्मित वस्तु भी व्यक्ति के लिए घातक बन सकती है। एक कृपाण का निर्माता यह दावा नहीं कर सकता कि उसके द्वारा बनाई हुई तलवार उसका सिर नहीं काट सकती। वास्तविक अर्थों में निर्माता किसी वस्तु का निर्माण नहीं करता। यदि किसी लुहार को कृपाण बनाने का आदेश दिया जाए तो क्या लौह के अभाव में उसका निर्माण करने में सफल हो सकता है ? वह तो केवल लौह-शब्द के प्रकटीकरण का माध्यम मात्र है। ठीक इसी तरह ब्रह्मा सृष्टि के निर्माण का दावा नहीं कर सकते हैं। वे वस्तुतः उसके स्रष्टा नहीं हैं। वे तो केवल ईश्वर के संकल्प और सामर्थ्य को आकृति-मात्र प्रदान करते हैं। प्रभु की स्तुति करते हुए ब्रह्मा इसीलिए उन्हें ही सृष्टि का निर्माता बताते हैं :

जेहि सृष्टि उपाई त्रिबिध बनाई, संग सहाय न दूजा।
सो करउ अघारी, चिंत हमारी जानिअ भगति न पूजा॥

जब कभी ब्रह्मा इस सत्य को विस्मृत करते हैं, तब वे डूबते हुए दिखाई देते हैं। जनकपुर में उनकी इसी मन:स्थिति का साक्षात्कार होता है। वे जनकपुर में आकर दिग्भ्रान्त से अपनी सृष्टि की सत्ता ढूँढ़ने लगते हैं :

बिधिहि भयउ आचरज बिसेषी।
निज करनी कछु कतहुँ न देखी।।

डूबते हुए ब्रह्मा को बचाने के लिए कर्णधार की आवश्यकता थी और यह कार्य त्रिभुवन-गुरु शिव ने सम्पन्न किया :

सिव समुझाए देव सब, जनि आचरजु भुलाहु।
हृदयँ बिचारहु धीर धरि, सिय रघुबीर बिबाहु।।

किन्तु शिव भी इस नियम के अपवाद नहीं हो सकते। वे संहार के देवता हो सकते हैं। उनकी तृतीय दृष्टि से सृष्टि के मिट जाने का वर्णन प्राप्त होता है; किन्तु सृष्टि मिटती कहाँ है, वह तो सिमटकर प्रभु में ही समा जाती है, और प्रभु के संकल्प करते ही वह ज्यों-की-त्यों मुस्कराती हुई सामने आ जाती है। इसलिए संहार-तत्त्व का अभिमान भी अवास्तविक ही सिद्ध होगा। मानस में भगवान् शिव को कभी इस प्रकार की भ्रान्ति नहीं होती है। किन्तु अन्य पुराणों में इस प्रकार के उपाख्यान प्राप्त होते हैं। श्रीमद्भागवत में यह कथा प्राप्त होती है, "शिव भगवान् नारायण से मोहिनी-रूप में दर्शन देने का अनुरोध करते हैं। नारायण द्वारा निषेध किए जाने पर भी रुद्र का आग्रह बढ़ता जाता है। उन्हें अपने वैराग्य पर विश्वास था। उन्होंने अपनी तृतीय दृष्टि के प्रयोग से काम को भस्म कर दिया था। अत: उनका यह सुदृढ़ विश्वास था कि मोहिनी-रूप को देखकर उनके मन में काम का उदय नहीं हो सकता, किन्तु यह धारणा मिथ्या सिद्ध हुई। भगवान् के मोहिनी-रूप को देखते ही वे उन्मत्त के समान उन्हें पाने के लिए उनके पीछे भागे। उन्हें स्वीकार करना पड़ा कि "ईश्वर की बलवती माया को अपनी सामर्थ्य से पार कर पाना किसी भी व्यक्ति के लिए असम्भव है।" स्वयं भगवान् कृष्ण भी गीता में ऐसा ही उद्घोष करते हैं—"मेरी गुणमयी माया को पार कर पाना सम्भव नहीं है। जो लोग मेरी शरणागति ग्रहण करते हैं, वे ही इस माया को पार कर पाते हैं :

देवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।

रामचरितमानस में भी इसी तथ्य की पुष्टि की गई है, "माया शिव और

ब्रह्मा को भी विमोहित कर लेती है, फिर बेचारे मनुष्य का तो कहना ही क्या ? ऐसा समझकर मननशील महापुरुष भगवान् का भजन करते हैं'' :

सिव बिरंचि कहँ मोहइ, को है बपुरा आन।
अस जिय जानि भजहिं मुनि, मायापति भगवान ।।

ईश्वर की शरणागति ग्रहण करने के लिए स्वयं में असमर्थता की अनुभूति का उदय होना आवश्यक है। जिस व्यक्ति को अपनी असमर्थता का ज्ञान है वह अपने ही विवेक से मार्ग-निर्धारण का दावा कैसे कर सकता है ? उसे साधन-पथ का ज्ञान प्राप्त करने के लिए गुरु का वरण करना ही होगा। भगवान् राम ने महर्षि भरद्वाज से मार्ग के विषय में जिज्ञासा करते हुए इसी मर्यादा का पालन किया।

अन्तर्जगत् में भटकने की सम्भावनाएँ अत्यधिक हैं, क्योंकि व्यक्ति के हृदय में ही अनेक धूर्त मार्गदर्शक विद्यमान हैं। ब्रिटिश शासन के पूर्व-इतिहास में पिंडारियों नामक ऐसे ठगों का वर्णन आता है जो यात्रियों के साथ यात्रा करते हुए उनका विश्वास जीत लेते थे, और सघन वन में अवसर पाते ही उनकी हत्या करके सारी पूँजी लूट लेते थे। व्यक्ति के अन्तर्जीवन में भी यही समस्या अनादिकाल से अब तक विद्यमान है। मनुष्य के अन्तर्मन में रहने वाले दुर्गुण उसे चार मार्गों पर ले जाने की चेष्टा करते हैं, वे हैं—काम, क्रोध, मद और लोभ। इस मार्ग पर चल कर व्यक्ति नरक के गर्त में गिर जाता है। रावण को उस पथ पर जाते हुए देख कर विभीषण ने उसे सावधान करने की चेष्टा की :

काम क्रोध मद लोभ सब, नाथ, नरक के पंथ।
सब परिहरि रघुबीरहि, भजहु भजहिं जेहि संत ।।

मार्गदर्शक के अभाव में बड़े-से-बड़ा व्यक्ति भी भटक कर इन्हीं मार्गों पर चल पड़ता है। देवर्षि नारद के जीवन में ऐसी ही परिस्थिति आ गई। वे क्षीर-सागर पहुँच कर नारायण को शाप देना चाहते थे। फड़कते हुए होठ और क्रोध से कम्पित शरीर को लेकर वे चल पड़े, किन्तु उन्हें यह देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि भगवान् विष्णु पथ रोके बीच में खड़े हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने मुस्कराते हुए प्रश्न भी कर दिया, ''मुनि, इतने व्याकुल होकर कहाँ जा रहे हैं'' :

फरकत अधर कोप मन माहीं।
सपदि चले कमलापति पाहीं।।
देहउँ श्राप कि मरहउँ जाई।
जगत मोरि उपहास कराई।।

बीचहिं पंथ मिले दनुजारी।
संग रमा सोइ राजकुमारी।।
बोले मधुर बचन सुरसाईं।
मुनि कहँ चले बिकल की नाईं।।

नारद प्रश्न सुनते ही झुंझला पड़े। उन्हें लगा कि इस प्रश्न के द्वारा उनकी हँसी उड़ाई जा रही है किन्तु प्रश्न सर्वथा युक्तिसङ्गत था। देवर्षि व्याकुलता में क्षीरसागर का पथ भूल चुके थे। यदि सही दिशा में चल रहे होते तो प्रभु उनका स्वागत क्षीरसागर में ही करते। किन्तु वे तो क्रोध के पथ पर बढ़ते हुए नरक की दिशा में जा रहे थे। इसीलिए मार्ग रोककर प्रभु ने पूछ लिया, "मुनि, कहँ चले ?" नारद सौभाग्यशाली थे कि प्रभु ने उन्हें बीच से ही लौटा लिया; पर अनगिनत व्यक्ति दुर्गुण-दुर्विचारों के द्वारा निर्देशित पथ पर बढ़ते हुए नरक तक पहुँच जाते हैं। नारद की रक्षा भी इसीलिए हो सकी कि वे प्रभु के शरणागत हो चुके थे।

किन्तु आध्यात्मिक जीवन की समस्या दुर्गुण-दुर्विचारों तक ही सीमित नहीं है। एक गन्तव्य होते हुए भी उस तक पहुँचने के अनेक पथ बताए गए हैं। साधक के समक्ष यह भी प्रश्न आता है कि वह इनमें से स्वयं के लिए किस पथ का चुनाव करे। श्रुति, स्मृति, पुराण आदि न जाने कितने मार्गों का उल्लेख करते हैं। उनमें परस्पर विरोधाभास भी प्रतीत होता है। गोस्वामीजी ने भी 'विनयपत्रिका' में इस जटिलता का वर्णन इन शब्दों में किया है :

बहुमत बहुपथ पंथ पुराननि, जहाँ तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो राम भजन नीको मोहि, लगत राज डगरो सो।।

तुलसीदास ने इस कठिन समस्या का सही समाधान ढूँढ़ लिया। उसी की अभिव्यक्ति "गुरु कह्यो राम भजन नीको" में हो रही है। इस झमेले में मार्ग के निर्णय का भार गुरुदेव पर ही डाला जाना चाहिए। प्रभु ने भी महर्षि पर यह भार छोड़ कर इसी समाधान को स्वीकार किया। पर इतने से ही समस्याएँ समाप्त नहीं हो जातीं। गुरु के रूप में किस महापुरुष का वरण किया जाय ? क्या यह समस्या साधारण है ? "महापुरुषों के पथ का अनुगमन करना चाहिए," संस्कृत-वाङ्मय में ऐसा कहकर इसके समाधान की चेष्टा की गई है :

श्रुतिर्विभिन्ना स्मृतयश्च भिन्ना नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः।।

"श्रुतियाँ और स्मृतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं। कोई ऐसा मुनि भी नहीं है कि जिसके वचनों को परम प्रमाण मान लिया जाय। धर्म का तत्त्व तो रहस्यमयी गुफा में छिपा हुआ है। इसलिए महापुरुष जिस मार्ग से जाएँ, वही उचित पन्थ है।" किन्तु यदि महापुरुष भी अलग-अलग मार्ग पर चलते हुए दिखाई दें तव साधक किसका अनुगमन करे? इस प्रश्न के समाधान के लिए महापुरुषों में भी किसी एक का ही अनुगमन करना होगा।

भगवान् राम ने इसके लिए महर्षि भरद्वाज का चुनाव किया। इस चुनाव के माध्यम से उन्होंने एक ऐसा मापदण्ड प्रस्तुत किया, जो सभी साधकों के लिए समान रूप से उपयोगी है। अयोध्या से लेकर लंका तक की यात्रा में श्रीरामभद्र अनेक महापुरुषों से मिले, किन्तु मार्ग के विषय में प्रश्न करने के लिए उन्होंने महर्षि भरद्वाज को छोड़कर किसी अन्य का चुनाव नहीं किया। महर्षि की जिस विशेषता पर सर्वप्रथम ध्यान जाता है, वह उनका तीर्थराज प्रयाग का निवासी होना है। अन्य सभी महापुरुष किसी एक नदी के तट पर निवास करने वाले थे। केवल भरद्वाज ही त्रिवेणी-तट-वासी हैं। त्रिवेणी को ज्ञान, भक्ति और कर्म के समन्वयात्मक प्रतीक के रूप में देखा गया है:

मुद मंगलमय संत समाजू।
जो जग जंगम तीरथ राजू॥
राम भक्ति जहँ सुरसरि धारा।
सरसइ ब्रह्म बिचार प्रचारा॥
बिधि निषेधमय कलि मल हरनी।
करम कथा रबिनन्दिनि बरनी॥
हरि हर कथा बिराजति बेनी।
सुनत सकल मुद मंगल देनी॥
बटु बिस्वास अचल निज धरमा।
तीरथराज समाज सुकरमा॥
सबहि सुलभ सब दिन सब देसा।
सेवत सादर समन कलेसा॥
अकथ अलौकिक तीरथराऊ।
देइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ॥
सुनि समुझहिं जन मुदित मन, मज्जहिं अति अनुराग।
लहहिं चारि फल अछत तनु, साधु समाज प्रयाग॥

एक नदी के तट पर निवास करने का प्रतीकात्मक तात्पर्य है, ज्ञान, भक्ति

और कर्म में से किसी एक के प्रति आग्रह। महापुरुषों में अनेक ऐसे होते हैं जिनका परिचय केवल ज्ञानी, भक्त अथवा कर्मपरायण में से एक के रूप में दिया जा सकता है। स्वभावत: ऐसे महापुरुष से जिज्ञासा प्रकट करने पर वह उसी पथ पर चलने की प्रेरणा प्रदान करेगा, जिस पर वह स्वयं चलता रहा है। यदि व्यक्ति के संस्कार, सामर्थ्य और स्वभाव के अनुकूल वह साधना-पद्धति हुई तो उसके लिए वह कल्याणकारी सिद्ध होगी। भिन्न मन:स्थिति वाले साधक के लिए वह साधन-पथ अवरोध बन सकता है। त्रिवेणी-तट पर रहने वाला महापुरुष समन्वय के सत्य से परिचित होने के कारण आग्रह-रहित हो जाता है। ऐसा महा-पुरुष प्रत्येक साधक को उसकी योग्यता के अनुकूल मार्ग का निर्देश देता है।

धर्म का वह पक्ष, जो सामाजिक व्यवस्था से सम्बद्ध है, सामूहिक कर्त्तव्य कर्म की प्रेरणा प्रदान करता है। वह परिवार, जाति, देश आदि के सन्दर्भ में व्यक्ति के उचित योगदान का निर्देशक है। किन्तु धर्म इतना ही नहीं है। वह जीवन के अज्ञात पक्ष का रहस्य भी उद्‌घाटित करता है एवं सृष्टि के निर्माण की प्रक्रिया पर भी प्रकाश डालता है। वह इन सबके मूल में अदृश्य ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने की चेष्टा करता है। इन विषयों में सबकी रुचि नहीं होती। इसलिए धर्म का यह पक्ष उन लोगों के लिए है जो सामाजिक धर्म से ही सन्तुष्ट नहीं हो पाते। मानस में मनु का चरित्र इस प्रकार के व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करता है। सामाजिक धर्म व्यक्ति को स्थिरता प्रदान करता है, किन्तु धर्म का दूसरा पक्ष उसे आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है। वह उपनिषद्‌ों के 'चरैवेति' (चलते रहो) मंत्र से प्रेरणा प्राप्त करता है। ऐसे लोगों के लिए पथ की आवश्यकता है। किन्तु ऐसे लोगों में भी भिन्नता होती है। रुचि, संस्कार, सामर्थ्य के अलगाव से उनकी साधन-प्रणाली में भिन्नता होती है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस भिन्नता के तीन नाम दिए गए हैं : १. ज्ञानी, २. भक्त और ३. कर्मी। एक वर्ग वह है जो प्रत्येक वस्तु को बुद्धि और विचार की कसौटी पर कस कर देखता है। दूसरा वर्ग भावना-प्रधान व्यक्ति का है। अधिक छानबीन न करके हृदय की बात को मान लेना ही इनका स्वभाव है। ऐसे लोग मस्तिष्क के स्थान पर हृदय से संचालित होते हैं। तीसरा वर्ग शरीर-प्रधान लोगों का है जो उत्साह से भरा हुआ कर्म में संलग्न रहना चाहता है। इन तीनों के लिए ज्ञान,भक्ति और कर्म-पथ की अपेक्षा है। कभी-कभी तो यह विभाजन बड़ा सुस्पष्ट होता है। इसका एक दृष्टान्त है भुशुण्डि-चरित्र। भुशुण्डि शुद्ध भावना-प्रधान हैं। वे तर्क-वितर्क से सन्तुष्ट नहीं हो पाते। विचारक लोमश से उनका मतभेद स्वाभा-विक था। लोमश उन्हें अद्वैत-पथ का दुर्लभ तत्त्व सुनाने के लिए व्यग्र थे; जबकि भुशुण्डि का मन उस मछली की तरह था जो जल से अलग होते ही प्राण का परि-

त्याग कर देती है। उन्हें सगुण-साकार भक्ति का जल ही अपेक्षित था। अपनी इस मनःस्थिति से भुशुण्डि भली-भाँति परिचित थे। यही उन्होंने महर्षि से निवेदन के रूप में कहा भी :

राम भगति जल मम मन मीना।
किमि बिलगाइ मुनीस प्रबीना॥
× ×
भरि लोचन बिलोकि अवधेसा।
तब सुनिहउँ निरगुन उपदेसा॥

किन्तु महर्षि का आग्रह इतना तीव्र था कि वे उत्तेजित होकर शाप दे देते हैं। उन्हें इस बात से बड़ा क्रोध आ रहा था कि "इतने उत्कृष्ट ज्ञान को यह व्यक्ति इतनी उपेक्षा की दृष्टि से क्यों देख रहा है? इसका अन्तःकरण कितना पक्षपाती है! इसके जीवन में विश्वास का कितना अभाव है! इसे मनुष्य और द्विज रहने का अधिकार नहीं है", इसलिए वे शाप देकर भुशुण्डि को काक बना देते हैं :

मूढ़ परम सिख देउँ न मानसि।
उत्तर प्रति उत्तर बहु आनसि॥
सत्य बचन बिस्वास न करही।
बायस इव सबही ते डरही॥
सठ स्वपच्छ तब हृदय बिसाला।
सपदि होहि पच्छी चंडाला॥

इस विवाद में महर्षि का ध्यान इस ओर गया ही नहीं कि यदि साधक सपक्ष है तो उनका स्वयं ज्ञान के प्रति कितना अधिक पक्षपात है। भुशुण्डि की निष्ठा के समक्ष लोमश को पराजित होना पड़ा। उन्हें उसी साधना-पथ का निर्देश देना पड़ा जो भुशुण्डि के संस्कारों के अनुरूप था :

रिषि मम सहनसीलता देखी।
राम चरन बिस्वास बिसेषी॥
अति बिसमय पुनि-पुनि पछिताई।
सादर मुनि मोहि लीन्ह बोलाई॥
मम परितोष बिबिध बिधि कीन्हा।
हरषित राम मन्त्र तब दीन्हा॥
बालक रूप राम कर ध्याना।
कहेउ मोहि मुनि कृपानिधाना॥

सुन्दर सुखद मोहि अति भावा।
सो प्रथमहिं मैं तुम्हहि सुनावा॥

लोमश और भुशुण्डि दोनों महान् थे, पर संस्कारों की भिन्नता से यह समस्या उठ खड़ी हुई थी। इसके पहले वे जिन मुनियों के पास गए थे, सभी ने उन्हें वेदान्त का ही उपदेश दिया था। उन्होंने गरुड़ को संस्मरण सुनाते हुए यह बताया था :

जेहि पूछौं सोइ मुनि अस कहई।
ईस्वर सर्वभूत मय अहई॥
निरगुन मत नहिं मोहि सुहाई।
सगुन ब्रह्म रति उर अधिकाई॥

"फिर महर्षि लोमश को देखकर मुझे आशा बँधी। महर्षि सुमेरु-शिखर पर स्थित वट-वृक्ष की छाया में आसीन थे। उनके चरणों में नम्रतापूर्वक मैंने प्रणाम किया" :

मेरु सिखर बट छाया, मुनि लोमस आसीन।
देखि चरन सिर नायउँ, बचन कहेउँ अति दीन॥

वटवृक्ष की छाया में मुनि को बैठा देखकर भुशुण्डिजी को भ्रान्ति हो गई। उन्होंने वट को विश्वास के प्रतीक के रूप में देखा—"बट बिस्वास अचल निज धरमा।" उन्हें लगा कि भक्ति का मुख्य आधार विश्वास है। अवश्य ही ये महा-पुरुष भक्ति के उपदेष्टा होंगे। उधर लोमश ने जब भुशुण्डि की जीवन-कथा सुनी तो उसमें उन्हें उत्कृष्ट वैराग्य का परिचय मिला। बाल्यावस्था से ही उन्हें भौतिक ज्ञान में कोई रुचि नहीं थी :

चरम देह द्विज कै मैं पाई।
सुर दुरलभ पुरान श्रुति गाई॥
खेलउँ तहूँ बालकन्ह मीला।
करउँ सकल रघुनायक लीला॥
प्रौढ़ भए मोहि पिता पढ़ावा।
समुझउँ सुनउँ गुनउँ नहिं भावा॥
मन ते सकल बासना भागी।
केवल राम चरन लय लागी॥
कहु खगेस अस कवन अभागी।
खरी सेव सुरधेनुहि त्यागी॥

प्रेम मगन मोहि कछु न सुहाई।
हारेउ पिता पढ़ाइ-पढ़ाई।।
भये कालबस जब पितु माता।
मैं बन गयउँ भजन जनत्राता।।
जहँ-जहँ बिपिन मुनीस्वर पावउँ।
आस्रम जाइ-जाइ सिर नावउँ।।

महर्षि ने सोचा, जन्मना यह ब्राह्मण है, जो स्वभाव से ही विचार-प्रधान होते हैं। भक्ति के द्वारा इसका अन्तःकरण शुद्ध हो चुका है। इसे समस्त वासनाओं से वैराग्य हो गया है। वैराग्य का फल तो ज्ञान ही है :

बिनु गुरु होइ कि ग्यान, ग्यान कि होइ बिराग बिनु।
गार्वाहं बेद पुरान, सुख कि लहिअ हरि-भगति बिनु।।

दोनों की भ्रान्ति प्रारम्भ में दुःखदायी बनी। बाद में इस विवाद ने समन्वय का स्वरूप ग्रहण कर लिया। किन्तु सभी साधक भुशुण्डिजी की भाँति नहीं होते। उन्हें स्वयं यह बताना कठिन होता है कि उनका अन्तःकरण किस प्रकार का है। बहुधा व्यक्ति विचार-भावना से मिश्रित अन्तःकरण वाले होते हैं। इस प्रकार की मनःस्थिति का विश्लेषण तो विशेषज्ञ महापुरुष ही कर सकता है। प्रयाग-निवासी समन्वयी सन्त भरद्वाज से बढ़कर इस पद का अधिकारी कौन हो सकता है?

मुनि भरद्वाज की दूसरी बड़ी विशेषता है, उनकी असीम भक्ति-पिपासा और निरभिमानता। इसका एक लघु चित्र ही मानस में प्राप्त होता है। स्वयं तत्त्वज्ञ और भगवत्-प्राप्त तो वे थे ही। उन्हें भगवान् श्रीराम और परम सन्त भरत के सान्निध्य में आने का सौभाग्य मिला था। महर्षि याज्ञवल्क्य का श्रीराम से सीधा परिचय मानस में उपलब्ध नहीं होता। अतः युक्ति-संगत तो यह होता कि याज्ञवल्क्य भरद्वाज से राम-कथा सुनते। पर इससे सर्वथा उल्टा दृश्य सामने आया। माघ-मेले के बाद जब सभी महात्मा अपने-अपने आश्रमों को लौटने लगे तो उनमें से याज्ञवल्क्य को भरद्वाज ने चरण पकड़कर रोक लिया। उनका चरण-प्रक्षालन कर उन्हें पवित्र आसन पर बैठाकर वे उनसे प्रार्थना-भरे स्वर में प्रश्न करते हैं। एक साधारण शिष्य और साधक की भाँति वे जिज्ञासा प्रकट करते हैं। उनका प्रत्येक वाक्य नम्रता से ओत-प्रोत है :

जागबलिक मुनि परम बिबेकी।
भरद्वाज राखे पद टेकी।।

सादर चरन सरोज पखारे।
अति पुनीत आसन बैठारे।।
करि पूजा मुनि सुजसु बखानी।
बोले अति पुनीत मृदु बानी।।
नाथ, एक संसय बड़ मोरे।
करगत बेद तत्व सब तोरे।।
कहत सो मोहि लागत भय लाजा।
जौं न कहउँ बड़ होइ अकाजा।।
संत कहहिं अस नीति प्रभु, श्रुति पुरान मुनि गाव।
होइ न बिमल बिबेक उर, गुर सन किएँ दुराव।।

याज्ञवल्क्य को गुरु-पद का सम्मान देने में उन्हें कोई संकोच नहीं हुआ। सच्चा गुरु अपने-आप में गुरुत्व का अभिमान नहीं पालता है। अनेक महापुरुष सिद्ध-स्थिति में ही निवास करते हैं। भरद्वाज ऐसे संत हैं, जो सिद्ध होते हुए भी साधक-जैसा व्यवहार करते हैं। ऐसा सत्पुरुष साधक के मार्ग-दर्शन के लिए अधिक उपयोगी है। इन सभी दृष्टियों से प्रभु महर्षि भरद्वाज से ही श्रीराम मार्ग-दर्शन का अनुरोध करते हैं।

महर्षि भी श्रीरामभद्र के प्रश्न पर मन-ही-मन खूब हँसे। जब साध्य ही साधन की जिज्ञासा प्रकट करे तो हँसी आना स्वाभाविक है। फिर महर्षि मन-ही-मन यह भी सोचते हैं कि इस प्रश्न की उपयोगिता किसके लिए है ? श्रीराम स्वयं परमार्थ-पथ के साध्य हैं :

राम ब्रह्म परमारथ रूपा।
अबिगत अलख अनादि अनूपा।।

तो क्या इस प्रश्न की उपयोगिता मिथिलेश-नन्दिनी के लिए है ? महर्षि को उनके स्वरूप का भी ज्ञान है। वे तत्त्वत: श्रीराम से अभिन्न हैं। लीला-भूमि में स्वयं वे पथ-प्रवर्तिका हैं। क्योंकि मूर्तिमती पराभक्ति हैं। सबसे सरल पथ की निर्मात्री तो वही हैं। प्रभु भी इसी पथ की सराहना करते हैं। क्या उनको मार्ग दिखाने की धृष्टता मैं करूँ ? :

सुलभ सुखद मारग यह भाई।
भगति मोरि पुरान श्रुति गाई।।

श्रीलक्ष्मण को मार्ग दिखाने का दुस्साहस कौन कर सकता है ? उनका मार्ग

पूरी तरह निश्चित है। उस पथ से उन्हें प्रभु भी विचलित नहीं कर सकते। श्री-रामभद्र ने उन्हें धर्म-पथ पर चलने की प्रेरणा दी थी। उत्तर कोरा मिल गया—"मैं जानता हूँ कि यह धर्म-पथ कहाँ पहुँचाता है। यह कीर्तिनगर भी पहुँचाता है, तथा स्वर्गपुर और ऐश्वर्यपुर जाने का मार्ग भी यही है। किन्तु मुझे वहाँ जाना कब है" :

धरम नीति उपदेसिअ ताही।
कीरति सुगति भूति प्रिय जाही ।।

उन्होंने व्याकुल होकर चरण पकड़ लिए—"गहे चरन अकुलाय।" "मेरे लिए तो मार्ग स्पष्ट है। इन चरणों के साथ ही मुझे चलना है। ये चरण जिधर जाएँ, उधर ही जाना है।" प्रभु ने साथ ले लिया। महर्षि का यह सोचना स्वाभाविक ही था कि ऐसे प्रेमव्रती को मार्ग बताना अपनी अज्ञानता का परिचय देना है। रह गए निषादराज, सो उन्हें सखा का पद देकर प्रभु ने सिद्ध-स्थिति में पहुँचा दिया है। वे तो स्वयं मार्ग दर्शाने के दावेदार हैं। यह प्रश्न किसी के लिए भी उपयोगी नहीं है, अतः हँसी का आना स्वाभाविक है; पर महर्षि ने उस हँसी को होठों तक नहीं आने दिया। मन-ही-मन हँसते रहे। बाहर से हँसना अशिष्ट और अमर्यादित प्रतीत होगा। उन्होंने सोचा, जब प्रभु अपने नाट्य का ठीक निर्वाह कर रहे हैं तो मुझे भी सही भूमिका का निर्वाह करना चाहिए।

उत्तर एक नन्हे-से वाक्य में था—"सारे मार्ग तुम्हारे लिए सुगम हैं।" जहाँ गन्तव्य की बाध्यता नहीं है, वहाँ मार्ग की समस्या भी नहीं है। यदि किसी को कहीं पहुँचना न हो तो वह जिधर भी चाहे टहलता रहे। साधना की दृष्टि से प्रत्येक साधक को उसके सामर्थ्य और संस्कार के अनुरूप ही मार्ग बताया जाना चाहिए। प्रभु सर्व-समर्थ और संस्कार-शून्य हैं। वे किसी भी पथ पर स्वेच्छा से चलते हुए उसका निर्वाह समग्रता से कर सकते हैं। कोसलेन्द्र ने अपने चरित्र के द्वारा तीनों मार्गों पर चलने की पद्धति का प्रवर्तन किया। इसलिए उनके लिए महर्षि का यह कथन सर्वथा सार्थक था—"सुगम सकल मग तुम्ह कहँ अहहीं"

फिर भी उन्होंने प्रभु की आकांक्षा का समादर करते हुए मार्ग-दर्शन के लिए चार विद्यार्थियों को भेजा। ये चारों छात्र चार वेदों के प्रतीक हैं। आस्तिक-परंपरा में वेदों को परम प्रमाण माना गया है। ईश्वर की तुलना में भी वेद ही अधिक प्रामाणिक माने जाते हैं। यह मान्यता बड़ी युक्ति-संगत है। व्यक्ति के रूप में ईश्वर के अवतार की स्वीकृति के बाद एक समस्या सामने आती है। प्रत्येक अवतार यदि भिन्न प्रकार की आज्ञाएँ प्रचारित करे तो किसे प्रामाणिक स्वीकार किया जाए ? इसका समाधान इस रूप में किया गया है कि उसकी आज्ञा को वेद

की कसौटी पर कस कर देखना चाहिए। वेदानुकूल होने पर ही ईश्वर की आज्ञा को स्वीकार किया जाना चाहिए। गोस्वामीजी भी इस मान्यता का समर्थन करते हैं, ''भगवान् बुद्ध पूज्य हैं, पर उनका मत वेद-विरुद्ध है इसलिए वह ग्राह्य नहीं है'' :

अतुलित महिमा बेद की, तुलसी कीन्ह बिचार।
बेद निन्दि निन्दित भयउ, बिरित बुद्ध अवतार।। (दोहावली)

इस मान्यता की तुलना वर्तमान संवैधानिक स्थिति से भी की जा सकती है। राष्ट्रपति राष्ट्र का प्रधान होते हुए भी संविधान से बँधा हुआ है। उसकी कोई आज्ञा यदि संविधान के विरुद्ध हो तो उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। वेद-शाश्वत संविधान है और ईश्वर को भी उसका आदर करना चाहिए।

चारों विद्यार्थियों के पीछे चलकर श्रीराम ने इसी मर्यादा का पालन किया

मुनि बटु चारि संग तब दीन्हे।
जिन निज जनम सुकृत बहु कीन्हे।।



॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

राम सपेम पुलकि उर लावा।
परम रंक जनु पारस पावा॥
मनहुँ पेम परमारथ दोऊ।
मिलत धरे तन कह सब कोऊ॥

अर्थ—भगवान् श्रीराम ने प्रेम-सहित पुलकित होकर तापसजी को हृदय से लगाया। प्रभु ने उन्हें हृदय से लगाकर ऐसा अनुभव किया जैसे कि अत्यन्त दरिद्र ने पारस पा लिया हो। उस दृश्य को देखने वाले सभी ने एक स्वर से कहा कि प्रभु और तापसजी को मिलते देखकर ऐसा लग रहा है जैसे कि प्रेम और परमार्थ शरीर धारण कर मिल रहे हों।

तापस-प्रसंग जितना भावनात्मक है, वह उतना ही विवादास्पद भी है। मानस की कुछ प्राचीन प्रकृतियों में यह प्रसंग प्राप्त नहीं होता है, इसलिए कुछ विद्वानों ने इसे प्रक्षिप्त मान लिया है। कुछ की मान्यता यह है कि अयोध्याकाण्ड की मूल रचनाओं में तापस-प्रसंग नहीं था; किन्तु गोस्वामीजी ने ही इसे बाद में जोड़ दिया। कुछ भावना-प्रवण व्यक्तियों की मान्यता यह भी है कि यह रचना तुलसीदास की न होकर स्वयं उनके आराध्य भगवान् राम अथवा श्रीहनुमानजी की है।

असंदिग्ध रूप से यह प्रक्षिप्त रचना नहीं है। इसकी उत्कृष्ट रचना-शैली सर्वथा गोस्वामीजी की ही जान पड़ती है। अन्य मान्यताओं के पीछे इस प्रसंग में श्रद्धा-भावना की ही अभिव्यक्ति दिखाई देती है। अपने भावनात्मक मूल्यों में यह प्रसंग सचमुच ही अनोखा है। इसकी अनेक विलक्षणताओं में सर्वप्रधान तापस

के नाम का अभाव है। एक ऐसा अनोखा प्रेमी जो सबके दृष्टिविन्दु का केन्द्र बन जाता है, जिसे हृदय से लगाकर रामभद्र पुलकित हो उठे, उसका परिचय पाने की आकांक्षा किस व्यक्ति के अन्तःकरण में नहीं होगी ? किन्तु अन्य परिचय तो दूर, इनके नाम का उल्लेख भी नहीं किया गया। अतः यह कौन हो सकते हैं ?— इस प्रश्न को लेकर भी कल्पना के अनेक ताने-बाने बुने गए हैं। अग्नि, शरभंग, सनत्कुमार, चित्रकूट और स्वयं तुलसीदास आदि इसी कल्पना की परिधि में आते हैं। इस तरह नाम के अभाव ने इन महोदय के प्रति जितना ध्यान आकृष्ट किया है, नाम दे दिए जाने पर उतना आकर्षण के केन्द्र वे न बन पाते। नाम न देने के अनेक उद्देश्यों में सम्भवतः गोस्वामीजी का एक यह भी उद्देश्य रहा होगा।

उस समय भी तापस जी दर्शकों की दृष्टिविन्दु के केन्द्र बने हुए थे। अप्रत्याशित रूप से उनका आगमन, प्रेम-पूर्ण मिलन, लोगों के अन्तःकरण में जिज्ञासा की सृष्टि कर रहा था। किन्तु लगता है, उस समय इस प्रश्न को लेकर वैसे भिन्न मत प्रकट नहीं किए गए जैसे आज किए जाते हैं। उस समय सब लोग एक ही निष्कर्ष पर पहुँचे जिसका उल्लेख उपर्युक्त पंक्तियों में किया गया है। एक स्वर से सभी लोगों ने यह निर्णय दिया—"जान पड़ता है, प्रेम और परमार्थ ही शरीर धारण कर मिल रहे हैं।" मुझे यह सोचकर आश्चर्य होता है कि तत्कालीन दर्शक उस समय जिस निष्कर्ष पर पहुँचे थे, उसे ही मानस के अध्ययनकर्त्ता क्यों नहीं स्वीकार कर लेते ?

महर्षि भरद्वाज के आश्रम से जो चार विद्यार्थी मार्ग दिखाने के लिए आए हुए थे, वे तापसजी के आगमन से पहले ही लौटा दिए गए। यह स्थान यमुना-तट था :

बिदा किए बटु बिनय करि, फिरे पाइ मन काम।
उतरि नहाए जमुन जल, जो सरीर सम स्याम।।

तापस-प्रसंग की समाप्ति के बाद ही प्रभु ने दूसरे मार्ग-दर्शक को भी लौटा दिया। यह उनके प्रिय सखा निषादराज थे। इस तरह आदि और अन्त दोनों में ही मार्गदर्शकों का लौटाया जाना कुछ विशेष अर्थ रखता है। व्यावहारिक दृष्टि से यह लौटाया जाना तो अटपटा प्रतीत होता ही है, क्योंकि अभी प्रभु अपने गन्तव्य स्थल चित्रकूट तक नहीं पहुँचे थे। कोई दूसरा मार्ग-दर्शक भी इसके पश्चात् नहीं दिखाई देता। फिर निषादराज की योजना केवल मार्ग-दर्शन की ही नहीं थी। वे तो यह अनुमति लेकर साथ आये थे कि वे साथ में उस वन तक चलेंगे जहाँ प्रभु निवास करेंगे। वहाँ पहुँचकर वे पर्णकुटी का निर्माण करने के पश्चात् ही वहां से प्रभु का आदेश पाकर लौटेंगे :

नाथ साथ रहि पंथ देखाई।
करि दिन चारि चरन सेवकाई।।
जेहि बन जाइ रहब रघुराई।
परन कुटी मैं करब सुहाई।।
पुनि मो कहँ जस होब रजाई।
सोइ करिहउँ रघुबीर दुहाई।।

फिर ऐसा क्या हुआ जिससे निषादराज अपना संकल्प पूरा किए बिना ही घर लौट जाते हैं ? :

तब रघुबीर अनेक बिधि, सखहिं सिखावन दीन्ह।
राम रजायसु सीस धरि, भवन गवन तेहि कीन्ह।।

वस्तुतः यह प्रसंग गम्भीर आध्यात्मिक तत्त्वों से परिपूर्ण है। तापस-प्रसंग को उसी संदर्भ में हृदयंगम किया जा सकता है। भरद्वाज मुनि के आश्रम से ही यह सांकेतिक प्रसंग प्रारम्भ हो जाता है, जहाँ पर प्रभु ने महर्षि से मार्ग के विषय में जिज्ञासा की। निषादराज के द्वारा मार्ग-दर्शक बनने का दावा उनके स्नेह और अपनत्व का परिचायक था। यह उनका भोलापन था कि वे ब्रह्म को मार्ग दिखाने का साहस कर रहे थे। महर्षि भरद्वाज विवेक में स्थित थे, इसीलिए मार्ग-दर्शन की बात सुनते ही उन्हें हँसी आ गई थी। उन्होंने प्रभु से यही कहा था—"आपके लिए तो सभी मार्ग सुगम हैं" :

मुनि मन बिहँसि राम सन कहहीं।
सुगम सकल मग तुम्ह कहँ अहहीं।।

फिर भी मर्यादा-संरक्षण के लिए वे प्रभु के साथ चार विद्यार्थी भेज देते हैं। ये चारों वेदों के प्रतीक थे। प्रभु उनके मार्गदर्शन में चलते हैं। किन्तु स्वभावतः यह प्रश्न किया जा सकता है कि वेदों के मार्ग-दर्शन में किस सीमा तक यात्रा सम्पन्न की जा सकती है ? क्या गन्तव्य स्थल तक वेद साथ चल सकते हैं ? प्रभु ने चित्रकूट से पहले ही उन्हें लौटाकर यह स्पष्ट कर दिया कि एक सीमा तक ही वेदों के मार्ग-दर्शन की आवश्यकता है, और यह सीमा यमुना-तट पर समाप्त होती है। यमुना कर्म की प्रतीक हैं :

बिधि-निषेधमय कलिमल-हरनी।
करम-कथा रबि-नंदिनि बरनी।।

वेद का मार्ग-दर्शन यहीं से समाप्त हो जाता है। ठीक इसी मान्यता का समर्थन गीत में भी उपलब्ध होता है। भगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रिय सखा को वेदों से ऊपर उठने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। वे वेदवादियों की आलोचना भी करते हैं। श्रीकृष्ण वेदों के विरोधी नहीं हैं; किन्तु वेदों ने सकाम कर्म का जो विस्तार किया है उससे व्यक्ति साध्य तक पहुँचने के स्थान पर मध्य में ही विरम जाता है :

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्य विपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्म कर्म फल प्रदाम्।
क्रिया - विशेष - बहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥
भोगैश्वर्य - प्रसक्तानां तयापहृत - चेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥
त्रैगुण्य - विषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥
यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥

(गीता, अ०२, ४२-६)

वे वेदों की तुलना छोटे जलाशय से करते हैं। प्यासा व्यक्ति छोटे सरोवर के निकट भी प्यास बुझाने के लिए जाता है; किन्तु परिपूर्ण सरोवर को पा लेने के बाद उसे छोटे सरोवर की अपेक्षा नहीं रह जाती। यही स्थिति साधक के जीवन में भी आनी चाहिए। भगवान् श्रीराघवेन्द्र ने यमुना-तट पर विद्यार्थियों को लौटाते समय उनकी मनोकामनाओं को पूर्ण होने का वरदान दिया। यह वेदों की सकामता की ओर संकेत है। इसके तत्काल बाद तापस का आना प्रेम के ही आगमन का प्रतीक है। प्रेम का आगमन होते ही मार्ग-दर्शन के लिए वेदों की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। जिन अध्ययनकर्त्ताओं को यह देखकर आश्चर्य होता है कि तापस-आगमन का वर्णन करने के पश्चात् उनके लौटाने या साथ चलने का वर्णन क्यों नहीं किया गया, उनकी दृष्टि प्रेम के तात्त्विक स्वरूप की ओर नहीं गई। एक बार जीवन में प्रेम का आगमन हो जाने के पश्चात् उसका प्रत्यावर्त्तन नहीं होता। ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर किसी बहिरङ्ग मार्गदर्शक की आवश्यकता भी नहीं रह जाती तापस प्रभु के साथ चलते हुए नहीं दिखायी देते, क्योंकि प्रेम हृदय की वस्तु है। किसी बाह्य प्रतीक के द्वारा उसका परिचय प्राप्त नहीं किया जा सकता।

इस सन्दर्भ में तापसजी के परिचय में प्रयुक्त की जाने वाली पंक्तियों पर कुछ

ध्यान देते ही इस तथ्य की पुष्टि होती है। प्रेम के लिए 'तापस' नाम देना सर्वथा सार्थक है। स्वेच्छा से कष्ट का वरण ही तप है। इसकी सर्वाधिक सार्थकता प्रेम में ही देखी जा सकती है। अन्य तपस्वी जहाँ उद्देश्य की सिद्धि होते ही तपस्या से विरत हो जाते हैं, वहाँ प्रेमी के जीवन में शाश्वत तप विद्यमान रहता है। उसकी अपनी कोई आकांक्षा नहीं होती। प्रियतम को सुख देने के लिए बड़े-से-बड़े कष्ट का वरण करना उसका सहज स्वभाव है। इसीलिए मानस के सब उत्कृष्ट प्रेमियों को तपस्वियों के रूप में ही प्रस्तुत किया गया है। श्रीसीता, लक्ष्मण, भरत—सभी अपने तपोमय जीवन के द्वारा प्रभु के उद्देश्य की पूर्ति में संलग्न हैं।

तापस के परिचय में सर्वप्रथम उनकी तेजस्विता का उल्लेख किया गया है। वे 'तेज-पुंज' हैं, क्योंकि तपस्या द्वारा तेज का विस्तार होता है :

बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा।
जल बिनु रस कि होइ संसारा॥

अग्नि में डालने पर स्वर्ण की तेजस्विता बढ़ जाती है। प्रेम भी खरा स्वर्ण है। प्रतिकूल परिस्थितियों की अग्नि में पड़कर वह और भी उज्ज्वल हो उठता है :

कनकहिं बान चढ़हि जिमि दाहे।
तिमि प्रियतम पद प्रेम निबाहे॥

'लघु बयस' के रूप में तापसजी की अवस्था का भी परिचय दिया गया है। ज्ञान की शोभा परिपक्वता में है। इसके विपरीत प्रेम की कल्पना शिशु अथवा किशोर के रूप में करना ही अधिक सार्थक है। ज्ञान नित्य एकरस होना चाहिए, किन्तु प्रेम की शोभा नित्य-नूतनता में है। सुमित्रा अम्बा लक्ष्मण को नित-नूतन होने वाली प्रीति का आशीर्वाद प्रदान करती हैं :

तुलसी प्रभुहि सिख देइ आयसु, दीन्ह पुनि आसिष दई।
रति होउ अबिरल अमल सिय, रघुबीर पद नित-नित नई॥

श्रीभरत के जीवन में भी प्रेम की नित्य-नूतनता का वर्णन किया गया है :

नित नव राम प्रम पन पीना।
बढ़इ धरम दल मन न मलीना॥

"कबि अलखित गति" कहकर प्रेम की अनिर्वचनीयता का प्रतिपादन किया गया है। कवि का सबसे बड़ा बल शब्द और अर्थ है। जैसे एक चतुर नर्तक ताल की गति पर नर्तन करते हुए अपनी कला का प्रदर्शन करता है, उसी तरह कवि

भी ध्वनि और भाव के माध्यम से अपने काव्य-कौशल को अभिव्यक्ति देता है। प्रेम की सर्वोत्कृष्ट स्थिति में वाणी मौन हो जाती है। तापस और श्रीभरत दोनों के ही प्रसङ्ग में शब्द-विनिमय का अभाव हो गया। इसीलिए श्रीभरत और रामभद्र की मिलन-वेला में भी कवि अपनी असमर्थता का परिचय देता है :

परम प्रेम पूरन दोउ भाई।
मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥
कहहु सुपेम प्रगट को करई।
केहि छाया कबि मति अनुसरई॥
कबिहि अरथ आखर बल साँचा।
अनुहर ताल गतिहि नट नाचा॥

तापस-प्रसङ्ग में भी वाणी गतिशून्य है। अतः गोस्वामीजी यहाँ भी 'कवि अलखित गति' कहकर अपनी असमर्थता का ही ज्ञापन करते हैं।

तापसजी का वेश विरागियों-जैसा है। यह परिचय सर्वथा अनोखा है। मानस में अनेक पात्रों के वैराग्य का वर्णन किया गया है, किन्तु उन्हें विरागी ही बताया गया है। महाराज श्री जनक का मन विरागी है :

सहज बिराग रूप मन मोरा।
थकित होत जिमि चंद चकोरा॥

साधारण दृष्टि से देखने पर 'बेष बिरागी' आक्षेप-जैसा जान पड़ता है। किसी को साधु न कहकर यदि साधुवेशधारी कहा जाय, तो यह उस व्यक्ति की निन्दा ही मानी जाएगी। किन्तु यहाँ 'बेष बिरागी' में एक भिन्न संकेत किया गया है। त्यागी-तपस्वियों-जैसा उनका यह वेश शुष्कता की भ्रान्ति उत्पन्न करता है, किन्तु 'बेष बिरागी' कहकर उनके अन्तर्मन के अनुराग की सूचना दी गयी है। वेश से विरागी प्रतीत होने पर भी वे अन्तर्मन में अनुरागी हैं। 'बेष बिरागी' के पश्चात् "मन क्रम-बचन राम-अनुरागी" कहकर इसे और भी स्पष्ट कर दिया गया है। प्रेम अपने आन्तरिक अनुराग को विरागी वेश में छिपाना चाहता है। तापसजी मन-कर्म-वचन से श्रीराम के चरणों में अनुरागी हैं, यह शुद्ध प्रेम की स्थिति है। अधिकांश व्यक्तियों का जीवन कई भागों में बँटा रहता है। उन्हें संसार के प्रति भी अपने कर्त्तव्यों का पालन करना शेष रहता है। इसलिए उनके मन में अनुराग होते हुए भी वचन और कर्म के द्वारा व्यवहार का निर्वाह होता है। दोहावली के दोहे में इसी जीवन-दर्शन का उल्लेख है। "मन में श्रीराम के चरणों में प्रेम हो, व्यवहार-नीति अनुकूल हो। राग-रोष पर विजय प्राप्त कर लेना ही सन्तों की

दृष्टि में भक्ति की रीति है'' :

प्रीति राम पद नीति मग, चलिय राग रिस जीति।
तुलसी सन्तन के मते, इहै भगति की रीति।।

किन्तु तापसजी बाह्य सम्बन्धों से मुक्त हैं। वहाँ प्रभु से अनुराग को छोड़कर अन्य कोई कर्त्तव्य कर्म अवशिष्ट नहीं है। उनका मन-कर्म-वचन केवल प्रभु के लिए ही अर्पित है।

इन विशेषणों के बाद उन बाह्य लक्षणों का उल्लेख किया गया है जो प्रभु के दर्शन से उनके शरीर में प्रगट हुए। शरीर में रोमांच और आँखों में आँसू लिए हुए वे अपने इष्टदेव के चरणों में साष्टाङ्ग प्रणाम करते हैं। उनकी यह दशा अवर्णनीय है :

सजल नयन तन पुलक निज, इष्टदेव पहिचान।
परेउ धरनि जिमि दण्डतल, दसा न जाइ बखानि।।

रोमांच और अश्रुपात अन्तःकरण में उत्पन्न होनेवाले प्रेम की बाह्य अभिव्यक्ति हैं। इसके लिए कई भावनात्मक उत्प्रेक्षाएँ की गयी हैं। प्रभु को विशाल अट्टालिकाओं की तुलना में वाटिका, बाग और वन अधिक प्रिय हैं। इसलिए वे मिथिला और अवध में भी बाग और वाटिका में ही अधिक प्रसन्न दिखायी देते हैं। चित्रकूट का वन तो उन्हें सर्वाधिक प्रिय है ही :

भूप बाग बर देखेउ जाई।
जहँ बसन्त ऋतु रही लोभाई।।

× ×

सुन्दर उपवन देखन गए।
सब तरु कुसुमित पल्लव नए।।

× ×

रामकथा मन्दाकिनी, चित्रकूट चित चारु।
तुलसी सुभग सनेह बन, सिय रघुबीर बिहारु।।

नगर और अट्टालिकाएँ धर्म और मर्यादा की प्रतीक हैं। वाटिका, बाग और वन क्रमशः भावना, अनुराग और प्रेम का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रभु का प्रेम के प्रति ही मुख्य आकर्षण है। अतः जो लोग चाहते हैं कि प्रभु उनके जीवन में विहार करें, उन्हें वाटिका, बाग और वन को सींचते ही रहना चाहिए। शरीर में होने वाला रोमांच हृदय में उठने वाली भावना, मानो अनुराग और स्नेह के चिह्न

वाटिका, बाग और वन ही हैं। उसे मन का माली स्नेह-जल से सींचता है :

पुलक बाटिका बाग बन, सुख सुबिहंग बिहारु।
माली सुमन सनेह जल, सींचत लोचन चारु॥

प्रभु अयोध्या की मर्यादा-भूमि को छोड़कर चित्रकूट के प्रेम-वन में निवास करने जा रहे हैं। मार्ग में तापसजी चलते-फिरते प्रेम के रूप में आ जाते हैं, अतः उन्हें देखकर प्रभु का परम प्रसन्न होना स्वाभाविक है। प्रभु प्रेम-भरे अन्तःकरण से उन्हें हृदय से लगा लेते हैं। उनके शरीर में रोमांच हो आता है :

राम सप्रेम पुलकि उर लावा।

रोमांच भक्त और भगवान, दोनों के शरीर में हो रहा है। किन्तु प्रभु सजल-नयन नहीं हैं। प्रभु अपनी कमी स्वीकार कर लेते हैं। वे तापसजी को हृदय से लगाकर मानो मन-ही-मन कह रहे हों—वाटिका, बाग और बन तो मेरे पास भी हैं किन्तु माली और जल दोनों का अभाव है। तुम्हें हृदय से इसीलिए लगा रहा हूँ कि अपने माली और स्नेह-जल से मेरी वाटिका को भी सींच दो। भक्तों के स्नेह से ही प्रभु हरे-भरे होते हैं—यह इसका वास्तविक तात्पर्य है।

इसीलिए प्रभु प्रेम के समक्ष स्वयं को रंक अनुभव करते हैं। परमार्थ-स्वरूप राम के लिए तुलसी रंक की उपमा देते हैं और प्रेमरूप तापस 'पारस' हैं। दरिद्र के पास लौह तो था, पर उसे स्वर्ण के रूप में परिवर्तित करने के लिए पारस की अपेक्षा थी। पारस मिलते ही उसके पास स्वर्ण का ढेर लग गया। अन्तर्यामी ब्रह्म भी निर्गुण (गुणहीन) था। जीव के लौह-हृदय में निवास करता हुआ भी वह कोई परिवर्तन नहीं ला पाता है। नाम तो सच्चिदानन्द है और जीव का हृदय दुःख-दीनता से भरा हुआ है, तब ऐसे नाम से क्या लाभ ? :

ब्यापक एक ब्रह्म अबिनासी।
सतचेतन घन आनँद रासी॥
अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी।
सकल जीव जग दीन दुखारी॥

इसीलिए ब्रह्म दरिद्रता से पीड़ित होकर अवतार लेकर पारस खोजने चला। प्रेम का पारस मिलते ही वह पुलकित हो उठा। इसी के स्पर्श से वह जीव को स्वर्ण बना देगा। व्यक्ति के जीवन में ईश्वर की उपस्थिति से परिवर्तन नहीं आता है। किन्तु प्रेम का उदय होते ही जीवन धन्य हो जाता है। मोह-दारिद्र्य का विनाश हो जाता है।

तापस मूर्तिमान् प्रेम ही थे। उन्हें पहिचानने में उस समय लोगों ने कोई भूल नहीं की। उस सत्य को भुलाकर जो लोग नई कल्पना करते हैं, वे सहृदय होते हुए भी तुलसी के संकेत को अनदेखा कर देते हैं :

मनहुँ प्रेम परमारथ दोऊ।
मिलत धरे तन कह सब कोऊ॥



॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

राम देखि सुनि चरित तुम्हारे।
जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे॥
तुम्ह जो कहहु करहु सब साँचा।
जस काछिअ तस चाहिअ नाचा॥
पूँछहु मोहि कि रहौं कहँ, मैं पूँछत सकुचाउँ।
जहँ न होहु तहँ देहु कहि, तुम्हहि देखावौं ठाउँ॥

× ×

सुनहु राम अब कहउँ निकेता।
जहाँ बसहु सिय लखन समेता॥

अर्थ—"राम, तुम्हारा चरित्र देख-सुनकर मूर्ख मोहित होते हैं और विद्वानों को सुख प्राप्त होता है। तुम जो कुछ कहते और करते हो, वह सत्य है। क्योंकि नाटक में जैसी भूमिका हो वैसा ही अभिनय करे। तुमने मुझसे पूछा कि मैं कहाँ रहूँ? परन्तु आप पहले बतावें कि आप कहाँ नहीं हैं? फिर मैं आपको निवास के लिए स्थान बताऊँगा।"

"हे राम, अब मैं वे स्थान बताता हूँ जहाँ आप श्रीसीताजी तथा लक्ष्मणजी के साथ निवास करें।"

आदिकवि महर्षि वाल्मीकि और भगवान् श्रीराम के दिव्य मिलन में दर्शन, भावना और चरित्र-निर्माण के अनुपम सूत्र उपलब्ध होते हैं। महर्षि से आदेश लेकर ही कोसलेन्द्र अपने निवास के लिए स्थान का चुनाव करते हैं। इस दृष्टि से महर्षि का असाधारण महत्त्व है। वाल्मीकि का जीवन साधना की प्रयोगशाला है। निम्न धरातल से लेकर साधना की सर्वोच्च स्थिति तक के समग्र मनोभाव उनके जीवन-चरित्र में उपलब्ध होते हैं।

वाल्मीकि अपने प्रारम्भिक जीवन में हिंसापरायण दस्यु थे। यात्रियों से धन छीनकर वे अपने परिवार का पालन करते थे। इस क्रिया-कलाप में उन्हें कोई अनौचित्य नहीं दिखायी देता था। सम्भव है, वे इसे ही अपना स्वधर्म समझते रहे

हों। यह मानवीय स्वभाव है कि क्रूर-से-क्रूर व्यक्ति भी अपने क्रिया-कलाप को धर्म का रूप देखकर आत्म-प्रवंचना करता है। अधर्म को धर्म का रूप देने की चेष्टा ही धर्म की उत्कृष्टता का प्रमाण है। इस प्रवंचनामूलक धर्म को प्रारम्भ से ही बालकों के संस्कार में पैठा दिया जाता है। यद्यपि बालकों के प्रति माता-पिता के स्नेह की बड़ी सराहना की जाती है, किन्तु यथार्थ इससे भिन्न है। उनके वात्सल्य में स्वार्थ कितना सक्रिय होना है, यह मनौवैज्ञानिक विश्लेषण का विषय है। माता-पिता बालक को अपने भविष्य की सुरक्षा का आधार बनाना चाहते हैं। उन्हें यह लगता है कि भविष्य में जब वे वृद्ध और असमर्थ हो जाएँगे, तब बालक उनके स्नेह का प्रतिदान देगा। स्वार्थ की यह वृत्ति ही उन्हें बालक को ऐसी शिक्षा देने की प्रेरणा देती है, जिससे उनके स्वार्थसिद्धि में कोई अवरोध उत्पन्न न हो। इसी वृत्ति पर कटाक्ष करते हुए तुलसी ने ये पंक्तियाँ लिखी हैं :

मातु-पिता बालकन्हि बोलावहिं।
उदर भरै सोइ धर्म सिखावहिं॥

वाल्मीकि को भी निश्चित रूप से यही शिक्षा प्रदान की गई होगी कि किसी भी रीति से परिवार का पालन-पोषण करना तुम्हारा धर्म है। यही संस्कार उन्हें हिंसक कर्म से विरत नहीं होने देता था। किन्तु जीवन के किसी पूर्व पुण्य से उन्हें संतों का दर्शन प्राप्त हुआ। वन में वाल्मीकि ने सप्तर्षियों को लूटने का प्रयास किया, किन्तु उन्हें यह देखकर बड़ी निराशा हुई कि इन यात्रियों के पास कोई धन नहीं था। बेचारे वाल्मीकि क्या जानते थे कि संतों के पास तो वह परम धन होता है, जिसके लुटने का कोई भय नहीं है। संतों ने उनके विवेक को चैतन्य किया। यह विवेक का स्फुलिङ्ग प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में विद्यमान रहता है। संस्कारों की राख से ढके हुए इस अग्नि-कण को कुरेद कर चैतन्य कर देना ही महापुरुषों का कार्य है। सप्तर्षियों ने उसी को कुरेदने का प्रयास किया। आसक्ति के कारण व्यक्ति धर्म के वास्तविक स्वरूप को नहीं देख पाता। इस आसक्ति को विनष्ट करने के लिए ही संत संसार के लोगों की स्वार्थपरता को नग्न कर देते हैं। इसका उद्देश्य परिवार अथवा समाज में संघर्ष की सृष्टि करना नहीं है।

संत तो यह जानते हैं कि जब व्यक्ति काल्पनिक मनःस्थिति का परित्याग कर व्यवहार करता है तब वह दूसरों को सुखी रखने के साथ-साथ स्वयं भी शाश्वत आनन्द की उपलब्धि करता है, क्योंकि वह दुःखदायी आशा-पाश से मुक्त हो जाता है। सप्तर्षियों ने केवल एक ही प्रश्न के द्वारा वाल्मीकि की आसक्ति को विनष्ट कर दिया। उन्होंने वाल्मीकि से पूछा कि तुम्हें इन दुष्कर्मों के द्वारा जिन नरकों की प्राप्ति होगी, क्या तुम्हारे परिवार के लोग वहाँ तुम्हारा साथ देंगे ?

वाल्मीकि को आशा थी कि परिवार की ओर से इसका उत्तर 'हाँ' में मिलेगा। किन्तु उनका यह सौभाग्य था कि प्रियजनों के द्वारा उन्हें वास्तविक उत्तर प्राप्त हो गया। बेचारे परिजनों को यह भय लगा होगा कि कहीं इस स्वीकृति से उन्हें नरक में न जाना पड़े। उनका उत्तर स्पष्ट था, "तुम्हारा कर्त्तव्य परिवार का पालन करना है, पर इसे तुम डाके द्वारा पूरा करो, यह तुमसे किसने कहा था ?" निराश वाल्मीकि संतों के पास लौट कर आये। 'आशादेवी' की उपासना से मुक्त होकर ही व्यक्ति सच्चे अर्थों में ईश्वर का उपासक बन सकता है। तुलसी दोहावली में 'आशादेवी' का यही अनोखा चित्र प्रस्तुत करते हैं। 'आशादेवी' नाम की एक विलक्षण देवता हैं—वे अपनी सेवा करने वालों को शोक देती हैं, किन्तु जो उनका त्याग कर देते हैं, उन्हें मन में विश्राम प्रदान करती हैं :

तुलसी अदभुत देवता, आसादेवी नाम।
सेये सोक समरपई, त्यागे मन अभिराम।।

पश्चात्ताप और ग्लानि से भरे हुए वाल्मीकि को सप्तर्षियों ने जप का आदेश दिया। वाल्मीकि ने 'राम' के स्थान पर 'मरा' शब्द का जप किया था, ऐसा उल्लेख अनेक ग्रन्थों में आता है। गोस्वामीजी ने भी इसका उल्लेख अपनी अधिकांश रचनाओं में किया है :

उलटा नाम जपत जग जाना।
बालमीकि भए ब्रह्म समाना।।

× ×

राम बिहाइ 'मरा' जपते बिगरी सुधरी कवि कोकिल हूँ की।
नामहि ते गज की गनिका की अजामिल की चलिगै चल चूकी।।
नाम प्रताप बड़े कुसमाज बजाइ रही पति पांडु बधू की।
ताको भलो अजहूँ 'तुलसी' जेहि प्रीति प्रतीति है आखर दू की।।

ऐसा उलटा जप क्यों किया गया, इसका कारण कहीं स्पष्ट नहीं प्राप्त होता। कुछ लोगों की मान्यता यह है कि सप्तर्षियों ने ही उन्हें उलटा मंत्र दिया। उनकी हिंसक मनोवृत्ति को दृष्टिगत रखकर ही 'मरा' शब्द का उपदेश दिया गया। कुछ उन्हें इतना मूर्ख सिद्ध करते हैं कि वे 'राम' शब्द का शुद्ध उच्चारण नहीं कर पाने के कारण 'मरा' जपने लगे। अधिक मनौवैज्ञानिक यही प्रतीत होता है कि उन्हें सप्तर्षियों से तो 'राम' मंत्र ही प्राप्त हुआ होगा, पर जैसाकि अनेक बार होता है, डाके के समय प्रयुक्त 'मरा-मरा' उनके कानों में इतना गूँजता रहा होगा कि राम के स्थान पर 'मरा' की आवृत्ति होने लगी। तन्मयता बढ़ती गयी और वे चरम

सिद्धि की स्थिति तक पहुँच गए। तथाकथित बुद्धिवादियों को यह कथा असम्भव और अविश्वस्त प्रतीत होती है। उन्हें इसमें तार्किक असङ्गति का दोष भी दिखाई देता है। जीवन की व्यापक यथार्थता से परिचित न होने के कारण ही इस प्रकार की घटनाओं को अविश्वास की दृष्टि से देखा जाता है। जीवन में सब-कुछ तार्किक ढंग से ही सम्पन्न नहीं होता। तर्क केवल आत्मसंतोष की सृष्टि करता है। किसी मान्यता को तार्किक दृष्टि से सिद्ध कर देने के बाद बुद्धि संतुष्ट हो जाती है। यही तार्किकता का सर्वोत्कृष्ट परिणाम है। भौतिक व्यवहारों की तो बात दूर, गणित-सिद्ध विज्ञान के क्षेत्र में भी ऐसी तार्किक असंगतियों की भरमार देखी जा सकती है। विज्ञान के क्षेत्र में आविष्कारों का अनोखा इतिहास इसकी पुष्टि करता है। अनेक उत्कृष्ट आविष्कार गणित और विज्ञान की तार्किक पद्धति से न होकर ऐसे रूपों में हुए हैं कि जिन्हें पढ़कर व्यक्ति चमत्कृत हो जाता है। राबर्ट फ्लेमिंग को 'पेनिसिलीन' का आविष्कारक माना जाता है, किन्तु यह आविष्कार उनके तार्किक मार्ग से नहीं हुआ था। जीवाणुओं की खोज करने में वे जिन उपकरणों का प्रयोग करते थे, उनमें से एक 'प्लेट' भी थी। स्वच्छता की कमी से उसमें फफूँद लग गयी। हठात् वैज्ञानिक की दृष्टि इस ओर गयी कि फफूँद का क्षेत्र विषाणुओं से मुक्त हो गया है। वैज्ञानिक को एक प्रकाश और मार्ग मिला और उससे एक जीवनदायी औषधि का आविष्कार हो गया। जो कुछ हुआ, उसमें वैज्ञानिकता और आकस्मिकता का अनोखा संगम है। निश्चित रूप से तार्किकता को यहाँ द्राविड़ प्राणायाम कहना होगा। किन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि आकस्मिकता को सिद्धान्त का रूप नहीं दिया जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति अपनी खोजों के लिए संयोगों पर निर्भर नहीं रह सकता।

महर्षि वाल्मीकि को यदि 'मरा' जपते-जपते सिद्धि प्राप्त हो गयी, तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति राम के स्थान पर 'मरा' शब्द का जप करने लगे। इस कथा का तात्पर्य तो इतना ही है कि ईश्वरीय कृपा किस-किस पद्धति से प्राप्त हो सकती है, इसका दावा कोई व्यक्ति नहीं कर सकता। इस इतिहास के द्वारा यह भी आश्वासन प्राप्त होता है कि किसी प्रकार का अज्ञान भक्ति में बाधक नहीं होता। एक नन्हा बालक जब अपनी माँ से कुछ कहता है, तब माँ उसकी व्याकरण-हीन भाषा को दृष्टिगत नहीं रखती। यदि वह किसी शब्द का उलटा प्रयोग करे तो भी माँ उसके वास्तविक तात्पर्य को ही हृदयंगम करती है। परन्तु यह नन्हे बालक का सत्य है। माँ जब बालक को पाठशाला में पढ़ने के लिए भेजती है तब उसका उद्देश्य अपने पुत्र को व्याकरण-संगत भाषा सिखाना ही होता है। क्योंकि उसे यह ज्ञात है कि तोतली भाषा भले ही मुझे प्रिय हो किन्तु अन्य लोगों की दृष्टि में बालक इससे उपहास का पात्र माना जाएगा। इसलिए माँ वात्सल्य

और विवेक दोनों का ही उपयोग बालक के हित में करती है। वाल्मीकि अपनी अज्ञानता और असमर्थता के कारण नन्हें बालक की भाँति ईश्वर के वात्सल्य-भाजन बने। किन्तु बाद में उन्हें ईश्वर ने ऐसी योग्यता प्रदान की कि वे रामायण-जैसे महाकाव्य के स्रष्टा बन सके। रामायण के नायक का नामोच्चारण करने में असमर्थ व्यक्ति ही राम-चरित्र का अप्रतिम गायक बन बैठा, यह ईश्वरीय कृपा से ही सम्भव होने वाली साधना की विशेषता का परिचायक है। सीमित अर्थों में तो वाल्मीकि की गाथा प्रत्येक विद्वान् के जीवन की गाथा है। यदि कोई विद्वान् अपने रचना-कौशल पर गर्व करे तो उसे यह स्मरण दिला देना चाहिए कि बाल्यावस्था में तोतली भाषा बोलने वाला बालक यदि आज इतनी प्रतिभा का अधिकारी बन बैठा है तो यह ईश्वर की कृपा का ही परिणाम है।

तुलसी को भी लोगों ने वाल्मीकि का अवतार सिद्ध करने की चेष्टा की। उन्होंने इसे स्वीकृति या अस्वीकृति का विषय तो नहीं बनाया, किन्तु इस जन-मान्यता का वे बार-बार वर्णन करते हैं—यह मान्यता उन्हें प्रभु-कृपा का स्मरण दिलाती है :

जाति के, सुजाति के, कुजाति के पेटागि बस,
खाए टूक सबके विदित बात दुनी सो।
मानस बचन कायँ, किए पाप सति भांय,
राम को कहाइ दास दगाबाज पुनी सो॥
राम नाम को प्रभाउ पाउ महिमा प्रताप,
तुलसी सो सठ मानिअत महामुनी सो।
अति ही अभागो, अनुरागत न राम-पद,
मूढ़! एतो बड़ो अचरज देखि सुनी सो॥

यही वाल्मीकि काव्य के आदिस्रष्टा बने। हिंसा के कारण निष्ठुर अन्तःकरण ग्लानि और पश्चात्ताप की अग्नि से द्रवित हो गया। और वाल्मीकि के हृदय में इतनी कोमलता आ गई कि वे क्रौंच-वध से भी मर्माहत हो गए। अहिंसा-वृत्ति विस्तृत होकर केवल मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षियों के लिए भी हृदय में करुणा का संचार करती है। इस तरह करुणा से द्रवित अन्तःकरण में काव्य का जन्म हुआ। यह जन्म की स्वाभाविक प्रक्रिया है। प्रत्येक बालक का जन्म पीड़ा से ही तो होता है। माँ को उत्पीड़ित कर जन्म लेने वाले बालक के जीवन की सार्थकता यही है कि वह अपनी सेवावृत्ति के द्वारा सृष्टि में दुःख और उत्पीड़न के स्थान पर सुख-समृद्धि की सृष्टि करे। महर्षि वाल्मीकि के माध्यम से जन्म लेने वाले काव्य ने भी रामायण की रचना के द्वारा इस महान् उद्देश्य की सिद्धि में अपना अनुपम योग-

दान दिया।

वाल्मीकि और भगवान् राम का मिलन दो स्रष्टाओं का मिलन था। प्रभु के नाम ने यदि नये वाल्मीकि का निर्माण किया था, तो महर्षि वाल्मीकि ने अपने महाकाव्य के माध्यम से श्रीराम के वाङ्मय-विग्रह का सृजन किया। दोनों स्रष्टा एक-दूसरे के कृतज्ञ थे, इसीलिए दोनों ने एक-दूसरे की स्तुति की। यद्यपि दोनों ही एक-दूसरे के प्रति कृतज्ञता का अनुभव कर रहे थे, किन्तु प्रभु ने तो स्वयं को पूरी तरह मुनि का आज्ञाकारी बना लिया था। उनका यह निश्चय था कि व्यक्ति को अपने स्रष्टा के आदेश का पालन करना चाहिए। इसलिए भाव-भरे शब्दों में में स्तुति करते हुए उन्होंने महर्षि से उस स्थान का पता पूछा, जहाँ वे निवास करें :

देखि पायँ मुनिराय तुम्हारे।
भए सुकृत सब सुफल हमारे।।
अब जहँ राउर आयसु होई।
मुनि उदबेग न पावइ कोई।।
मुनि तापस जिन्हते दुःख लहहीं।
ते नरेस बिनु पावक दहहीं।।
मंगल - मूल बिप्र - परितोषू।
दहइ कोटि कुल भूसुर रोषू।।
अस जिय जानि कहिअ सोइ ठाऊँ।
सिय सौमित्रि सहित जहँ जाऊँ।।
तहँ रचि रुचिर परन तृन साला।
बास करौं कछु काल कृपाला।।

प्रभु की वाणी सुनकर वाल्मीकि का 'साधु-साधु' कह उठना बड़ा अटपटा-सा प्रतीत होता है। यह तो कुछ उसी प्रकार की बात हुई कि जैसे अपनी ही अभिनन्दन-सभा में कोई व्यक्ति अपने प्रति की गयी प्रशंसा को सुनकर ताली पीटते हुए प्रसन्नता का प्रदर्शन करे। भगवान् राम ने महर्षि की स्तुति की थी। एक साधारण व्यक्ति की भाँति वे आदेश-पालन करने के लिए प्रस्तुत थे। इसलिए बहिरंग दृष्टि से उनका 'साधु-साधु' कहना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता है। किन्तु महर्षि के वाक्यों का स्पष्टीकरण हो जाता है। यह साधुवाद राघवेन्द्र की अभिनय-कुशलता के लिए था। इसीलिए उन्होंने यह स्पष्ट किया कि जो कुछ आपने कहा है, वह तत्त्वतः भले ही ठीक न हो, किन्तु नाट्य-मर्यादा की दृष्टि से सर्वथा उचित है। क्योंकि अभिनेता का कार्य यथार्थ को अभिव्यक्ति देना नहीं है। उसे

नाटक में जो भूमिका दी जाए, ठीक उसीका निर्वाह करना होना चाहिए। आज आपने भी उसी कुशलता का परिचय दिया है। एक क्षत्रिय कुमार के रूप में वन में आकर तुमने उसी प्रकार की वाणी का प्रयोग किया है, जैसे एक सत्संगी को मुनि के समक्ष बोलना चाहिए :

तुम्ह जो कहहु करहु सब साँचा।
जस काछिअ तस चाहिअ नाचा॥

किन्तु आपका चरित्र एक समस्या बन जाता है, क्योंकि आपकी लीला का प्रभाव जड़ और बुध पर अलग-अलग पड़ता है। जड़ इसके द्वारा मोहग्रस्त हो जाते हैं, और विद्वज्जन इसमें सुख का अनुभव करते हैं :

राम देखि सुनि चरित तुम्हारे।
जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे॥

भगवान् शंकर के द्वारा भी इसी मत की पुष्टि की गई है :

उमा राम गुन गूढ़, पंडित मुनि पावहिं बिरति।
पावहिं मोह बिमूढ़, जे हरि बिमुख न धर्म रति॥

साधारण व्यक्ति के चरित्र को जिस तरह से देखने के हम अभ्यस्त हैं, उसी दृष्टि से श्रीराम के चरित्र की समीक्षा से भ्रांति का हो जाना अस्वाभाविक नहीं है। इसी भ्रांति के निवारण के लिए राघवेन्द्र के चरित्र के लिए 'लीला' शब्द का प्रयोग किया जाता है :

गिरजा सुनहु राम कै लीला।
सुर हित दनुज बिमोहन सीला॥

लीला का तात्पर्य है, नाटक में किया जाने वाला अभिनय। नाट्य-मंच पर प्रस्तुत किए जाने वाले दृश्य यथार्थ जीवन में घटित होने वाली घटनाओं की तरह ही दिखायी देते हैं। किन्तु प्रेरणा और परिणाम में वे वास्तविक जीवन से भिन्न होते हैं। संसार में जब कोई व्यक्ति किसी पर प्रहार करता है, तब उसके मूल में द्वेष और क्रोध की वृत्ति होती है। किन्तु नाट्य-मंच पर प्रहार के पीछे केवल अभिनय-बुद्धि होती है। इसीलिए यथार्थ जीवन में जहाँ प्रहार करने वाला व्यक्ति दण्ड का भागी बनता है, वहीं नाट्य-मंच पर प्रहार करने वाले अभिनेता को उसके सफल अभिनय के लिए पुरस्कृत किया जाता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से राम के चरित्र की समीक्षा किये जाने पर उनके कुछ

कार्य औचित्यपूर्ण और आदर्श प्रतीत होंगे, तो उनके अनेक कार्यों में त्रुटियाँ भी दिखायी देंगी। ऐतिहासिक दृष्टि से राम के चरित्र की पर्यालोचना करने वालों को राम के अधिकांश चरित्र तो आदर्श प्रतीत होते हैं, किन्तु बालि-वध को वे मर्यादा के विरुद्ध सिद्ध करते हैं। कुछ की दृष्टि में शूर्पणखा का विरूपीकरण अनौचित्यपूर्ण है, तो कुछ में सीता-परित्याग के प्रति आक्रोश दिखायी देता है। किन्तु जो श्रीराम को साक्षात् ईश्वर मानते हैं, और उनके चरित्र को लीला की दृष्टि से देखते हैं, उन्हें ये प्रश्न व्यथित नहीं बनाते। वह नाट्य-रस का आनन्द लेते हुए केवल उसके उद्देश्य पर विचार करते हैं। कुशल अभिनेता अपनी अभिनय-कुशलता से ऐसे दृश्य प्रस्तुत करता है कि कभी-कभी चतुर-से-चतुर दर्शक भी उसे यथार्थ मान बैठता है। कलकत्ते के किसी नाट्यगृह में घटित होने वाली एक घटना बड़ी प्रसिद्ध है : रंगमंच पर गोरों के अत्याचार का दृश्य प्रस्तुत किया जा रहा था। दर्शकों में प्रसिद्ध मनीषी ईश्वरचन्द्र विद्यासागर भी थे। अंग्रेज बने हुए अभिनेता ने इतना सफल अभिनय किया कि विद्यासागर को यह विस्मृत हो गया कि यह सब नाट्य का अंग है। क्रोध में आकर उन्होंने इस अभिनेता पर जूते से प्रहार कर दिया। किन्तु इस प्रहार से वह अभिनेता परम प्रसन्न हो उठा और नाटक की समाप्ति के बाद उसने यह घोषणा की कि "आज तक अपनी अभिनय कुशलता के लिए मुझे जितने प्रमाण-पत्र प्राप्त हुए हैं, उनमें से यह जूता सर्वश्रेष्ठ है।"

यदि कोई व्यक्ति ऐसी अभिनय-कुशलता का प्रदर्शन कर सकता है, तब ईश्वर के अभिनय का क्या कहना ! इसीलिए भगवान् राम के चरित्र को देखकर कभी-कभी बड़े-से-बड़ा ज्ञानी भी भ्रमित हो जाता है। गरुड़ भगवान् के वाहन माने जाते हैं। उनका परिचय इस रूप में दिया गया है :

गरुड़ महाग्यानी गुन रासी।
हरि सेवक अति निकट निवासी ।।

देवर्षि के द्वारा सूचना प्राप्त होने पर वे लंका के रणाङ्गण में जाते हैं। वहाँ नागपाश में बँधे हुए श्रीराम और लक्ष्मण को देखकर वे इतने अधिक भ्रमित हुए कि उसके निवारण के लिए उन्हें लंका से लेकर ब्रह्मलोक और सुमेरु पर्वत तक की यात्रा करनी पड़ी। यह ईश्वर की अभिनय-कुशलता ही थी कि उनका अत्यन्त निकटस्थ वाहन भी भ्रान्त हो गया। इसी को दृष्टिगत रखकर गोस्वामीजी कह उठते हैं कि यदि इतना बड़ा ज्ञानी भी प्रभु-लीला को देखकर भ्रमित हो सकता है, तब साधारण मनुष्य किस बल-बूते पर भ्रान्ति-रहित होने का दावा करेगा ? :

ग्यानी भगत सिरोमनि, त्रिभुवनपति कर जान।
ताहि मोह माया नर, पाँवर करहि गुमान।।

किन्तु इतना अवश्य है कि भक्त और विवेकी जहाँ विचार और सत्संग के माध्यम द्वारा भ्रांति-मुक्त हो जाते हैं, वहाँ अविवेकी व्यक्ति भ्रांति को ही यथार्थ सत्य मान बैठता है। लीला-दर्शन की अपेक्षा लीला-कथा-श्रवण अधिक महत्त्व-पूर्ण है, क्योंकि उसके द्वारा इन भ्रांतियों का निवारण किया जाता है। भगवान् राम महर्षि वाल्मीकि और उन-जैसे संतों के प्रति इसलिए भी आभारी हैं कि वे लीला के द्वारा उत्पन्न भ्रांतियों का निवारण करते हैं। महर्षि वाल्मीकि स्वयं रामायण के रचयिता हैं। उन्होंने राम-चरित्र को समझने का मूल सूत्र प्रदान किया। वाल्मीकि के द्वारा कथित इन पंक्तियों का कुछ विशेष अर्थ भी है।

वाल्मीकि-रामायण में जिस तरह श्रीराम का चरित्र प्रस्तुत किया गया है, उसमें ऐतिहासिक दृष्टि ही प्रमुख प्रतीत होती है। यद्यपि उसमें श्रीराम की ईश्वरता का भी संकेत है, किन्तु वह इतना अल्प है कि अनेक अध्ययनकर्त्ताओं को यह कहने का अवसर प्राप्त हो जाता है कि वाल्मीकि के अवतार तुलसीदास ने इस भूल का परिमार्जन करने के लिए ही रामचरितमानस में पग-पग पर उनकी ईश्वरता को दुहराया है। वाल्मीकि ने श्रीराम से मिलन का विवरण अपने ग्रंथ में नहीं दिया है, किन्तु तुलसी के रूप में उन्हें उसका वर्णन करना युक्ति-संगत प्रतीत हुआ और उस वर्णन में राम की ईश्वरता की स्पष्ट घोषणा की गयी है।

महर्षि वाल्मीकि से भगवान् राम का निवास के विषय में किया जाने वाला प्रश्न सांकेतिक था। वाल्मीकि रामायण के रचयिता हैं। रामायण का अर्थ है: 'श्रीराम का घर'। गृह-निर्माता से यह प्रश्न करना सर्वथा युक्तिसंगत था। वाल्मीकि ने भी विनोद में प्रश्न कर ही दिया—"अपने मुझसे पूछा कि मैं कहाँ रहूँ। किन्तु मुझे तो यह प्रश्न करते हुए संकोच लग रहा है कि जहाँ आप न हों, वह स्थान मुझे बता दीजिए—बदले में मैं भी आपको रहने के लिए स्थान दिखला दूंगा":

पूँछेहु मोहि कि रहौं कहँ, मैं पूँछत सकुचाउँ।
जहँ न होहु तहँ देहु कहि, तुम्हहि देखाऔं ठाउँ।।

किन्तु इसके तत्काल बाद महर्षि ने प्रभु के आवास के लिए चौदह स्थान बताए:

सुनहु राम अब कहउँ निकेता।
जहाँ बसउ सिय लखन समेता।।

महर्षि का वार्तालाप स्वयं परस्पर-विरोधी-सा प्रतीत होता है; क्योंकि एक ओर वे ईश्वर की सर्वव्यापकता का संकेत करते हैं, और दूसरी ओर वे प्रभु के निवास के लिए कुछ विशिष्ट स्थानों की कल्पना करते हैं। किन्तु विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इसी विरोधाभास के माध्यम से ज्ञान और भक्ति का समन्वय-सूत्र प्रस्तुत किया गया है। ज्ञान ईश्वर की सर्वव्यापकता का वर्णन करता है। किन्तु यह वर्णन तो सैद्धान्तिक मात्र है। जिस सर्व-व्यापकता से समाज और व्यक्ति की समस्याओं का समाधान न हो, वह मात्र पोथी का विषय है। ज्ञान जिस ब्रह्म की सर्व-व्यापकता का वर्णन करता है, वह वेदान्त की भाषा में द्रष्टा, कूटस्थ और निष्क्रिय है। उसके परिचय के लिए प्रयुक्त होने वाले तीनों शब्द व्यक्ति को निराश बनाते हैं। यदि वह घटनाओं का तटस्थ दर्शक-मात्र है, तो ऐसा द्रष्टा किस काम का? यदि वह कूटस्थ के रूप में अविचलित है, तो उसका हृदय द्रवित भी कैसे किया जा सकता है? किन्तु द्रवित होने के बाद भी यदि वह निष्क्रिय होकर बैठा रहे, तो वह व्यक्ति के लिए श्रद्धा के स्थान पर अश्रद्धा का विषय बन सकता है। समाज में भी कोई शक्तिशाली व्यक्ति यदि घटनाओं का मूक दर्शक बना रहे, तो वह लोगों की आलोचना का पात्र बन जाता है। अतः व्यक्ति को ऐसे ईश्वर की आवश्यकता है जो दीनों की दशा देखकर ही द्रवित हो जाए, और सहायता के लिए दौड़ पड़े। इसलिए पौराणिक उपाख्यानों में भक्तों की रक्षा के लिए कल्पनातीत गति से आते हुए भगवान् के अनेक मधुर चित्र प्रस्तुत किए गए हैं।

गज की पुकार पर वे वैकुण्ठ से गरुड़ पर बैठे हुए चले आ रहे हैं। किन्तु शीघ्रता की व्यग्रता में उन्हें गरुड़ की गति भी मन्द-सी प्रतीत होती है। वे गरुड़ को छोड़कर नीचे कूद पड़ते हैं। और ग्राह का संहार कर गज को दुःख से मुक्त कर देते हैं:

तं वीक्ष्य पीडितगजं सहसावतीर्य,
सग्राहमाशु सरसः कृपयोज्जहार।
ग्राहाद् विपाटितमुखादरिणा गजेन्द्रं
संपश्यतां हरिरमूमुचयस्त्रियाणाम्॥

व्यक्ति ऐसे ही ईश्वर की आवश्यकता का अनुभव करता है, किन्तु गोस्वामीजी इसमें एक संशोधन जोड़ देते हैं। यदि वह किसी लोक से आयेगा तो शीघ्रता करने पर भी कुछ क्षणों का अन्तराल तो पड़ेगा ही। इसलिए यदि सर्वव्यापी ईश्वर को ही सक्रिय किया जा सके तो देश और कालजन्य व्यवधान की समस्या का समाधान भी प्राप्त हो सकता है। अतः रामचरितमानस में सर्वव्यापी ब्रह्म

को ही सक्रिय रूप में अभिव्यक्त किया जाता है।

वाल्मीकि ने प्रभु के निवास के लिए चौदह स्थान बताए। ये भक्तों के हृदय हैं। इसके द्वारा समता और विषमता के दर्शन का भी संकेत दे दिया गया। सूर्य का प्रकाश सम होते हुए भी जैसे आतिशी शीशे के द्वारा केन्द्रित करके प्रज्वलनशील बना लिया जाता है, वैसे ही सम-ब्रह्म को हृदय की भावना के द्वारा अपना पक्षपाती बनाया जा सकता है :

जद्यपि सम नहिं राग न रोषू।
गहइ न पाप पुन्य गुन दोषू।।
करम प्रधान बिस्व करि राखा।
जो जस करइ सो तस फल चाखा।।
तदपि करहिं सम बिषम बिहारा।
भगत अभगत हृदय अनुसारा।।

भक्ति-भावना के द्वारा अपने अन्तःकरण का निर्माण इस रूप में किया जा सकता है जिसमें ईश्वर भक्त की भावना के अनुकूल ही लीला करने लगे। चौदह प्रकार के स्थान बताकर भक्ति की व्यापकता की ओर इंगित किया गया। प्रत्येक व्यक्ति का अन्तकरण एक ही प्रकार का नहीं होता, और हृदय का परिवर्तन भी सरल कार्य नहीं है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति यह सोचकर निराश हो सकता है कि मेरा हृदय ईश्वर का निवास-स्थान बनने के योग्य नहीं है। किन्तु वाल्मीकि इन स्थानों के द्वारा आश्वस्त करते हैं कि प्रभु के निवास के लिए स्वभाव और संस्कार में परिवर्तन अपेक्षित नहीं है। उपलब्ध वस्तुओं के द्वारा केवल साज-सज्जा ही अपेक्षित है। क्योंकि ईश्वर सर्वव्यापक होने के कारण प्रत्येक परिस्थिति में रहने का अभ्यस्त है; अथवा आवश्यकता और ऋतु को दृष्टिगत रखकर भिन्न-भिन्न प्रकार के भवन भी उपयोगी सिद्ध होते हैं। यदि किसी व्यक्ति के पास ऐसा भवन हो जिसका वातावरण ही उष्ण हो तो उसका सदुपयोग यही होगा कि मित्र को वहाँ शीत ऋतु में ठहरा दिया जाय। प्रत्येक व्यक्ति व वस्तु किसी-न-किसी समय उपयोगी सिद्ध होती है। प्रत्येक भावना, क्रिया और विचार के द्वारा ईश्वर की आराधना की जा सकती है। अतः महर्षि ने सभी साधकों को यह सुविधा प्रदान की कि वे ईश्वर को अपने हृदय में रहने के लिए निमन्त्रित करें।

॥ श्रीराम: शरणं मम ॥

रामहि केवल प्रेम पिआरा।
जानि लेहु जो जान निहारा॥

अर्थ—"जो जानना चाहें, जान लें कि श्रीराम को केवल प्रेम ही प्रिय है।"

श्रीराघवेन्द्र के चित्रकूट-निवास का समाचार चारों ओर फैल गया। उनसे मिलने के लिए आने वालों का ताँता लग गया। आने वाला समूह एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न मनोवृत्ति का था। गोस्वामीजी ने सर्वप्रथम देवताओं के आगमन का वर्णन किया है। सर्वाधिक दूरी से आने वाले सबसे पहले पहुँच गए। प्रतीत होता है कि प्रभु के प्रति सर्वाधिक भक्ति इन्हीं के अन्त:करण में है, तभी तो स्वर्ग से मृत्युलोक की दूरी की चिन्ता किए बिना उतावले देवता राघवेन्द्र के निकट पहुँच गए। किन्तु यथार्थ इससे सर्वथा भिन्न था। प्रेम के स्थान पर इससे स्वार्थ की सजगता का परिचय प्राप्त होता है। देवताओं का परिचय रामचरितमानस में स्वार्थियों के रूप में ही दिया गया है:

आए देव सदा स्वारथी।
बचन कहहिं जनु परमारथी॥

यद्यपि परमार्थ की तुलना में स्वार्थ की सर्वदा आलोचना की गयी है, किन्तु स्वार्थी वृत्ति सर्वथा निरर्थक नहीं है। स्वार्थ में भी श्रेणी-विभाजन किया जा सकता है। भर्तृहरि ने व्यक्तियों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है। प्रथम

वे हैं जो दूसरों के हित के लए अपने स्वार्थ कापरित्याग कर देते हैं। दूसरे प्रकार के व्यक्ति वे हैं जो अपने स्वार्थ के साथ-साथ दूसरों के भी स्वार्थ का ध्यान रखते हैं, तथा तीसरे प्रकार के व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिए दूसरों का अहित करने में संकोच नहीं करते। ऐसे व्यक्तियों को भर्तृहरि मनुष्य मानने के लिए ही प्रस्तुत नहीं हैं। इन्हें तो वे 'मानुष-राक्षस' की उपाधि देते हैं, किन्तु अन्त में व्यंग्य करते हुए उन्होंने कहा, "परन्तु जो निरर्थक ही दूसरों का हित विनष्ट करते हैं, मैं नहीं जानता कि वे कौन हैं।"

देवताओं के स्वार्थ को द्वितीय श्रेणी में रखा जा सकता है। मनुष्य और देवताओं का सम्बन्ध इसी स्वार्थ-भावना पर आधारित है। सृष्टि के प्रारम्भ में यज्ञ-चक्र का सृजन करते हुए ब्रह्मा ने मनुष्यों को यह आदेश दिया कि तुम यज्ञ के द्वारा देवताओं को सन्तुष्ट करो और देवता बदले में तुम्हारी कामनाओं को पूर्ण करें :

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्ट कामधुक् ॥१०॥
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥ गी०, अ० ३

यही स्वार्थ का उचित सामंजस्य है। यदि संसार के सभी जीव स्वार्थ-परायण हैं तो स्वार्थ की अनावश्यक निन्दा नहीं की जानी चाहिए अपितु स्वार्थ को आदान-प्रदान की भावना से स्वीकार कर लिया जाना चाहिए। समस्या तो तब आती है, जब स्वार्थपरायण व्यक्ति एक-दूसरे के समक्ष परस्पर निःस्वार्थता का प्रदर्शन करते हुए ठगने की चेष्टा करते हैं। इसका सर्वोत्कृष्ट दृष्टान्त प्रतापभानु का चरित्र है। उसके द्वारा अनेक यज्ञ विधिपूर्वक सम्पन्न किए जाते हैं :

जहँ लगि कहे पुरान श्रुति, एक एक सब जाग।
बार सहस्र सहस्र नृप, किए सहित अनुराग॥

यदि प्रतापभानु उन यज्ञों के द्वारा अपनी कामनाओं को पूर्ण करने की प्रार्थना करता तो इसमें कोई अनौचित्य न था। यह तो शास्त्र-विहित पद्धति है। किन्तु वहाँ उसने निष्कामता का प्रदर्शन किया—और वन में कपट मुनि के समक्ष वह अपनी कामनाओं को प्रकट कर देता है।

प्रतापभानु के आचरण के लिए एक ही दृष्टान्त दिया जा सकता है कि पत्नी के लिए पति के समक्ष कामना प्रकट करना सर्वथा धर्मानुकूल है। यदि कोई स्त्री पति के समक्ष निष्कामता का प्रदर्शन करते हुए एकान्त में परपुरुष से

किसी वस्तु की याचना करे तो धर्म-विरुद्ध आचरण के कारण दण्ड की भागिनी वनेगी। प्रतापभानु को भी इसीलिए दण्डित होना पड़ा, क्योंकि उसने शास्त्र-विहित यज्ञ से कामना-पूर्ति के स्थान पर अपरिचित व्यक्ति से कामना-पूर्ति की याचना की।

सकामता के लिए देवताओं की आलोचना करते हुए भी उन्हें मानस में सम्मान का स्थान दिया गया है। इसी दृष्टि से देवताओं के आगमन पर प्रभु ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए उनका स्वागत किया :

अमर नाग किन्नर दिसि पाला।
चित्रकूट आए तेहि काला॥
राम प्रनाम कीन्ह सब काहू।
मुदित देव लहि लोयन लाहू॥

किन्तु दूसरी ओर इसमें प्रभु के शील का भी मधुर चित्र प्रदर्शित होता है। राम-राज्य के निर्माण में देवताओं ने ही बाधा उपस्थित की थी; किन्तु उनके प्रति भी राघवेन्द्र का सौजन्य और औदार्य अक्षुण्ण है। उनके प्रति वे प्रणाम के माध्यम से अपना समादर भी प्रकट करते हैं। देवता प्रभु के समक्ष अपनी विपत्तियों का वर्णन करते हैं :

करि बिनती दुख दुसह सुनाए।
हरषित निज निज सदन सिधाए॥

वनवासी श्रीराघवेन्द्र के समक्ष देवताओं का यह दुःख-प्रदर्शन भोग-दर्शन की व्यर्थता सिद्ध करने के लिए ही है। समग्र वैभव का परित्याग कर वन में आने पर भी प्रभु प्रसन्न हैं। देवता स्वर्ग के नन्दन-कानन में अप्सराओं के साथ विहार करते हुए समृद्धि के सुखद वातावरण में भी दुःख का ही अनुभव करते हैं। भोग की स्वाभाविक परिणति भी यही है। उनके लिए, वर्तमान और भविष्य, दोनों ही दुःख की सृष्टि करते हैं। वर्तमान में वे भोग की मात्रा से सन्तुष्ट नहीं होते। मरणधर्मा मानव अपनी शारीरिक बाध्यताओं के कारण भले ही कुछ क्षणों के लिए भोगों में तृप्ति का अनुभव करे, किन्तु अजर-अमर देवता एक क्षण के लिए भी समग्र तृप्ति का अनुभव नहीं करता है। भोगी का भविष्य तो सर्वदा अन्धकारमय होता ही है। मरणधर्मा भोगी वृद्धावस्था और रोगों से घिरकर दुःख पाता है। उसका दुःख भी द्विगुणित हो जाता है। एक ओर तो वह शारीरिक पीड़ा से कष्ट पाता है, और दूसरी ओर भोगों की स्मृति व उन्हें न भोग पाने की असमर्थता से उसका मन महान् दुःख का अनुभव करता है। अमर देवताओं

के समक्ष यह समस्या भले ही न हो, किन्तु उन्हें यह ज्ञात है कि पुण्य क्षीण होतेही उन्हें पुनः मृत्युलोक में धकेल दिया जाएगा—"क्षीणे पुण्ये मृत्युलोकं विशन्ति।" फिर भी भोगों का आकर्षण इतना अद्भुत है कि व्यक्ति सब-कुछ जानते हुए भी उसे पाने के लिए व्यग्र रहता है। इसीलिए शास्त्र केवल भोगों की निन्दा ही नहीं करते, अपितु उनकी सम्यक् उपलब्धि का मार्ग भी बताते हैं। यह विरोधाभास-सा प्रतीत होने पर भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सुसङ्गत है। यदि शास्त्र केवल भोगों की निन्दा ही करते रहें, तो इतने मात्र से कोई व्यक्ति भोगों से विरत नहीं हो सकता। अपितु सम्भावना यह है कि वह यह सोच कर शास्त्र-विमुख न हो जाय कि उसकी अभीष्ट वस्तु इनके द्वारा उपलब्ध नहीं हो सकती है, तब उनकी उपलब्धि के लिए उसके पास अवैध मार्ग ही शेष रहेगा। इसलिए शास्त्र भोगी को भी निराश नहीं लौटाता। वह वास्तविकता बताते हुए भी उसे अभीष्ट भोगों की उपलब्धि का वैध मार्ग बता देता है। किन्तु वह यह आशा तो करता ही है कि भोगों के द्वारा उपलब्ध होने वाला दुःख अन्त में व्यक्ति को उससे विरत बना देगा। इसीलिए एक ओर जहाँ शास्त्र धर्मपालन के द्वारा स्वर्ग की उपलब्धि का वर्णन करता है, वहाँ "धर्म ते बिरति जोग ते ग्याना" कहकर धर्म के परम फल की ओर इङ्गित भी करता है।

चित्रकूट में भी इन दोनों पक्षों का प्रतिनिधित्व दिखायी देता है। देवताओं के जाते ही मुनियों की मंडली प्रभु का दर्शन करने के लिए एकत्र होती है :

चित्रकूट रघुनन्दन छाए।
समाचार सुनि सुनि मुनि आए॥
आवत देखि मुदित मुनि बृन्दा।
कीन्ह दण्डवत रघुकुल चन्दा॥
मुनि रघुबरहि लाइ उर लेहीं।
सुफल होन हित आसिष देहीं॥

देवताओं की तुलना में प्रभु ने मुनियों से जो व्यवहार किया, उसमें दो पार्थक्य हैं। जहाँ श्रीरामभद्र ने देवताओं को केवल प्रणाम किया था, वहाँ मुनियों के आगमन पर वे उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम करते हैं। प्रणाम में आदरवृत्ति होते हुए भी समर्पण की भावना विद्यमान नहीं है, किन्तु दण्डवत् में समग्र समर्पण की वृत्ति साकार हो रही है। भोगी की आकांक्षा को स्वीकार करते हुए भी वे उसे यह वचन नहीं दे सकते कि पूरी तरह से उसकी इच्छा में प्रभु अपने को एकाकार कर सकते हैं; किन्तु निष्काम मुनियों के प्रति प्रभु पूरी तरह समर्पित हैं, क्योंकि उन्हें यह ज्ञात है कि निष्काम मुनियों के अन्तःकरण में केवल लोक-मङ्गल की

ही भावना विद्यमान रहती है।

मुनियों ने भी प्रभु को उठाकर हृदय से लगा लिया। देवताओं से शारीरिक सामीप्य होते हुए भी हृदय की दूरी बनी हुई थी। उनका सामीप्य व्यावहारिक मात्र था, किन्तु मुनि और प्रभु हृदय से भी एक-दूसरे के सन्निकट हैं। मुनियों को प्रभु के सामीप्य से आत्मिक आनन्द की अनुभूति होती है। इस मिलन में शाब्दिक वार्तालाप का कोई वर्णन प्राप्त नहीं होता। बिना कुछ कहे ही हृदय ने हृदय की बात सुन ली। मुनि लौट कर अपनी साधना में संलग्न हो जाते हैं। प्रभु के इस मिलन को भी मुनियों ने साधना के फल के रूप में ही देखा था। इस लिए वे लौट कर भी पुनः साधना में संलग्न हो जाते हैं। वे ईश्वर की उपलब्धि के माध्यम को खोना नहीं चाहते :

जथा जोग सनमानि प्रभु, बिदा किए मुनि बृन्द।
करहिं जोग जप जाग सब, निज आश्रमन्हि सुछन्द।।

कोल-किरात सबसे अन्त में आते हैं। उन्हें आने का साहस जुटा पाने में कुछ समय लगा, यह स्वाभाविक ही था। व्यावहारिक और पारमार्थिक दोनों दृष्टियों से वे स्वयं को प्रभु के सामीप्य का अधिकारी नहीं मान सकते थे। व्यावहारिक जगत् में दरिद्र कोल-किरात अयोध्या के सम्राट् के सन्निकट कैसे जाते? ईश्वर के सामीप्य के लिए शास्त्रों ने जिन साधनाओं का उल्लेख किया है, उनके जीवन में उनका पूरी तरह अभाव था। दरिद्रता और अभाव से संत्रस्त, हिंसा के द्वारा अपनी क्षुधा शान्त करने वाले कोल-किरात प्रभु के समीप आने का साहस कैसे करते? किन्तु विलम्ब से ही आए, पर आए अवश्य। देवताओं, मुनियों और कोल-किरातों के आगमन में शाब्दिक पार्थक्य के द्वारा भी गोस्वामीजी ने भाव-रस की सृष्टि का है। राघवेन्द्र का आगमन होते ही देवता तत्काल प्रभु से मिलने के लिए चले आते हैं, यहाँ 'सुनि' जैसे किसी शब्द के प्रयोग की आवश्यकता न थी। वन-गमन के पीछे स्वयं उनकी ही योजना थी। किन्तु मुनि 'समाचार सुनि-सुनि' कर ही आए थे :

चित्रकूट रघुनन्दन छाए।
समाचार सुनि-सुनि मुनि आए।।

यहाँ पर 'सुनि-सुनि' शब्द की पुनरुक्ति बड़ी स्वाभाविक है। एक मुनि के द्वारा दूसरे मुनि तक समाचार पहुँचने की प्रक्रिया का यह परिचायक है। मुनियों के आश्रम एक-दूसरे से यथेष्ट दूरी पर विद्यमान थे। इसीलिए समाचार सुन-सुन कर वे एकत्र हुए। किन्तु कोल-किरातों के प्रसङ्ग में सुनने के स्थान पर 'सुधि

पाई' वाक्य का प्रयोग किया गया है :

यह सुधि कोल किरातन्ह पाई।
हरषे जनु नव निधि घर आई ।।

यद्यपि 'सुधि' शब्द साधारणतया शब्द-कोष में समाचार के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है, किन्तु तुलसी-साहित्य में इसका एक अपना महत्त्व है। 'समाचार' शब्द में जहाँ केवल औपचारिकता है, वहाँ 'सुधि' शब्द अपनत्व से भरा हुआ है। इसी-लिए तुलसीदास विनयपत्रिका में श्रीकिशोरीजी की वन्दना करते हुए उनसे यह अनुरोध करते हैं, कि "माँ, तुम कभी अवसर पाकर प्रभु को मेरी भी सुधि दिलाना" :

कबहुँक अंब, अवसरु पाइ।
मेरि औ सुधि द्याइबी, कछु करुन कथा चलाइ ।।
दीन सब अँग हीन, छीन, मलीन, अघी अघाइ।
नाम लै भरे उदर एक प्रभु, दासी-दास कहाइ ।।
बूझिहैं 'सो है कौन' कहिबी, नाम-दसा जनाइ।
सुनत कृपालु के मेरी, बिगरि औ बनि जाइ ।।
जानकी जग-जननि जन की, किए बचन सहाइ।
तरै तुलसीदास भव तव नाथ गुन गन गाइ ।।

प्रभु के आगमन का 'समाचार' सुनकर तो बेचारे कोल-किरात आ ही नहीं सकते थे। उन्हें तो 'सुधि' मिली थी। लगता है, इस 'सुधि' के पीछे निषादराज की भावना और प्रेरणा कार्य कर रही थी। यद्यपि प्रभु के आदेश का पालन करने के लिए निषादराज मार्ग से ही लौट गए थे, किन्तु वे यह तो चाहते ही थे कि उन्होंने श्रीरामचन्द्र के शील-स्वभाव का जो रस प्राप्त किया है, उससे उनके जाति-बन्धु और सम श्रेणी के लोग वंचित न रहें। इसलिए उन्होंने यह 'सुधि' कोल-किरातों तक पहुँचाने का प्रबन्ध कर दिया था। इसी सुधि ने उन्हें यह साहस प्रदान किया कि वे श्रीराम के सन्निकट पहुँच सके। किन्तु उनकी भावना देवता और मुनियों से सर्वथा भिन्न थी। देवता जानते थे कि श्रीराम का आग-मन उनकी योजना का परिणाम है; वहाँ मुनियों की यह मान्यता थी कि यह उनकी साधना का सुफल है :

सिय सौमित्रि राम छबि देखहिं।
साधन सकल सुफल करि लेखहिं ।।

किसी-न-किसी रूप में दोनों ही प्रभु के आगमन को अपने पुरुषार्थ से सम्बद्ध करते हैं। किन्तु बेचारे कोल-किरात यह दावा कैसे कर सकते थे कि प्रभु के पदार्पण में उनके किसी साधन या पुरुषार्थ का हाथ है। इसमें उन्हें तो अपने भाग्य का ही दर्शन हुआ। जब कोई वस्तु व्यक्ति को अप्रयास प्राप्त हो जाती है, तब उसमें वह सौभाग्य का अनुभव करता है। यही उन्होंने कहा भी :

अब हम नाथ सनाथ सब, भए देखि प्रभु पाय।
भाग हमारे आगमनु, राउर कोसलराय॥

प्रश्न तो यह है कि इन तीनों में से किसकी धारणा यथार्थ है? योजना, साधना और भाग्य में वस्तुतः किस माध्यम से प्रभु की उपलब्धि होती है? यह सचमुच अनोखी-सी बात है कि कोल-किरात ही सत्य के सर्वाधिक निकट थे। मानस में बार-बार इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है कि ईश्वर अकारण-करुण है। वह निज इच्छा से ही अवतरित होता है। इसीलिए भगवान् शंकर अवतार का कोई कारण दावे से बताने के लिए प्रस्तुत नहीं होते :

अस प्रभु दीनबन्धु हरि, कारन रहित दयाल।
तुलसिदास सठ तेहि भजु, छाड़ि कपट जंजाल॥

× ×

निज इच्छा प्रभु अवतरइ, सुर महि गो द्विज लागि।
सगुन उपासक संग तहँ, रहहिं मोच्छ सुख त्यागि॥

× ×

हरि अवतार हेतु जेहि होई।
इदमित्थं कहि जाइ न सोई॥

कार्य-कारण का सिद्धान्त एक सीमा तक ही सुसंगत सिद्ध होता है। ज्यों-ज्यों व्यक्ति शोध-क्रम में बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों कार्य-कारण की संगति की सीमाएँ समाप्त हो जाती हैं। विश्लेषण तर्कपरक के स्थान पर तथ्यपरक हो जाता है। अनेक विषयों में यही कहना पड़ता है कि 'यह ऐसा है'। ईश्वर के सम्बन्ध में तो व्यक्ति इतनी सीमाओं में घिरा हुआ है कि उसके विषय में जो भी कहा जाता है, वह केवल उसके संस्कारों और मान्यताओं का ही परिणाम होता है। उन कथनों के द्वारा ईश्वर के विषय में ज्ञान की वृद्धि नहीं होती। हाँ, इसके द्वारा उस व्यक्ति की मनोवृत्ति पर अवश्य प्रकाश पड़ता है। इस विषय में ब्रह्मा भी अपवाद नहीं हो सकते। जब वे प्रभु से अवतार लेने की प्रार्थना करते हुए स्तुति करते हैं, तब वह तर्क की कसौटी पर खरी नहीं आती। स्तुति का प्रारम्भिक

वाक्य ही असंगतियों से भरपूर है—"देवताओं के नायक, आपकी जय हो ! जन-सुखदायक, आपकी जय हो ! आप प्रणत जनों का पालन करने वाले हैं। आप असुरों के शत्रु हैं। आप तो ब्राह्मणों का हित करने वाले हैं। आप लक्ष्मी के प्रिय पति हैं" :

जय जय सुरनायक, जन-सुखदायक, प्रनतपाल भगवंता।
गो-द्विज-हितकारी, जय असुरारी, सिन्धु-सुता-प्रिय कंता।।

यदि समस्त विश्व का रचयिता एकमात्र ईश्वर है, जैसा कि स्वयं ब्रह्मा ने स्वीकार किया है, तो यह कहना कि वह देवताओं का नायक है, सर्वथा असंगत है। राम-नाम की व्याख्या करते हुए गुरु वशिष्ठ ने उसे 'अखिल लोकदायक विश्रामा' कहा है। फिर वह केवल जन-सुखदायक कैसे होगा, जब वह स्वयं घोषित करता है कि यह समस्त विश्व उसके द्वारा ही निर्मित है, और सब पर उसकी बराबर दया है ? :

सकल बिस्व यह मम उपजाया।
सब पर मोरि बराबरि दाया।।

ऐसी स्थिति में वे असुरों के शत्रु कैसे हो सकते हैं, जब उन्हें ब्रह्मा 'गो-द्विज-हितकारी' कहते हैं, तब बरबस प्रभु का वह वाक्य स्मृति में आ जाता है, जो उन्होंने अंगद को लंका में दौत्य कर्म के लिए नियुक्त करते हुए कहा था :

काज हमार तासु हित होई।
रिपु सन करेहु बतकही सोई।।

इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि वे 'रावण-हितकारी' भी हैं। इन तर्कों के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि ये सारे विश्लेषण भगवान् के लिए उतने उपयुक्त नहीं हैं जितने ब्रह्मा के लिए। व्यक्ति व्यवहार में संस्कारों से पूरी तरह मुक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि सुव्यवस्थित समाज के लिए संस्कारों का सृजन आवश्यक है। इसलिए हिन्दू जाति में गर्भावस्था से लेकर मृत्यु के पश्चात् तक जीवन को संस्कारों से सम्बद्ध किया गया है। षोडश संस्कारों के रूप में उसका वर्णन शास्त्रों में विस्तार से प्राप्त होता है। संस्कारों से ही व्यक्ति सुसंस्कृत होता है। जैसे अनगढ़ पत्थर चतुर शिल्पी के द्वारा आकर्षक मूर्ति के रूप में परिवर्तित कर दिया जाता है, ठीक उसी तरह धर्म भी संस्कारों के माध्यम से सुसंस्कृत व्यक्ति का निर्माण करता है। यह संस्कार जहाँ व्यवहार के लिए वरदान है वहीं परमार्थ-तत्त्व की उपलब्धि में बाधक भी बन जाता है। इस सत्य को भारतीय

मनीषियों ने भली-भाँति समझा था। आश्रम-व्यवस्था में संन्यास को सर्वोच्च स्थान इसीलिए दिया गया था कि वह अन्त में व्यक्ति को संस्कारों से ऊपर उठने की प्रेरणा प्रदान करता है। वह बाल्यावस्था से स्वीकार किए गए प्रत्येक संस्कार को अस्वीकार कर देता है। नामकरण-संस्कार के द्वारा गुरुजनों ने उसे जो नाम प्रदान किया था, जिसकी घोषणा वह बड़े गौरव से किया करता था, संन्यास लेते ही उसे एक नया नाम दे दिया जाता है। ब्रह्मचर्यावस्था में जिस चूड़ाकर्म और यज्ञोपवीत को वह बड़े गौरव के साथ स्वीकर करता है, संन्यास लेते ही क्षण में उन्हें उतार फेंका जाता है। गार्हस्थ जीवन में जिस परिवार को उसके कर्तव्य-कर्म का केन्द्र बताया गया था, वह भी उसके लिए अर्थहीन हो जाता है। वानप्रस्थाश्रम में स्वीकार किए गए नियमों का आग्रह भी संन्यास में समाप्त हो जाता है, या यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि संन्यासी को संस्कारों से मुक्त हो जाना चाहिए। किन्तु यह संस्कार मुक्ति-वेश परिवर्तन के माध्यम से भले ही परिलक्षित होता हो, अन्तर्मन में इससे मुक्त होने वाले संन्यासी बिरले ही होंगे। साधारणतया तो इस आश्रम ने भी वर्तमान में एक विशिष्ट दल का रूप ले लिया है।

देवता और मुनि इस दृष्टि से पूरी तरह सुसंस्कृत थे और कोल-किरात असंस्कृत। कोल-किरातों में न तो संस्कारों का ज्ञान ही था और न ही उन्हें संस्कारों की सुविधा ही थी। इस संस्कारहीनता के कारण ही बेचारों के जीवन में अनेक दोष थे। किन्तु भगवत्साक्षात्कार में देवों और मुनियों की अपेक्षा इसी संस्कार-विहीनता के कारण वे सत्य के अधिक निकट पहुँच गए। कोल-किरातों के स्थान पर यदि किसी ब्राह्मण को प्रभु का सान्निध्य प्राप्त हो तो उसका ध्यान अपनी पवित्रता, त्याग और साधना की ओर चला ही जाएगा। वह ईश्वर की उपलब्धि को इन वस्तुओं से जोड़े बिना रह ही नहीं सकता। श्रीराम को साथ में लेकर जाते हुए विश्वामित्र के अन्तर्मन में जो भाव जाग्रत होते हैं, वे इसी संस्कार के परिचायक हैं। "प्रभु ब्राह्मणों को अपना देवता मानते हैं, इसीलिए उन्होंने मेरे लिए माता-पिता का परित्याग कर दिया है" :

प्रभु ब्रह्मण्य देव मैं जाना।
मोहि निति पिता तजेउ भगवाना।।

विचारक विश्वामित्र के लिए इस तर्क का खोखलापन समझना कठिन न था। किन्तु जीवन तो विचार की अपेक्षा संस्कारों से अधिक संचालित होता है और विश्वामित्र भी इसके अपवाद न थे। कोल-किरातों के पास ऐसी एक भी वस्तु तो नहीं थी जिसे वे प्रभु का उपलब्धि के कारण के रूप में देख पाते। जाति, पाँति,

कुल, धर्म आदि जिन वस्तुओं को ईश्वर की उपलब्धि से सम्बद्ध किया जाता है, उनसे वे सर्वथा शून्य थे। इसलिए वे इसमें केवल प्रभु की कृपा का अनुभव करते हैं। संस्कारावृत व्यक्ति की मनोवृत्ति का परिचय देने के लिए मेरे ध्यान में एक दृष्टान्त आता है। एक गृहपति ने किसी महात्मा को अपने घर आमंत्रित किया। शुद्ध वायु का आनन्द लेने के लिए महापुरुष ने कक्ष की खिड़की खोल दी। हवा का झोंका आते ही गृहपति ने वायु को धन्यवाद देने के स्थान पर खिड़की बनवाने के लिए स्वयं की सराहना की। महापुरुष ने मुस्कराकर कहा, "दीवाल के द्वारा वायु के लिए अवरोध भी तो तुम्हीं ने उपस्थित किया था। खिड़की के द्वारा तुमने स्वार्थ-सिद्धि का एक मार्ग निकाल लिया है। किन्तु वायु तुम्हारी बुद्धिमता पर रीझ कर नहीं बहती है। बहना उसका सहज स्वभाव है।" संस्कारावृत व्यक्ति भी अहंकार की दीवाल में साधना की खिड़की खोलकर ईश्वर-कृपा का प्रवेश होने पर अपनी साधना को श्रेय देता है—देवता और मुनि दोनों इसी श्रेणी में आते हैं—किन्तु कोल और किरात उस व्यक्ति की भाँति हैं जो उन्मुक्त वन में वायु के झोंकों का स्पर्श प्राप्त कर पवन के प्रति कृतज्ञ होता है।

कोल-किरातों के अन्तर्भाव को तुलसी ने बड़े भावना-भरे शब्दों में अभिव्यक्ति दी :

यह सुधि कोल किरातन्ह पाई।
हरषे जनु नव निधि घर आई।।
कंद मूल फल भरि-भरि दोना।
चले रंक जनु लूटन सोना।।

कोल-किरात स्वभाव से ही लुटेरे थे। यात्रियों की वस्तुओं को चुरा लेना या लूट लेना उनकी जीविका का एक साधन था :

यह हमारि अति बड़ि सेवकाई।
लेहि न बासन बसन चुराई।।

कोल-किरात यह पता लगाते ही रहते थे कि इस प्रकार का यात्री मिले जिसे लूटा अथवा ठगा जा सके। अचानक ही उन्हें एक महान् यात्री के आगमन का समाचार मिला। साथ ही यह सुधि भी मिली कि यह पथिक स्वभाव से बड़ा भोला है। निरन्तर लूटते रहने पर भी वह सावधान नहीं हो पाता। शायद लुटने में ही उसे आनन्द का अनुभव होता है। इसीलिए तो अयोध्या के सुरक्षित राजभवन को छोड़कर अरक्षित वन में आ गया है। 'चले रंक जनु लूटन सोना' में इसी भाव की अभिव्यक्ति होती है। किन्तु 'कन्द मूल फल भरि भरि दोना" की क्या

आवश्यकता थी ? ठग लूटने के पहले मिष्टान्न इत्यादि में नशे का पदार्थ मिलाकर यात्री को मूर्च्छित कर देते हैं। उसके बाद लूटने में सुविधा हो जाती है। मीठे फलों का दोना इसी प्रक्रिया का प्रतीक है। ठग बहुधा मीठी बातें बनाकर यात्री को भुलावे में डाल देते हैं। कोल-किरातों का वार्तालाप भी इसी प्रकार की मिठास से भरा हुआ है :

प्रभुहि जोहारि बहोरि बहोरी।
बचन बिनीत कहहिं कर जोरी॥
अब हम नाथ सनाथ सब, भए देखि प्रभु पाय।
भाग हमारे आगमन, राउर कोसल राय॥
धन्य भूमि बन पंथ पहारा।
जहँ जहँ नाथ पाउ तुम्ह धारा॥
धन्य बिहग मृग काननचारी।
सफल जनम भए तुम्हहि निहारी॥
हम सब धन्य सहित परिवारा।
दीख दरसु भरि नयन तुम्हारा॥
कीन्ह बास भल ठाउँ बिचारी।
इहाँ सकल रितु रहब सुखारी॥
हम सब भाँति करब सेवकाई।
करि केहरि अहि बाघ बराई॥
बन बेहड़ गिरि कंदर खोहा।
सब हमार प्रभु पग पग जोहा॥
तहँ तहँ तुम्हहि अहेर खेलाउब।
सर निरझर जल ठाउँ देखाउब॥
हम सेवक परिवार समेता।
नाथ न सकुचब आयसु देता॥

किन्तु प्रभु भी अनोखे निकले। उनका व्यवहार तो इस प्रकार का था कि जैसे कोई श्री-सम्पन्न व्यक्ति लुटेरे को गोद लेकर अपना पुत्र बना ले, या अपनी सारी सम्पत्ति ही उत्तराधिकार में उसे दे दे। अब लुटेरे को लूटने की आवश्यकता भी क्या है ? प्रभु ने भी कोल-किरातों से पिता-पुत्र का नाता जोड़ लिया :

बेद बचन मुनि मन अगम, ते प्रभु करुनाऐन।
बचन किरातन्ह के सुनत, जिमि पितु बालक बैन॥

कोल-किरातों की कोटि जन्मों की दरिद्रता समाप्त हो गई। वे प्रभु की कृपा-सम्पत्ति के उत्तराधिकारी बन गए। इसीलिए श्रीभरत के साथ आए हुए अयोध्या-वासियों के द्वारा दिया गया 'बहुमोल' भी उन्हें व्यर्थ प्रतीत होता है। इस परिवर्तन का कारण वे प्रभु-पद-पद्म की ही उपलब्धि बताते हैं :

पाप करत निसि बासर जाहीं।
नहिं पट कटि नहिं पेट अघाहीं।।
सपनेहु धरम बुद्धि कस काऊ।
यह रघुनन्दन दरस प्रभाऊ।।
जब ते प्रभु पद पदुम निहारे।
मिटे दुसह दुख दोष हमारे।।

देवताओं और मुनियों को प्रभु ने उठकर सम्मान दिया था; कोल-किरातों का उठकर उन्होंने सत्कार भले ही न किया हो, परन्तु जो कुछ उन्होंने प्रभु से पाया, उसे पा सकना देवताओं और मुनियों के लिए कभी सम्भव न था। देवता और मुनि उनके लिए आगन्तुक अतिथि थे, किन्तु कोल-किरात उनके अपने पुत्र थे। पुत्र आदर और पूजा का पात्र नहीं होता, वह तो प्रिय होता है। यह तो चुनाव करने वाले की आकांक्षा पर निर्भर है कि प्रभु की पूज्यता और प्रियता में से वह किसकी आवश्यकता का अनुभव करता है।

इसी अवसर पर गोस्वामीजी प्रभु के स्वभाव का रहस्य प्रकट कर देते हैं :

रामहि केवल प्रेम पिआरा।
जानि लेहु जो जाननिहारा।।

राम को प्रेम प्रिय है, यह कहना उपयुक्त नहीं है। इसके साथ 'केवल' शब्द जोड़ना होगा। प्रिय मात्र का प्रयोग करने से यह सिद्ध होता कि प्रेम भी प्रिय है। किन्तु 'केवल' शब्द का तात्पर्य है कि 'प्रेम ही प्रिय' है। प्रेम को छोड़कर उन्हें कोई वस्तु आकृष्ट नहीं कर पाती। जिन लोगों ने प्रभु के सामीप्य को प्राप्त किया उनमें सभी बातें एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। इसलिए प्रभु की उपलब्धि में वे वस्तुएँ कारण सिद्ध नहीं हो सकती हैं। इस तरह के परस्पर-विरोधी प्रतीत होने वाले पात्रों में समता का एक ही सूत्र विद्यमान होता है और वह है राम-प्रेम। इस सन्दर्भ में जनक और केवट के चरित्र को तुलनात्मक रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इन दोनों पात्रों को राम-पद-पद्मों को पखारने का सुअवसर प्राप्त होता है। वर्ण, वैभव और वाणी की दृष्टि से दोनों एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। यदि जनक पवित्र द्विज वर्ण के हैं, तो केवट निम्न शूद्र वर्ण का है।

यदि जनक का वैभव मणि-मण्डप और स्वर्ण-पात्रों में परिलक्षित होता है, तो केवट की दरिद्रता का प्रतीक रेत और कठौता है। श्रीराम का स्वागत करने के लिए जनक ने मणि-मण्डप की रचना की थी। अर्घ्य और पाँवड़े के द्वारा उनका स्वागत किया गया था :

एहि बिधि राम मण्डपहिं आए।
अरघ देइ आसन बैठाए॥
× ×
कनक कलस कोपर अति रूरे।
सुचि सुगन्ध मंगल जल पूरे॥
निज कर मुदित राय अरु रानी।
धरे राम के आगे आनी॥

दूसरी ओर :

केवट राम रजायसु पावा।
पानि कठवता भरि लेइ आवा॥

वचन-रचना में भी यही भिन्नता विद्यमान है। यदि जनक प्रभु को मन, बुद्धि और वाणी से परे सिद्ध करते हैं तो केवट उनका मर्म तक जानने का दावा करता है :

जनक : **मन समेत जेहि जान न बानी।**
तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥
महिमा निगम नेति कहि कहई।
जो तिहु काल एकरस अहई॥
केवट : **माँगी नाव न केवट आना।**
कहइ तुम्हार मरमु मैं जाना॥

वर्ण, वैभव और वाणी की भिन्नता में अनुराग का साम्य विद्यमान है :

जनक : **बर बिलोकि दम्पति अनुरागे।**
पाँय पुनीत पखारन लागे॥
केवट : **अति आनन्द उमगि** *अनुरागा*।
पाँय पुनीत पखारन लागा॥

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्ण, वैभव और वाणी का विलास उन्हें रिझा नहीं पाता। उन्हें तो एकमात्र प्रेम ही प्रिय है। किन्तु गोस्वामीजी यह

जानते थे कि इसे कान के द्वारा सुनना सरल है, पर इसे समझ पाना अत्यन्त कठिन है। व्यक्ति जीने की जिस परम्परा का अभ्यस्त है, वह इससे सर्वथा भिन्न है। संसार में भी व्यक्ति को प्रेम प्रिय है; परन्तु 'केवल प्रेम' से वह सन्तुष्ट नहीं हो पाता—उसे तृप्त करने के लिए प्रेम के साथ मोदक भी चाहिए। क्योंकि वह यह मानता है कि मन के मोदक से भूख नहीं मिटती। इसलिए 'केवल प्रेम' की बात पर विश्वास करना कठिन है। संसार में जानने के बाद भी क्रिया का आश्रय लेना पड़ता है, क्योंकि भोजन बनाने की विधि जानने-मात्र से क्षुधा शांत नहीं होती है। किन्तु यहाँ तो केवल 'जानना' मात्र है, कि प्रभु को 'केवल प्रेम' प्रिय है, और प्रेम क्रिया न होकर भावना-मात्र है। प्रभु के इस स्वभाव को जान लेना ही यथेष्ट है। गीता में श्रीकृष्ण भी यही घोषणा करते हैं—"मैं समस्त प्राणियों का सुहृद हूँ, इतना जान लेने से ही व्यक्ति परम शान्ति पा लेता है" :

सुहृदः सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।

गोस्वामीजी भी दावा करते हैं :

रामहि केवल प्रेम पिआरा।
जानि लेहु जो जाननिहारा॥

।। श्रीरामः शरणं मम ।।

तापस अन्ध साप सुधि आई।
कौसल्यहि सब कथा सुनाई ।।
भयउ बिकल बरनत इतिहासा।
राम रहित धिग जीवन आसा ।।
सो तन राखि करब मैं काहा।
जेहि न प्रेम पनु मोर निबाहा ।।

अर्थ—उसी समय महाराज श्रीदशरथ को अन्धे तपस्वी के द्वारा दिए शाप का स्मरण आया, तथा उन्होंने कौसल्याजी को वह सब कथा सुनाई। उस इतिहास का वर्णन करते-करते वे व्याकुल हो गए। सोचने लगे कि राम से रहित इस जीवन की आशा को धिक्कार है। उस शरीर को रखकर मैं क्या करूँगा जिसने मेरे प्रेम-प्रण का निर्वाह नहीं किया। श्रीरामचन्द्र के वनगमन के पश्चात् महाराज श्रीदशरथ ने सुमन्त को रथ ले जाकर उन्हें लौटा ले आने का आदेश दिया था। वस्तुतः महाराजश्री किंकर्तव्य-विमूढ़ता की स्थिति में पहुँच चुके थे। जीवन में अनेक ऐसे अवसर आते हैं, जब बड़े-से-बड़ा व्यक्ति भी कर्त्तव्य-कर्म के विषय में सही निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाता। गीता में भी इसी तथ्य की पुष्टि की गई है :

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।।

बड़े-से-बड़ा विद्वान् भी कर्म और अकर्म के विषय में मोहित हो जाता है। महाराजश्री के चरित्र में इसीस्थिति का दर्शन होता है। कैकेयी ने दशरथ के समक्ष ही राम को वन जाने का आदेश दिया था। दशरथ पूरे समय मौन रहे। नीतिशास्त्र में मौन को स्वीकृति का लक्षण माना जाता है। महाराज के मौन को भी

इसी अर्थ में ग्रहण किया गया, यद्यपि उनका मौन स्वीकृतिसूचक नहीं था। मौन को स्वीकृति का सूचक तभी माना जाना चाहिए जब उसके पीछे संकोच की भावना विद्यमान हो। कभी-कभी व्यक्ति मन से स्वीकृति देकर भी शिष्टाचार और सौजन्य के नाते चुप रह जाता है। यही मौन स्वीकृतिसूचक है। किन्तु दशरथ के मौन में ग्लानि और किंकर्तव्यविमूढ़ता का मिला-जुला मिश्रण था। वह स्थिति दलदल में फँसे हुए व्यक्ति की भाँति थी। आगे बढ़ने के लिए व्यक्ति को पैरों का आश्रय लेना पड़ता है। दलदल की दूरी को पार करने के लिए व्यक्ति जब चेष्टा करता है तब उसके पैर और भी नीचे की ओर धँस जाते हैं। उस समय यात्री की दशा अत्यन्त दयनीय हो जाती है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति निरुपाय-सा खड़ा रह जाता है। किंतु उसका यह खड़ा होना बाध्यता-मात्र है। महाराजश्री को अपनी वाणी पर बड़ा विश्वास था। इस विश्वास की उन्होंने बड़े गर्व से घोषणा की थी :

रघुकुल रीति सदा चलि आई।
प्रान जाहु बरु बचन न जाई।।

× ×

नहिं असत्य सम पातक पुंजा।
गिर सम होहिं कि कोटिक गुंजा।।

× ×

सत्यमूल सब सुकृत सुहाए।
बेद पुरान बिपिन मनु गाए।।

किन्तु 'शब्द' ही उनके लिए दलदल बन गया। यह मौन शब्द के प्रति उनके अविश्वास का ही परिचायक था। दशरथ की इसी मनःस्थिति का लाभ लेते हुए कैकेयी ने तत्काल श्रीराम से वन जाने का अनुरोध किया। प्रभु वन जाने के लिए व्यग्र थे, इसलिए वे तत्काल वहाँ से प्रस्थान कर देते हैं। किन्तु महाराजश्री को प्रतीत होता है कि उनके नाम पर जो कुछ किया गया, वह सम्भवतः औचित्यपूर्ण नहीं है। अतः वे उस भूल का परिमार्जन करने के लिए नया आदेश देते हैं :

पुनि धरि धीर कहइ नर नाहू।
लै रथ संग सखा तुम्ह जाहू।।
सुनि सुकुमार कुमार दोउ, जनकसुता सुकुमारि।
रथ चढ़ाइ देखराइ बन, फिरेहु गए दिन चारि।।

किन्तु इस आज्ञा में भी उनकी भ्रान्ति का बहुत बड़ा भाग है। उन्हें सुमन्त को यह आदेश देना चाहिए था कि वे राघवेन्द्र को लौटा ले आवें। किन्तु जब वे

चार दिन वन में घुमाकर लाने के लिए कहते हैं, तब उनकी वही धर्मसम्मूढ़ता प्रकट होती है। वे मानो किसी-न-किसी तरह दोनों ओर का निर्वाह कर लेना चाहते हैं। फिर उन्हें यह भी निश्चय नहीं है कि उनके इस नये आदेश को राघव स्वीकार कर लेंगे या नहीं। यह अनिश्चय उनके शब्दों से स्पष्ट हो जाता है :

जौं नहि फिरहिं धीर दोउ भाई।
सत्यसंध दृढ़ब्रत रघुराई।।

लक्ष्मणजी ने दशरथ की आलोचना अयोध्या में नहीं की, यद्यपि उस समय दशरथ के ही शब्दों का आश्रय लेकर प्रभु को वनवास दिया जा रहा था। किन्तु यह कैसा विलक्षण विरोधाभास है कि वे पिता पर उस समय क्रुद्ध हुए जब सुमन्तजी ने राघवेन्द्र को वन से लौटाने का आदेश सुनाया? क्या लक्ष्मण को राम का वन-गमन ही अभीष्ट था? क्या वे यह नहीं चाहते थे कि कोसलेन्द्र लौटकर अयोध्या के सिंहासन पर आसीन हों? वस्तुतः लक्ष्मण को अभीष्ट यही था, किन्तु महाराज-श्री की दुर्बलता उन्हें असह्य प्रतीत हुई। वे दशरथ की किंकर्तव्यविमूढ़ता पर क्षुब्ध थे। अयोध्या में दशरथ के द्वारा श्रीराम का त्याग किया जाने पर उन्होंने समझा कि धर्म की रक्षा के लिए यह कार्य किया गया था। यदि वे इस आदेश पर दृढ़ रहते तो लक्ष्मण की आलोचना के पात्र न बनते; किन्तु सुमन्त के द्वारा पिता का सन्देश सुनते ही उन्हें दशरथ की कर्त्तव्य-सम्मूढ़ता और अनिश्चय पर क्रोध आ गया। उनका यह सुनिश्चित मत था कि व्यक्ति में अपने निर्णय पर दृढ़ रहने का साहस होना चाहिए। यदि दशरथ धार्मिक हैं तो उन्हें कष्ट सहकर भी प्रभु को वन जाने देना चाहिए; और यदि वे प्रभु से इतना प्रेम करते हैं कि बड़े-से-बड़ा अपयश भी ले सकें, तो उन्हें अयोध्या में ही असंदिग्ध शब्दों में राघव को रोक लेना चाहिए था। कायरता किसी भी प्रकार की क्यों न हो, महाव्रती लक्ष्मण के लिए वह असह्य थी।

प्रभु ने पिता के प्रति अपार प्रेम व आदर प्रदर्शित करते हुए भी सुमंतजी के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। महाराजश्री की धारणा भी यही थी कि "सम्भवतः राघवेन्द्र लौटेंगे नहीं" :

जौं नहि फिरहिं धीर दोउ भाई।
सत्यसंध दृढ़ब्रत रघुराई।।

किन्तु मन से वे इस आशा को पूरी तरह समाप्त भी नहीं करना चाहते थे। इसी कल्पित आशा में वे तब तक जीवित रहे जब तक कि सुमन्त लौट नहीं आए। परन्तु सुमन्त के लौटते ही उनकी अन्तिम आशा भी समाप्त हो गई। कौसल्या ने

उन्हें धैर्य धारण कराने की चेष्टा की, किन्तु महाराज को अब अपने जीवन का कोई अर्थ नहीं प्रतीत हो रहा था। उन्हीं क्षणों में उन्हें श्रवणकुमार की कथा का स्मरण हो आता।

श्रवणकुमार पितृभक्ति के आदर्श माने जाते हैं। अपने अन्धे माता-पिता के प्रति उनके अन्तःकरण में अगाध भक्ति थी। पत्नी के द्वारा माता-पिता की उपेक्षा किये जाने पर श्रवणकुमार ने पत्नी का भी परित्याग कर दिया। माता-पिता के अन्तःकरण में तीर्थ-यात्रा की अभिलाषा देखकर उन्होंने उसे पूर्ण करने का व्रत लिया। माता-पिता की सुखपूर्वक यात्रा के लिए उन्होंने काँवर का प्रबन्ध किया; और उसके दोनों ओर माता-पिता को बैठाकर वे स्वयं कन्धे पर काँवर को लेकर यात्रा करने लगे। यात्रापथ में सघन वन के बीच माता-पिता को प्यास लगने पर उन्होंने उन दोनों को बैठा दिया, और घट लेकर जल लेने के लिए गए। उसी समय महाराज दशरथ भी मृगया के लिए वन में पहुँचे हुए थे। श्रवणकुमार ने ज्योंही घट को जल में डुबोया, दशरथ ने उसे जल पीनेवाले हाथी की ध्वनि समझ लिया। शब्द को लक्ष्य बनाकर बाण का संधान कर छोड़ दिया और उससे श्रवण-कुमार की मृत्यु हो गई। मृत्यु के पहले उनकेकरुण चीत्कार ने दशरथ को व्याकुल बना दिया। वे व्यथित होकर श्रवणकुमार के पास पहुँचे। परिचय पाकर उन्हें अपार कष्ट हुआ। किन्तु उन अन्तिम क्षणों में भी श्रवणकुमार के जीवन में एक-मात्र यही अभिलाषा शेष थी कि उनके प्यासे माता-पिता को जल पिलाया जाए और उनके संरक्षण का प्रबंध किया जाए। दशरथ ने दोनों वचन दिए और जल लेकर वे श्रवणकुमार के माता-पिता के सन्निकट पहुँचे। वेयहचाहते थे कि श्रवण-कुमार की मृत्यु का समाचार उन दोनों को जल पी लेने के पश्चात् ही सुनावें। किन्तु श्रवणकुमार के माता-पिता को सन्देह हो गया। बाध्य होकर सत्यनिष्ठ दशरथ को सारा समाचार सुनाना पड़ा। पुत्र की ममता से व्याकुल विलाप करते हुए उन दोनों ने शरीर का परित्याग कर दिया। किन्तु प्राणत्याग से पहले उन्होंने दशरथ को यह शाप दिया कि उनकी मृत्यु भी पुत्र के वियोग में ही होगी।

अन्तिम क्षणों में उन्हें इस घटना की स्मृति हो आई। उन्हें लगा कि पूर्वकृत पाप के परिणाम को भोगने का समय अब आ चुका है। उन्होंने महारानी कौसल्या को सारा विगत इतिहास सुनाया; इस घटना को वे लज्जा के मारे अब तक छिपाए हुए थे; किन्तु उन्हें लगा कि अब वह समय आ गया है जब निष्कपट भाव से मैं अपने अपराधों को स्वीकार कर लूँ।

यह कथा कर्म-सिद्धान्त की अनिवार्यता का प्रतिपादन करनेवाली तो है ही, पर इसके साथ ही इसमें कर्त्तव्य कर्म की जटिलता का दिग्दर्शन भी होता है।

श्रवणकुमार की मृत्यु के पश्चात् वे सच्चे पश्चात्ताप से प्रेरित होकर ही उसके माता-पिता के पास गए थे। उनकी सत्य-निष्ठा ने उन्हें बाध्य किया कि वे उसके माता-पिता को घटना का सही विवरण दें। यदि उन्होंने घटना को परिवर्तित रूप में सुनाया होता तो संभव है वे श्रवणकुमार के उद्देश्य को पूरा कर सकते। क्या इस प्रकार की सत्यनिष्ठा धर्म-संगत है? श्रवणकुमार के माता-पिता ने शाप देकर औचित्य का कहाँ तक पालन किया? दशरथ से अपराध अनजाने में हुआ था। उन्होंने क्षमा-याचना की थी। इसके पश्चात् भी इतना कठोर शाप देना क्या अन्याय नहीं था? इतना ही नहीं, श्रवणकुमार की मृत्यु जिन परिस्थितियों में हुई क्या वे धर्म के प्रति संशय उत्पन्न नहीं करती हैं? शास्त्रों ने 'मातृदेवो भव', 'पितृदेवो भव' का आदेश दिया है। श्रवणकुमार ने उसे साकार करने का प्रयास किया; किंतु इसका उसे क्या परिणाम मिला? इस तरह के कई प्रश्न प्रस्तुत प्रसंग में सामने आते हैं। श्रीकृष्ण ने कर्म की जिस गहन गति की ओर संकेत किया है, उसका यह प्रत्यक्ष प्रमाण है:

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥

उपर्युक्त इतिहास में सबसे पहला ध्यान श्रवणकुमार के नाम की ओर जाता है। विशेष रूप से माता-पिता की दृष्टिहीनता के सन्दर्भ में इसका महत्त्व और बढ़ जाता है। शास्त्रों में श्रवण का बड़ा महत्त्व है। श्रवण साधना का प्रथम सोपान है। श्रवण का अर्थ 'सुनना' है। धर्म-ज्ञान के लिए व्यक्ति को शास्त्र का श्रवण करना पड़ता है। भक्तिशास्त्र में भी श्रवण से ही नवधा भक्ति का श्रीगणेश होता है। वहाँ श्रवण का तात्पर्य है भगवद्गुण-श्रवण। ज्ञान में महावाक्य-श्रवण का सर्वाधिक महत्त्व है, किन्तु वहाँ श्रवण बहुत भिन्न अर्थ में है।

यह श्रवणकुमार धर्म से सम्बद्ध हैं। इन्होंने कहीं 'मातृदेवो भव', 'पितृदेवो भव' सुन लिया और उसी में प्रवृत्त हो गए। यह इनका दुर्भाग्य था कि न तो स्वयं अपने लक्ष्य को पूर्ण कर पाए और न ही माता-पिता को लक्ष्य तक पहुँचाना सम्भव हो पाया। श्रवण की इस अपूर्णता का रहस्य क्या है? सबसे बड़ा व्यंग यह है कि इन सज्जन के माता और पिता दोनों ही अन्धे थे। वस्तुतः श्रवण के माता-पिता श्रद्धा और विश्वास हैं। सुनने की अभिलाषा का जन्म श्रद्धा-विश्वास की ही प्रेरणा से होता है। किन्तु यह श्रद्धा और विश्वास अपूर्ण है। मानस के प्रारम्भ में जिन श्रद्धा और विश्वास की वन्दना की गई है, वे पूर्ण हैं। वहाँ अन्धता का प्रश्न नहीं है। वहाँ तो विश्वास त्रिनयन शिव हैं। भगवती पार्वती भी द्विनयन से कम तो हैं ही नहीं, उनके ज्ञान और वैराग्य दो नेत्र हैं। भगवान् शिव के पास ज्ञान-वैराग्य

की दृष्टि के साथ-साथ योग-दृष्टि भी है। किन्तु श्रवणकुमार के माता-पिता में ज्ञान और वैराग्य दोनों का अभाव है। दृष्टिहीन को तो श्रवण का आश्रय लेना ही पड़ता है। लगता है, इन दोनों ने कहीं तीर्थ-यात्रा की महिमा सुन ली और विचारहीन की भाँति यात्रा के लिए व्यग्र हो उठे। धर्म एक व्यापक शब्द है। जब व्यक्ति को धर्म-पालन का आदेश दिया जाता है तब उसके समक्ष धर्म के अनेक रूप होते हैं। किसी भी व्यक्ति के लिए धर्म के सारे स्वरूपों को स्वीकार कर पाना सम्भव नहीं होता। इस समस्या के समाधान के लिए ही 'स्वधर्म' शब्द का प्रयोग किया जाता है। व्यक्ति को अपने धर्म का पालन करना चाहिए। 'स्वधर्म' के निर्णायक अनेक सूत्र हैं। वर्ण, आश्रम और संस्कार के साथ-साथ सामर्थ्य भी उसमें एक निर्णायक तत्त्व है। कोई धर्म कितना भी उत्कृष्ट क्यों न हो, यदि व्यक्ति उसके पालन में असमर्थ हो, तो उसे स्वीकार करके वह ऐसी स्थिति में पहुँच जाएगा जब धर्म उसके लिए घातक सिद्ध हो सकता है।

प्रभु ने श्रीलक्ष्मण को धर्म का जो उपदेश दिया था, उसे श्रीलक्ष्मण ने इसी आधार पर अस्वीकार कर दिया था। हंस का धर्म दूध और पानी को अलग करना है। यदि उसे भार उठाने का कार्य दे दिया जाए और वह स्वीकार कर ले तो ऐसी परिस्थिति में भार उठाना उसके लिए सम्भव तो होगा ही नहीं, हाँ, इस प्रयास में उसके प्राण अवश्य चले जाएँगे। श्रीलक्ष्मण ने भी अपनी असमर्थता के लिए यही दृष्टान्त दिया :

मैं सिसु प्रभु सनेह प्रतिपाला।
मंदर मेरु के लेहिं मराला।।

किन्तु श्रवणकुमार के माता-पिता ने धर्म के इस तत्त्व को भुलाकर तीर्थयात्रा को ही धर्म मान लिया। वे किसी भी ऐसी साधना का आश्रय लेकर धर्म का पालन कर सकते थे जिसमें दृष्टि के प्रयोग की आवश्यकता न हो। परन्तु उन्होंने ठीक ऐसे धर्म का आश्रय लिया जिसमें दृष्टि की सबसे अधिक आवश्यकता थी; और इस धर्म का पालन करने के लिए उन्होंने दूसरे का भार बन जाने में भी संकोच का अनुभव नहीं किया। धर्म का एक महान् तत्त्व यह भी है कि उसका पालन दूसरों को कम-से-कम कष्ट देकर करना चाहिए। इसीलिए व्रत और उपवास आदि में ऐसी वस्तुएँ ग्रहण करने का विधान है जिनके उत्पादन में दूसरों का उपयोग कम-से-कम हो। किन्तु अपनी तीर्थ-यात्रा को उन्होंने अपने पुत्र के कन्धे पर लदकर पूरा करने का निश्चय किया। इससे उनमें विवेक-दृष्टि का अभाव परिलक्षित होता है। दशरथ ने अपराध अनजाने में ही किया था। उन्होंने सत्य-निष्ठा के कारण इन दोनों को वास्तविक घटना भी बता दी थी। वे सेवा के लिए भी प्रस्तुत

थे। यदि उनमें वैराग्य होता तो पुत्र की मृत्यु में अपने कर्म अथवा काल को हेतु मानकर शान्त हो जाते। किन्तु वे तो आसक्ति और मोह में इतने ग्रस्त थे कि बदला लेने की वृत्ति से प्रेरित होकर शाप दे देते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें ज्ञान और वैराग्य दोनों ही दृष्टियों का अभाव था। ज्ञान और वैराग्य-विहीन श्रद्धा-विश्वास केवल श्रवण का आश्रय लेकर अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकते हैं, यह इस कथा का निष्कर्ष है।

स्वयं श्रवणकुमार भी अपूर्ण रह जाता है, क्योंकि शास्त्र में श्रवण के बाद मनन और निदिध्यासन का आदेश है। मनन का तात्पर्य है, सुनी हुई बात पर विचार करना। किसी वाक्य को सुनकर केवल सुनते रह जाना, अथवा सुनते ही उत्साह के अतिरेक का प्रदर्शन करते हुए उसे क्रिया में परिणत करने की चेष्टा करना, दोनों समान रूप से घातक हैं। इसीलिए श्रवण और निदिध्यासन के मध्य में मनन की प्रक्रिया का निर्देश किया गया है। सुनने के पश्चात् व्यक्ति को यह विचार करना चाहिए कि इस 'श्रुत' धर्म में मेरे लिए कितना ग्राह्य है। इसके लिए गोस्वामीजी ने मानस-सर के रूपक के प्रारम्भ में बड़ा सार्थक दृष्टान्त दिया है। आयुर्वेदशास्त्र में वर्षा के जल का बड़ा महत्त्व है; किन्तु यह जल तत्काल पीने योग्य तभी हो सकता है जब इसका संस्पर्श भूमि पर न हो। नदियों का जल वर्षा में ग्राह्य नहीं माना जाता। यद्यपि वर्षा ऋतु में नदी में अगाध जल हो जाता है, किन्तु वह ग्रहण करने योग्य तभी होता है जब वह शरद् ऋतु में पुराना होकर स्वच्छ हो जाय। संत मेघ हैं और वे भगवत्कथा-रूपी जल की वर्षा करते हैं; और यह जल श्रवण के माध्यम से श्रोता के अन्तःकरण में प्रविष्ट होता है। श्रवण-मार्ग का स्पर्श होते ही उसमें कुछ मलिनता आ जाती है, इसलिए श्रवण की वर्षा-ऋतु समाप्त होने के बाद मनन के शरद् में ही यह जल सेवन करने योग्य होता है :

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू।
बेद पुरान उदधि घन साधू॥
बरषहिं राम सुजस बर बारी।
मधुर मनोहर मंगलकारी॥
× ×
मेधा महिगत सो जल पावन।
सकिलि श्रवन मग चलेउ सुहावन॥
भरेउ सुमानस सुथल थिराना।
सुखद सीत रुचि चारु चिराना॥

ऐसा प्रतीत होता है कि श्रवणकुमार ने मनन के बिना ही निदिध्यासन की स्थिति में पहुँचना चाहा। 'मातृदेवो भव', 'पितृदेवोभव' कहकर शास्त्रों ने माता-पिता की भक्ति का जो आदेश दिया है उसके तात्पर्य को हृदयंगम किए बिना ही श्रवणकुमार माता-पिता को काँवर में लेकर तीर्थ-यात्रा के लिए निकल पड़ा। माता और पिता भगवद्-रूप हैं, यह केवल सीमित सत्य है। समग्र ब्रह्माण्ड ही भगवान् का विराट्स्वरूप है। ब्रह्म-तत्त्व के साक्षात्कार के लिए समष्टि सत्य को व्यष्टि के माध्यम से जानने की यह एक पद्धति-मात्र है। स्वार्थ-परायण व्यक्ति इसी को धर्म का वास्तविक स्वरूप सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। "माता, पिता, गुरु, पति साक्षात् भगवत्-स्वरूप हैं", यह कहकर वह अपने सामाजिक स्वार्थ की सिद्धि करना चाहता है। इसीलिए मानस में 'मातृदेवो भव' के स्थान पर 'मातु पिता स्वारथ-रत ओऊ' कहकर इसका द्वितीय पक्ष प्रस्तुत किया गया है। गुरु को भगवान् की अपेक्षा उत्कृष्ट बताने के साथ-साथ उन्हें श्रीराम की तुलना में न्यून सिद्ध किया गया है।

गुरु	भगवान
तुम्हते अधिक गुरुहि जिय जानी।	**उमा राम सम हित जग माहीं।**
सकल भायँ सेवहि सनमानी॥	**गुरु पितु मातु बन्धु कोउ नाहीं॥**

जिस प्रसंग में गुरु की श्रेष्ठता की सिद्धि की गयी है, उसी में एक अनोखा विरोधाभास है। गुरु वस्तुतः भगवान् की अपेक्षा श्रेष्ठ नहीं है। इसीलिए 'गुरुहि जिय जानी' शब्द का प्रयोग किया गया। यह श्रेष्ठता लक्ष्य-सिद्धि के लिए आरोपित मात्र है। विवाह के मण्डप में आचार्य में आरोपित की गई श्रेष्ठता तात्कालिक होती है। वर के प्रति उसका सम्बन्ध पाणिग्रहण के रूप में ही प्रस्तुत किया जाता है। किन्तु पुरोहित की श्रेष्ठता कृतज्ञता-प्रकाशन के लिए है। यदि आचार्य वर-कन्या को मिलाने के स्थान पर उन्हें विभक्त करने की चेष्टा करे, तब कन्या की दृष्टि में आचार्य का कोई मूल्य नहीं रह जाएगा। गुरु भी जीव और ब्रह्म के मिलन-मण्डप में पुरोहित ही है। उसके प्रति शिष्य की कृतज्ञता इसी भावना से प्रेरित है। इसीलिए महर्षि वाल्मीकि ने 'तुम्हते अधिक गुरुहि जिय जानी' के तत्काल बाद यह भी जोड़ दिया कि गुरु को श्रेष्ठ मानने के साथ-साथ समस्त साधनाओं के बाद भगवान् के चरणों में रति की याचना करे :

सब करि माँगहि एक फल, राम चरन रति होउ।
तिन्ह के मन मन्दिर बसहु, सिय रघुनन्दन दोउ॥

यदि गुरु वस्तुतः बड़ा होता तो उसको पाने के बाद उसकी अपेक्षा लघु वस्तु

को माँगने की क्या आवश्यकता रह जाती ? कन्या विवाह के पश्चात् आचार्य के चरणों में नत होकर अपने सौभाग्य का आशीर्वाद माँगती है—क्योंकि पति ही उसका सर्वस्व है। यही धर्म का वास्तविक तत्त्व है। इसीलिए श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ में ग्रन्थ की विशेषता बताते हुए उसे कपट-रहित धर्म का उपदेशक बताया गया है :

> **धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां**
> **वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्।**
> **श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किं वा परैरीश्वरः**
> **सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्॥**

कपट-रहित धर्म का तात्पर्य है कि जिसमें प्रवञ्चना का प्रयास न हो। व्यक्ति बहुधा धर्म के नाम पर स्वयं को एवं दूसरों को भ्रान्ति में डाल देता है। स्वयं को भ्रान्ति में डालने वाले व्यक्ति की मुख्य समस्या यही होती है कि उसे अपनी त्रुटियों का ज्ञान ही नहीं हो पाता। अपितु भ्रान्ति-धर्म का पालन करता हुआ वह स्वयं को धार्मिक मान बैठता है। श्रवणकुमार पूरी तरह माता-पिता में ही केन्द्रित हो गए। अपूर्ण के प्रति समर्पण दुःखदायी सिद्ध होता है। अपूर्ण व्यक्ति की सेवा करना कर्त्तव्य है, किन्तु उसकी इच्छा में अपनी इच्छा को मिला देना अविवेकपूर्ण है। श्रवणकुमार न केवल अन्धे माता-पिता की सेवा करते थे, अपितु वे उनके प्रति समर्पित भी हो गए। यदि उन्होंने श्रवण के साथ-साथ मनन का आश्रय लिया होता तो वे पिता को भी भ्रान्त धर्म से मुक्त कर सकते थे। इतिहास में अनेक पुत्रों ने माता-पिता को सत्य का साक्षात्कार कराया है। किन्तु श्रवणकुमार आज्ञा-पालन धर्म में आसक्त होकर अपने विवेक और वैराग्य का भी परित्याग कर बैठे। शब्दवेधी बाण से उनकी मृत्यु हुई थी। जब भी कोई व्यक्ति शब्द को ही धर्म मानने की भूल करेगा, तब शब्द ही उसके विनाश का कारण बनेगा। श्रवण के पश्चात् शब्द के वास्तविक अर्थ का मनन करना चाहिए। यही इस कथा का निष्कर्ष है। श्रवण के द्वारा लक्ष्य तक पहुँचना भी तभी सम्भव है।

महाराज श्रीदशरथ मृगया के लिए वन में जाते हैं। किन्तु श्रवणकुमार की ही भाँति वे भी भूल कर बैठे। उन्होंने भी अपनी दृष्टि-शक्ति का सदुपयोग नहीं किया। उन्हें अपने कानों पर इतना अधिक विश्वास था कि ध्वनि के आधार पर ही उन्होंने लक्ष्य को पहिचान लेने का दावा किया। दृष्टि और श्रवण एक-दूसरे के पूरक हैं। दोनों ही अपूर्ण हैं, इसीलिए समग्र रूप से किसी एक पर विश्वास नहीं किया जा सकता। यदि दृष्टि के विषय में कभी भ्रान्ति हो तो बुद्धिमान् व्यक्ति श्रवण का आश्रय लेता है। सूर्य आकाश में थाली-जैसा प्रतीत होता

है। नेत्रों को प्रमाण मान लेने पर व्यक्ति सचमुच ही उसे छोटा मान बैठेगा। इस भ्रम के निवारण के लिए वह वैज्ञानिकों से सूर्य की विशालता के विषय में ज्ञान प्राप्त करता है। और कभी शब्द अथवा ध्वनि से भ्रान्ति उत्पन्न होने पर व्यक्ति नेत्र के माध्यम से उसका निवारण करता है। क्योंकि व्यावहारिक जगत् में ध्वनि और शब्द की अभिव्यक्ति का केन्द्र 'रूप' है। दशरथ ने श्रवण के साथ यदि दृष्टि का उपयोग किया होता, तो श्रवणकुमार की हत्या न होती। किन्तु श्रवण ही श्रवण की हत्या का कारण बना। किसी के द्वारा कथित शब्द को न सुन पाना बड़ी समस्या नहीं है; किन्तु कुछ का कुछ सुन लेने पर अनर्थ की सम्भावना बढ़ जाती है। महाराज श्रीदशरथ की धारणा यह थी कि शब्द ही लक्ष्य-वेध करने के लिए यथेष्ट है। उन्होंने शब्दवेधी बाण का अभ्यास किया था। उन्हें लगा होगा कि इस कला के प्रदर्शन का भी तो अवसर प्राप्त होना चाहिए। अहंकार-प्रदर्शन का उतावलापन भी इस दुर्घटना का कारण बना। शब्द के प्रति इस महत्त्व-बुद्धि ने उनका पीछा अन्त तक न छोड़ा। अन्त में उनके प्राण शब्दवेधी बाण से ही गए। मन्थरा द्वारा प्रेरित कैकेयी ने शब्द का आश्रय लेकर महाराज के प्राण ले लिए। इस सन्दर्भ में तुलसीदास के द्वारा प्रस्तुत किया गया यह रूपक साहित्यिक और सार्थक दोनों है :

निधरक बैठि कहइ कटु बानी।
सुनत कठिनता अति अकुलानी।।
जीभ कमान बचन सर नाना।
मनहुँ महिप मृदु लच्छ समाना।।

शब्द को ही धर्म का सर्वस्व समझ लेने के कारण महाराजश्री किंकर्तव्य-विमूढ़ता की स्थिति में पहुँच गए। इसीलिए उनको यह भ्रान्ति थी कि शब्द को ही सत्य समझकर शायद श्रीराम लौट आवेंगे, किन्तु प्रभु ने ऐसा नहीं किया। सुमन्त के लौटते ही महाराजश्री निराश हो गए। श्रवणकुमार की कथा ने उनकी स्मृति को मथ डाला। उन्हें अपनी त्रुटियों का ध्यान हो आया और इसके प्राय-श्चित्त-स्वरूप उन्होंने प्राण के परित्याग का निर्णय कर लिया। व्यक्ति शाप मिलने पर उससे मुक्त होने का उपाय जानना चाहता है, किन्तु दशरथ के लिए शाप ही वरदान बन गया। वे प्राणों का परित्याग करके प्रेम की सत्यता का प्रमाण-पत्र पा लेते हैं :

बंदउँ अवध भुआल, सत्य प्रेम जेहि राम पद।
बिछुरत दीनदयाल, प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ।।

अनेक प्रेमी प्रिय-वियोग में प्राण देना चाहते हैं, किन्तु दे नहीं पाते। क्योंकि यह प्राण-त्याग आत्म-हत्या के स्थान पर व्याकुलता के मार्ग से होना चाहिए। किन्तु जीवन प्रारब्ध से सम्बद्ध है, इसीलिए व्यक्ति चाह कर भी मर नहीं पाता। किन्तु दशरथ के लिए शाप उनकी अमरता का हेतु बन गया। धर्म के प्रमाद के लिए यदि उन्हें दण्डित होना पड़ा, तो राम-प्रेम के कारण वह दण्ड भी उनके लिए वरदान बन गया :

राम राम कहि राम कहि, राम राम कहि राम।
तनु परिहरि रघुबर-बिरह, राउ गयउ सुर-धाम॥



पुरजन मिलहिं न कहहिं कछु, गवँहिं जोहारहिं जाहिं।
भरत कुसल पूँछि न सकहिं, भय बिषाद मन माहिं॥

× ×

सजि आरती मुदित उठि धाई।
द्वारेहिं भेंटि भवन लेइ आई॥

× ×

सुतहि ससोच देखि मनु मारें।
पूँछति नैहर कुसल हमारें॥
सकल कुसल कहि भरत सुनाई।
पूँछी निज कुल कुसल भलाई॥

× ×

तात बात मैं सकल सँवारी।
भै मंथरा सहाय बिचारी॥
कछुक काज बिधि बीच बिगारेउ।
भूपति सुरपतिपुर पगु धारेउ॥

× ×

बिकल बिलोकि सुतहि समुझावति।
मनहुँ जरे पर लोनु लगावति॥

× ×

सुनि सुठि सहमेउ राजकुमारू।
पाकें छत जनु लाग अँगारू॥
धीरज धरि भरि लेहिं उसासा।
पापिनि सबहि भाँति कुल नासा॥

अर्थ—नगर के लोग श्रीभरत को मिलते थे, किन्तु वे उनसे कुछ बोलते नहीं थे, तथा प्रणाम करके चुपचाप निकल जाते थे। श्रीभरत किसी से कुशल-क्षेम पूछ नहीं पा रहे थे; उनके मन में भय एवं विषाद समाया हुआ था।

कैकेयी आरती सजाकर प्रसन्न मन से दौड़ीं। द्वार पर ही भेंट कर उन्हें भवन में ले आईं।

पुत्र को उदास देखकर कैकेयी ने पूछा, "बेटा ! मेरे मायके में सब कुशल तो है न ?" भरत ने ननिहाल का कुशल-समाचार सुनाकर अपने कुल की कुशल पूछी।

कैकेयी ने कहा, "मैंने तो सारी बात अच्छी तरह सँभाली; बेचारी मंथरा मेरी सहायक बनी, परन्तु ब्रह्मा ने बीच में कुछ कार्य बिगाड़ दिया क्योंकि महा-राजश्री स्वर्ग सिधार गए।"

पिता की मृत्यु का समाचार सुनते ही भरत व्याकुल हो गए। उनको इतना व्याकुल देखकर कैकेयी उन्हें ऐसे समझाने लगी, मानो जले पर नमक छिड़क रही हो।

कैकेयी के वचनों को सुनकर भरत ऐसे सहम उठे कि जैसे पके हुए घाव पर अंगारा छू गया हो। श्रीभरत ने धैर्य धारण कर साँस लेते हुए कैकेयी से कहा, "अरे पापिनी ! तूने सब प्रकार से हमारे कुल को नष्ट कर डाला !"

महाराज श्रीदशरथ की मृत्यु के बाद गुरु वशिष्ठ ने श्रीभरत को ननिहाल से लौटने का संदेश भेजा। किन्तु दूतों को आदेश था था कि महाराज की मृत्यु का समाचार श्रीभरत या किसी भी अन्य व्यक्ति को न सुनाया जाय। राजनीति और व्यवहार दोनों ही दृष्टियों से यह आवश्यक था। निकटस्थ राज्यों को किसी राज्य के राजा-विहीन होने का समाचार आक्रमण के लिए प्रोत्साहित कर सकता था। भरत के ननिहाल वालों को यह समाचार जनाकर वे समस्या को उलझाना नहीं चाहते थे। श्रीभरत को भी यदि यह समाचार पहले से ज्ञात हो जाता तो इतनी लम्बी यात्रा वे दुःख के असह्य बोझ को लेकर करते। इन सभी दृष्टियों से गुरु वशिष्ठ के द्वारा दूतों को यह आदेश दिया गया :

तेल नाव भरि नृप तनु राखा।
दूत बोलाइ बहुरि अस भाखा॥
धावहु बेगि भरत पहिं जाहू।
नृप सुधि कतहुँ कहहु जनि काहू॥
एतनेइ कहेहु भरत सन जाई।
गुरु बोलाइ पठयउ दोउ भाई॥

दूत गुरुदेव का आदेश सुनाकर श्रीभरत को अयोध्या लौटा ले आते हैं। श्री-हीन अयोध्या की दशा देखकर भरत का अन्तःकरण व्याकुलता से भर उठा। नागरिक भरत को देखकर दूर से ही प्रणाम करते थे, और चुपचाप कतराकर

निकल जाते थे। श्रीभरत के लिए यह सर्वथा नया अनुभव था :

पुरजन मिलहिं न कहहिं कछु, गवँहि जोहारहिं जाहिं।
भरत कुसल पूँछि न सकहिं, भय बिषाद मन माहिं॥

अयोध्या की प्रजा में श्रीभरत सदा से बड़े लोकप्रिय थे। इसीलिए राघवेन्द्र के राज्याभिषेक की योजना सुनकर सारी प्रजा के अन्तःकरण में वे एक ही आकांक्षा शेष रह गयी थी, "कितना अच्छा होता कि श्रीभरत भी इस सुअवसर पर आ जाते। वे भी अपने नेत्रों का फल पा लेते" :

भरत आगमनु सकल मनावहिं।
आवहुँ बेगि नयन फल पावहिं॥

"आवहुँ बेगि नयन फल पावहिं" में उनका सुदृढ़ विश्वास बोल रहा था। उन्हें इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं था कि राघवेन्द्र के राज्याभिषेक से सर्वाधिक प्रसन्नता श्रीभरत को होगी।

किन्तु बीच की घटनाओं ने इस सुदृढ़ विश्वास को हिला दिया था। एक वर्ग तो इस निष्कर्ष पर भी पहुँच चुका था कि यहाँ की घटनाओं में भरत का भी हाथ है। एक वर्ग वह था जो दुविधा-ग्रस्त हो गया था। केवल एक ही वर्ग ऐसा बचा हुआ था, जिसकी श्रीभरत पर अब भी उतनी ही प्रगाढ़ आस्था बनी हुई थी; पर प्रतीत होता है कि इनकी संख्या अत्यन्त सीमित रही होगी, और यह स्वाभाविक भी था। ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों में विश्वास को सुदृढ़ रख पाना बिरले व्यक्तियों का ही कार्य हो सकता था। इस अल्पसंख्यक वर्ग को अपने विचारों का समर्थन करने के लिए तर्क के स्थान पर भावनात्मक प्रतीकों का आश्रय लेना पड़ रहा था। और इसका एकमात्र कारण यह था कि सारे तर्क उनके प्रतिकूल थे। वर्तमान घटनाओं के सन्दर्भ में भरत का सारा क्रिया-कलाप भिन्न अर्थ वाला प्रतीत हो रहा था। तर्क-श्रृंखला कुछ इस दिशा में जा रही थी : "राज्याभिषेक के अवसर पर श्रीभरत को निमंत्रित क्यों नहीं किया गया ?" होना तो यह चाहिए था कि इसके लिए श्रीदशरथ की आलोचना की जाती कि उन्होंने ऐसे शुभ अवसर पर श्रीभरत को न बुलाकर कितना बड़ा अन्याय किया है; किन्तु उनका तर्क यह था, कि "श्रीभरत के प्रति महाराज के हृदय में अवश्य संशय रहा होगा। दूरी के कारण हम लोगों के हृदय में भरत के प्रति विश्वास की भ्रान्त धारणा बन गयी थी। किन्तु निकटस्थ महाराज उन्हें पूरी तरह पहचान गए थे। फिर कैकेयी को यदि यह सुदृढ़ विश्वास न होता कि भरत राज्य स्वीकार कर लेंगे, तो वे कभी भी इतनी आगे बढ़कर भरत के राज्य के लिए

प्रयास न धरतीं।" इस प्रकार सारी तर्क-परम्परा भरत के प्रतिकूल थी। इसीलिए विश्वासियों ने भावना का आश्रय लेते हुए यह कहा, कि "ऐसा कहने वालों के समस्त पुण्य नष्ट हो जाएँगे। श्रीराम तो भरत के प्राण-प्रिय हैं। चाहे चन्द्रमा से अग्नि की वर्षा होने लगे, अथवा अमृत ही विष का कार्य करने लगे; पर श्रीभरत तो स्वप्न में भी प्रभु के प्रतिकूल आचरण नहीं कर सकते।" ऐसा कहते हुए पुरवासियों ने कान मूँदने के साथ-साथ जिह्वा को पकड़कर अपनी भावना प्रदर्शित की :

एक भरत कर सम्मत कहहीं।
एक उदास भायँ सुनि रहहीं॥
कान मूँदि कर रद गहि जीहा।
एक कहहि यह बात अलीहा॥
सुकृत जाहिं अस कहत तुम्हारे।
रामु भरत कहुँ प्रान-पिआरे॥
चंदु चवै बरु अनल कन, सुधा होइ बिषतूल।
सपनेहुँ कबहुँ न करहिं किछु, भरत राम प्रतिकूल॥

किसी व्यक्ति में परिवर्तन नहीं हो सकता है, यह सिद्ध कर पाना इन भावुकों के लिए सर्वथा असम्भव था। सारा इतिहास व्यक्तियों के स्वभाव-परिवर्तन से भरा हुआ है। स्वयं वर्तमान में ही कैकेयी का चरित्र इसी परिवर्तन का परिचायक था। इसीलिए विश्वासियों ने दो असम्भव दृष्टान्तों के द्वारा अन्यों में परिवर्तन की प्रक्रिया को स्वीकार कर लिया। जान पड़ता है कि दोनों दृष्टान्त कैकेयी को दृष्टिगत रखकर ही दिए गए हैं।

"कैकेयी चन्द्रमा के समान शीतल और शीलमयी हैं"—यही भावना सारे अयोध्या में व्याप्त थी :

कबहुँ न कियहु सवति अवरेसू।
प्रीति प्रतीति जान सब देसू॥

किन्तु उस चन्द्रमा ने अनल-कण की ऐसी वर्षा की, कि सारी अयोध्या उसमें भस्मसात् हो गयी। कैकेयी के चरित्र को महाराजश्री के लिए अमृत-तुल्य माना जाता था। दशरथ की प्राण-रक्षा के लिए वे स्वयं युद्ध-क्षेत्र में उनके साथ जाती थीं। अमृत का कार्य करने वाली कैकेयी विष बनकर महाराज की मृत्यु का कारण बनेंगी, इसकी कल्पना कौन कर सकता था? किन्तु यह भी संभव हो गया। फिर भी कुछ भावुक विश्वासियों का यह आग्रह था कि श्रीभरत में परिवर्तन

संभव नहीं है। स्वभावत: उनके इस आग्रह को अयोध्या का जनमत स्वीकार करने की मन:स्थिति में नहीं था। अत: श्रीभरत को देखकर उनका कतराना स्वाभाविक था। भविष्य में बहुमत की धारणा अवास्तविक सिद्ध हुई। इसका तात्पर्य ही यही है कि तर्क सदा वास्तविक निष्कर्ष पर नहीं पहुँचते हैं। तर्क गणितज्ञ है, और हृदय साहित्यकार। दोनों की मान्यता सर्वथा भिन्न है। इसीलिए तर्क का गणितज्ञ हृदय के साहित्यकार की भावनाओं का सही अर्थ नहीं बता सकता। साहित्य का सही रस तो साहित्यिक ही ले सकता है, हृदय की बात को हृदय ही हृदयङ्गम कर सकता है। इसीलिए विश्वासी जन श्रीभरत को सही अर्थों में पहचान पाए; और, जिन पुरवासियों ने तर्क के गणित का आश्रय लिया, वे भरत को समझ पाने में असमर्थ रहे।

पुरवासियों को स्वयं से कतराते देखकर भरत का हृदय आशंकाओं से भर गया, परन्तु वे उनसे कुछ पूछने में डरते हैं। यहाँ तुलसी ने मानव-मन की विलक्षणताओं के ज्ञान का अच्छा परिचय दिया है। कभी-कभी व्यक्ति स्वयं में ही संघर्ष-रत हो जाता है। एक ओर वह वास्तविकता को जानना चाहता है; यह सत्य के प्रति उसकी आस्था और जिज्ञासा का परिचायक है। किन्तु दूसरी ओर सुन्दरता के प्रति उसकी आसक्ति उसे सत्य को जानने से रोकती है। व्यक्ति के अन्तर्मन में यह ज्ञान विद्यमान रहता है कि सत्य सदा सुन्दर नहीं होता। 'सत्यम्' और 'सुन्दरम्' की दूरी को 'शिवम्' ही पूरा कर सकता है। शिव में सत्य और सौन्दर्य, दोनों का समन्वय है। उनके श्रीविग्रह में चन्द्रमा यदि सौन्दर्य का प्रतीक है, तो 'नर मुण्डमाला' सत्य का साक्षात्कार कराती है। दोनों के मध्य में शिव विद्यमान हैं। यही ज्ञान व्यक्ति को स्वस्थ बनाता है। श्रीभरत के अन्तर्द्वन्द्व में यही प्रवृत्ति परिलक्षित हो रही है।

श्रीभरत सीधे कैकेयी अम्बा के भवन में प्रविष्ट हुए। शंकालुओं ने इसे भी अपने सन्देह की पुष्टि के रूप में ही देखा होगा। शिष्टाचार की दृष्टि से श्रीभरत को सर्वप्रथम कौसल्या अम्बा के भवन में जाना चाहिए था, किन्तु वे अपनी माता कैकेयी के भवन में पहले जाते हैं। कैकेयी का यह महल ही सारे षड्यन्त्रों का केन्द्र था, इसलिए उस महल में प्रविष्ट होने वाला प्रत्येक व्यक्ति षड्यन्त्र में भागीदार होगा, ऐसी भावना का उठना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। किन्तु श्रीभरत औपचारिकताओं में विश्वास नहीं करते हैं।

औपचारिकता में लोक-दृष्टि को महत्त्व दिया जाता है। श्रीभरत का प्रत्येक क्रिया-कलाप भागवत दृष्टि से प्रेरित होता है। लोक-दृष्टि से कार्य करने वाला व्यक्ति सम्मान का भूखा होता है। किन्तु भागवत-दृष्टि भगवान् को ढूँढ़ती है। उसके लिए अपने-पराए का प्रश्न मुख्य नहीं है। उसकी दृष्टि का केन्द्र वह व्यक्ति

ही हो सकता है जिसके निकट ईश्वर की उपलब्धि की सम्भावना हो। अयोध्या के प्रत्येक व्यक्ति को यह ज्ञात था कि रामभद्र अधिकांश समय कैकेयी अम्बा के समीप व्यतीत करते थे। उन्हें यह भी ज्ञात था कि अन्य माताओं और महाराज श्रीदशरथ का भी सर्वाधिक प्रिय केन्द्र कैकेयीजी का भवन ही था। सबकी दृष्टि-बिन्दु के केन्द्र श्रीराम थे, और वे राम यदि कैकेयी अम्बा के महल में रहें तो अन्य लोगों की उपस्थिति भी वहीं अनिवार्य थी। श्रीभरत यही कल्पना लेकर कैकेयी अम्बा के भवन में प्रविष्ट हुए होंगे।

व्यावहारिक दृष्टि से यह भी सम्भव है कि गुरु वशिष्ठ ने दूतों के माध्यम से श्रीभरत तक यह भी आदेश पहुँचा दिया हो कि भरत पहले कैकेयी के राजभवन में पधारें। चतुर गुरु वशिष्ठ का यह कार्य पूरी तरह युक्ति-संगत और मनोवैज्ञानिक था। इस बीच अयोध्या के रंगमंच पर जो कुछ घटित हुआ था, उसकी मुख्य सूत्रधार कैकेयी थीं, अतः दुःखद गाथा का वर्णन भी उन्हीं के मुख से होना चाहिए। दुःख-निर्मात्री कैकेयी स्वयं ही अपनी कृति का परिचय भरत को दें, यह गुरु वशिष्ठ की अभिलाषा थी।

इस आदेश में ब्रह्मर्षि वशिष्ठ की दूरदर्शिता भी दिखायी देती है।

यदि श्रीभरत पहले कहीं अन्यत्र जाने के बाद कैकेयी के भवन में जाते और वहाँ राज्य लेने की अस्वीकृति की सूचना देते तो कैकेयी के लिए यह एक उलाहने की बात हो जाती। वे यही कहतीं कि "भरत को मेरे विरुद्ध भड़काकर तब मेरे पास भेजा गया है।" ब्रह्मर्षि ने सर्वप्रथम उन्हीं के महल में जाने का आदेश देकर इस उलाहने का मार्ग अवरुद्ध कर दिया। श्रीभरत के आगमन का समाचार सुनते ही कैकेयी प्रसन्न हो उठीं। इन दिनों कैकेयी बहुत अकेलेपन का अनुभव कर रही थीं। अयोध्या की सारी प्रजा तो उनके विरुद्ध हो ही गयी थी, उनकी निकटस्थ सखियों ने भी उनका परित्याग कर दिया था। किन्तु प्रतिकूल परिस्थितियों में भी कैकेयी निराश नहीं हुई थीं। उन्हें यह विश्वास था कि भरत के राजा बनते ही जन-समाज की सारी उपेक्षा समाप्त हो जाएगी। तब उनकी आलोचना करने वाले उनके समक्ष सिर झुकाने के लिए बाध्य हो जाएँगे। सत्ता के प्रति इसी महत्त्व-बुद्धि ने उन्हें ये सारे अनर्थ करने के लिए बाध्य किया था। उन्हें यह ज्ञात नहीं था कि सत्ता सम्मान दिला सकती है, सद्भाव नहीं।

श्रीभरत का स्वागत करने के लिए स्वर्णथाल में आरती सजाकर कैकेयी का जाना उनकी तात्कालिक मनोवृत्ति का ही परिचायक था। जिस पत्नी के पति का शव अभी राजमहल में ही रखा हुआ हो, जहाँ सारा नगर करुण क्रन्दन से गूँज रहा हो, वहाँ स्वर्ण-थाल सजाने की विडम्बना कैकेयी ही कर सकती थीं। लोभ का हिरण्याक्ष उनकी आँखों में प्रविष्ट हो गया था, इसलिए स्वर्णथाल के प्रति

उनका आकर्षण स्वाभाविक था।

स्वर्णपात्र लोभ का प्रतीक है। कैकेयी का यह स्वर्ण-थाल सत्य को छिपाने का ही एक साधन था। उसमें जलता हुआ दीपक प्रकाश से अधिक उस मनोवृत्ति का प्रतीक था जो सूर्य की अपेक्षा अंधकार से प्रेम करता है—जिसका सूर्य की उपस्थिति से द्वेष है। क्योंकि दीपक यह जानता है कि सूर्य के प्रकाश में उसका गौरव समाप्त हो जाएगा। कैकेयी भी 'भानुकुल-भानु' को हटाकर अपने अहं की दीपशिखा को प्रज्वलित करती हैं और अपने इसी प्रलोभन एवं अहंकार को लेकर वे श्रीभरत का स्वागत करना चाहती हैं। किन्तु श्रीभरत की आँखें अपने प्रभु की खोज में लगी हुई थीं। उन्हें कोई भी प्रलोभन और अहंकार अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकता था।

श्रीभरत को व्याकुल देखकर कैकेयी अपने पितृगृह की कुशलता के लिए व्यग्र हो जाती हैं। उन्हें यह विश्वास था कि किसी-न-किसी सूत्र से भरत को अपने राज्याभिषेक की योजना का समाचार मिल चुका होगा। परन्तु इस प्रसन्नता के समाचार के बाद भी यदि श्रीभरत उदास हैं तो कोई-न-कोई दुर्घटना मेरे पितृ-गृह में अवश्य हुई होगी :

सुतहि ससोच देखि मनु मारें।
पूँछति नैहर कुसल हमारें॥

वे यह कल्पना भी नहीं कर सकती थीं कि राज्य की उपलब्धि-जैसे महान् समाचार के बाद भरत अन्य घटनाओं को कोई महत्त्व देंगे। इसीलिए भरत के द्वारा पितृगृह का कुशल-समाचार सुनने के बाद कैकेयी ने जब यहाँ के समाचार दिए, तब सारी दुर्घटना को एक वाक्य में समाप्त कर दिया, "कछुक काज बिधि बीच बिगारेउ।" इस कार्य में उसे अपनी ही भूमिका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत हो रही थी। कार्य सँवारने में बेचारी मन्थरा केवल सहायक-मात्र है। मुख्य कार्य का सम्पादन तो उन्हीं के द्वारा हुआ है :

तात बात मैं सकल सँवारी।
भै मंथरा सहाय बिचारी॥
कछुक काज बिधि बीच बिगारेउ।
भूपति सुरपतिपुर पग धारेउ॥

कैकेयी को यद्यपि सर्वाधिक श्रेय मन्थरा को देना चाहिए था, किन्तु स्वार्थी व्यक्ति की मनोवृत्ति का यह नग्न चित्र है कि वह कार्य की सफलता के लिए कार्य करते समय भिन्न भाषा का प्रयोग करता है। सहायता प्राप्त करने के लिए वह

किसी को सम्मान देने में संकुचित नहीं होता। किन्तु कार्य-सिद्धि के बाद वह दूसरों को पीछे धकेलकर स्वयं ही आगे हो जाता है। इसीलिए कोप-भवन में जाने से पहले मंथरा के प्रति कैकेयी की भाषा भिन्न प्रकार की थी—"सखि ! तुम्हारे समान हितैषी तो इस संसार में मेरा कोई है ही नहीं। मुझ डूबने वाली का तू आधार बन गयी। यदि ब्रह्मा ने मेरी मनोकामना पूर्ण कर दी तो तुझे नेत्रों की पुतली बना लूंगी।" बहुत प्रकार से कैकेयी ने मन्थरा को समादृत किया :

कुबरिहि रानि प्रानप्रिय जानी।
बार बार बड़ि बुद्धि बखानी॥
तोहि सम हित न मोर संसारा।
बहे जात कइ भइसि अधारा॥
जौं बिधि पुरब मनोरथ काली।
करौं तोहि चख पूतरि आली॥

किन्तु लक्ष्य-सिद्धि के बाद वह 'बेचारी' ही रह गयी। वे उसे पुरस्कृत तो करना चाहती हैं किन्तु इस कार्य का अधिकांश श्रेय स्वयं लेना चाहती हैं। इसी-लिए 'बिचारी मन्थरा भी सहायक हुई' कहकर उसके पूर्व गौरव को कम कर देती हैं। अब वह समादृता सखी नहीं है, वह पुनः चेरी ही है। कैकेयी इस दुःखद वाता-वरण में प्रसन्न रह सकीं, इसका रहस्य ही यह है कि वे वर्तमान में न रहकर भविष्य में जी रही थीं। 'भरत के आगमन के बाद क्या होगा' इसका काल्पनिक चित्र और भविष्य की योजनाओं को घड़ने में वे प्रतिक्षण संलग्न थीं। मन्थरा को पुनः 'बिचारी' बना देने में उसकी दूरगामी कल्पना कार्य कर रही थी। भरत के राजा बनने पर कहीं मन्थरा सिर न चढ़ जाय, कहीं भरत उसे ही बहुत महत्त्व न देने लगें, इसलिए वह उसकी भूमिका को अभी से हीन बनाने पर तुली हुई हैं। क्रोधी भूत में, कामी वर्तमान में और लोभी भविष्य में जीता है।

कैकेयी के मन में यदि कहीं रंचमात्र संशय होता कि भरत इस कार्य से उनके इतने अधिक विरुद्ध हो जाएँगे तो वे निश्चित रूप से इसमें मन्थरा की भूमिका को ही सब-कुछ सिद्ध कर देतीं। पर इस समय तक तो उनकी आँखों पर ऐसा चश्मा चढ़ा हुआ था कि भरत भी कैकेयी को उसी रंग में रँगे हुए दिखायी दे रहे हैं जिसमें वे उन्हें देखना चाहती हैं। भरत को यद्यपि उन्होंने अत्यधिक निकटता से देखा था, किन्तु उन्हें अपनी मनोवृत्ति की पृष्ठभूमि में भरत के पुराने क्रियाकलाप सर्वथा भिन्न अर्थ देते हुए प्रतीत हो रहे थे।

उन्हें भरत का मौन, उनका श्रीराम के अत्यधिक सन्निकट न रहना, भरत के मन में राम के प्रति वितृष्णा का प्रतीक जान पड़ने लगा। उन्हें लगा, 'इतने

दिनों तक राम को अधिक महत्त्व देकर भरत की मैंने सर्वथा उपेक्षा कर दी। भरत के मन में इसी की प्रतिक्रिया थी। श्रीभरत का इतने वर्षों तक ननिहाल में रह जाना मेरी ही उपेक्षा का परिणाम था। उसे अयोध्या में वह स्नेह प्राप्त नहीं हुआ जिसका वह अधिकारी था। उसे स्नेह पाने के लिए दूर देश की यात्रा करनी पड़ी। आज उस त्रुटि का परिमार्जन हो जाने पर भरत को अपार प्रसन्नता होगी।' इसलिए यहाँ के समाचारों की सूचना देते समय उनकी भाषा में लेशमात्र भी भय नहीं था। महाराज की मृत्यु को इसीलिए वे अत्यन्त साधारण घटना के रूप में प्रस्तुत करती हैं। उन्हें यह विश्वास था कि जिन पिता से भरत को वात्सल्य और न्याय दोनों प्राप्त नहीं हुए, उनकी मृत्यु से उसे अधिक दुःख भी नहीं होगा।

अपने कार्य को गौरवपूर्ण सिद्ध करने के लिए वे ब्रह्मा का नाम विचित्र रूप में ले आईं, "कुछ कार्य ब्रह्मा ने बीच में बिगाड़ दिया।" कैकेयी का तात्पर्य यह था कि ब्रह्मा का यह स्वभाव है कि किसी वस्तु, व्यक्ति या घटना को वह पूर्णता तक पहुँचने नहीं देता है। उसे तुम्हारी उन्नति की कल्पना से इतनी ईर्ष्या हुई कि महाराज की मृत्यु के द्वारा उसने कुछ न्यूनता उत्पन्न करने का प्रयास किया।

पिता की मृत्यु का समाचार सुनते ही भरत व्याकुल होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। उन्हें मृत्यु के साथ-साथ कैकेयी की भाषा ने भी मर्माहत किया। महाराज की मृत्यु को अल्प हानि के रूप में प्रस्तुत करना उन्हें इतना विस्मयकारी प्रतीत हुआ कि उन्हें यह समझते देर न लगी कि इस बीच अवश्य कुछ ऐसा घटित हुआ है जिससे पिता की मृत्यु हुई; और इस दुर्घटना में कैकेयी की ही भूमिका मुख्य है। इसीलिए उन्होंने दोष देने के लिए ब्रह्मा का चुनाव किया है। तत्काल उन्होंने कैकेयी से पिता की मृत्यु का कारण पूछा :

बहुरि धीर धरि उठे सँभारी।
कहु पितु मरन हेतु महतारी।।

पर आश्चर्य की पराकाष्ठा तो यह है कि भरत की व्याकुलता देखते हुए भी उन्हें रंच-मात्र सन्देह या भय प्रतीत नहीं हुआ। इसलिए महाराज की मृत्यु का समाचार सुनाते समय कैकेयी के मनोभाव को गोस्वामीजी ने 'मुदित मन बरनी' के रूप में प्रस्तुत किया है :

आदिहु तें सब आपनि करनी।
कुटिल कठोर मुदित मन बरनी।।

यहाँ कैकेयी के लिए कुटिल विशेषण का प्रयोग सर्वथा सांकेतिक है। तार्किक दृष्टि से तो पिता की मृत्यु का समाचार सुनकर भरत को पृथ्वी पर गिरते देख वे

उनके दुःख को समझ लेतीं। किन्तु कुटिल कैकेयी ने इसे भरत के अभिनय के रूप में ही अनुभव किया। कुटिलता का लक्षण ही यह है कि व्यक्ति दूसरों को भी अपने सदृश देखता है। वन जाते हुए श्रीराम के वार्तालाप को भी उन्होंने अभिनय के रूप में ही देखा था। उस प्रसंग में भी तुलसी ने उन्हें 'कुटिल' की उपाधि प्रदान की :

सहज सरल रघुबर बचन, कुमति कुटिल करि जान।
चलइ जोंक जल बक्र गति, जद्यपि सलिलु समान।।

मन्थरा अभिनय-कला में निष्णात थी और कैकेयी ने भी उसके सम्पर्क से यह शिक्षा ग्रहण कर ली। तब से लेकर अब तक वह अभिनय की मनःस्थिति में ही रह रही थीं। इसलिए भरत के विलाप को भी उन्होंने अभिनय के रूप में ही माना। यदि वे श्रीभरत के वास्तविक मनोभाव को समझ पाईं होतीं तो 'मुदित मन' के स्थान पर शोक-मुद्रा का अभिनय करते हुए सारा समाचार सुनातीं। किन्तु कैकेयी के पास दृष्टि थी ही कहाँ? वे तो 'मोह न अंध कीन्ह केहि केही' की मनःस्थिति में पहुँच चुकी थीं। आनन्दोच्छ्वास से भरे हुए स्वर में उन्होंने भरत को यह सुनाया कि अयोध्या में जो भीषण दुर्घटना होनेवाली थी, उसे टालने के लिए उन्हें कितना अधिक श्रम करना पड़ा :

आदिहु ते सब आपनि करनी।
कुटिल कठोर मुदित मन बरनी।।

समाचार सुनते ही श्रीभरत स्तब्ध हो गए। वाणी अवरुद्ध हो गयी। यह प्रतिक्रिया पिता की मृत्यु के समाचार को सुनकर होनेवाली प्रतिक्रिया से सर्वथा भिन्न थी। जहाँ वे उस समाचार को सुनकर उच्च स्वर में विलाप करने लगे थे, पृथ्वी पर गिर पड़े थे वहाँ राम वन-गमन का समाचार सुनकर उनमें सर्वथा जड़ता आ गयी। यह सीमातीत दुःख का परिचायक है। नदी में डूबते समय व्यक्ति प्रारम्भ में हाथ-पैर मारता है, किन्तु यह प्रक्रिया बचने की चेष्टा का लक्षण है। पूरी तरह डूब जाने पर वह सर्वथा निश्चेष्ट हो जाता है। अभी तक श्रीभरत पिताजी की मृत्यु के शोक में डूबते हुए भी सक्रिय थे, क्योंकि उन्हें श्रीराम का आश्रय लेकर शोक से उबरने की आशा थी। किन्तु अब तो उनकी सारी आशाएँ समाप्त हो गयीं। उस समय तो उन्होंने पिता को यही उलाहना दिया था कि "आप मुझे श्री रामभद्र को सौंपे बिना ही चले गए" :

चलत न देखन पायउँ तोही।
तात न रामहि सौंपेहु मोही।।

किन्तु अब वे किससे कहें, क्या कहें ? इसलिए उनकी यह निश्चेष्टता, उनका यह मौन सर्वथा स्वाभाविक था। कैकेयी श्रीभरत के शोक की गहराई को अब भी समझ नहीं पा रही हैं। हाँ, इतना उन्हें अवश्य प्रतीत होने लगा कि भरत चुप होकर कुछ सोच रहे हैं। कैकेयी सोचने लगीं, 'भरत को राज्य की उपलब्धि से तो प्रसन्नता हुई होगी, किन्तु जिस तरह से राज्य प्राप्त हुआ है, सम्भवतः इससे वे चिन्तित होकर विचार कर रहे हैं।' उनके मौन को कैकेयी ने शोक-जनित जड़ता के रूप में ग्रहण नहीं किया। इसलिए उनकी व्याकुलता को दूर करने के लिए वह उन्हें समझाने लगीं। गोस्वामीजी के शब्दों में, कैकेयी के वाक्य ऐसे ही थे जैसे कोई जले हुए स्थान पर नमक लगा रहा हो। यहाँ पर जलने का दृष्टान्त बड़ा ही सार्थक है। आघात की प्रक्रिया में रक्तस्राव होता है, अतः उसकी भयानकता आँखों के सामने आ जाती है। किंतु जलने पर रक्तस्राव न होकर फफोले पड़ जाते हैं। उसकी जलन तो भीतर की ओर होती है। उसका अनुभव जले हुए व्यक्ति को ही होता है।

श्रीभरत की व्यथा की अनुभूति उनके बाहर के क्रिया-कलाप से नहीं जानी जा सकती क्योंकि वह तो आन्तरिक पीड़ा है। जलन के स्थान पर औषधि के रूप में नमक लगाया जा रहा है। ऐसी भूल तभी सम्भव है जब लगानेवाला शत्रु हो या अन्धा। कैकेयी के हृदय में भरत के प्रति शत्रुता की भावना तो नहीं है; पर राग और ममता ने उन्हें इतना अन्धा बना दिया कि नमक को ही औषधि समझकर उसे छिड़क रही हैं। वह नमक क्या है ? कैकेयी केवल महाराज की मृत्यु का शोक छोड़ने के लिए कहती हैं। इसका तात्पर्य ही यह था कि उन्हें दृढ़ विश्वास था कि 'राम के वन-गमन से तो भरत को दुःख हुआ ही नहीं होगा, केवल महाराज की मृत्यु का शोक ही इसे व्याकुल बना रहा है।' जबकि यथार्थ इससे सर्वथा भिन्न है :

बिकल बिलोकि सुतहि समुझावति।
मनहुँ जरे पर लोनु लगावति।।
तात राउ नहिं सोचै जोगू।
बिढ़इ सुकृत जसु कीन्हेउ भोगू।।
जीवत सकल जनम फल पाए।
अंत अमरपति सदन सिधाए।।
अस अनुमानि सोच परिहरहू।
सहित समाज राज पुर करहू।।

"महाराजश्री शोक करने योग्य नहीं हैं। उन्होंने जीवन में पुण्य की वृद्धि के

साथ-साथ समग्र भोगों को भोग लिया। जो कुछ करने योग्य था, पाने योग्य था, उन्होंने पा लिया; और अन्त में स्वर्ग को पधार गए। ऐसा समझकर शोक का परित्याग कर कर्त्तव्य कर्म का पालन करने के लिए समाज-सहित राज्य करो।''

व्यक्ति अनुचित-से-अनुचित कार्य को भी सुंदर शब्दों के परिधान में अलंकृत करके उसे सुन्दर दिखाने की चेष्टा कर सकता है, इसका यह उत्कृष्ट दृष्टान्त है। महाराज की मृत्यु कैकेयी की निष्ठुरता के कारण हुई है। किन्तु वे भरत को यह समझाना चाहती हैं कि महाराज का जीवन तो धन्य था ही, परन्तु मृत्यु की धन्यता संदिग्ध थी। हो सकता है वे रोग या वृद्धावस्था से मर जाते; क्योंकि अब कोई युद्ध भी होता तो उसमें राजकुमार ही जाते (विश्वामित्र के यज्ञरक्षण से ही परम्परा बदल गयी थी)। ऐसी स्थिति में उनका जीवन अपूर्ण रह जाता। जीवन और मृत्यु, दोनों की सार्थकता में ही पूर्णता की अभिव्यक्ति मानी जाती है। अतः यह कितने दुःख की बात होती कि उनकी मृत्यु एक साधारण व्यक्ति के समान हो जाती ! तुम्हें तो प्रसन्न होना चाहिए कि तुम्हारे पिता की मृत्यु सत्य-संरक्षण के लिए हुई। वे एक ऐतिहासिक व्यक्ति बन गए। (कैकेयी का आन्तरिक मनोभाव यह था कि महाराज की मृत्यु को सार्थक बनाने का सारा श्रेय उन्हें है।

यह दृष्टान्त है व्यक्ति के पतन का। ठगों के द्वारा दूसरों को ठगे जाने के अनेक दृष्टान्त कहे-सुने जाते हैं, किन्तु आत्म-प्रवञ्चना के द्वारा प्रतिक्षण व्यक्ति स्वयं को कितना ठगता रहता है यदि इसकी गणना की जाय तो वह अनगिनत हो जायगी। बाहर ठगी करने पर राज्य की ओर से दण्ड का भय बना रहता है, किन्तु आत्म-प्रवञ्चना में भय की बात तो दूर, व्यक्ति स्वयं को पुरस्कृत करता रहता है—और इसीलिए आत्म-प्रवञ्चना की प्रवृत्ति बढ़ती ही जाती है।

जब ठगी का कार्य करनेवाला ही न्यायाधीश के सिंहासन पर विराजमान हो जाय तब अनर्थ का क्या कहना ? बाहर सफलतापूर्वक ठगी करने के लिए भी पहले स्वयं को ठगने की कला में निपुण होना पड़ता है। ठगों और पिंडारियों के इतिहास पर से यह स्पष्ट हो जाता है। सभी ठग काली का पूजन करते थे और स्वयं को देवी का कार्य सम्पन्न करनेवाला भक्त मानते थे। हत्या करने की भी उनकी एक प्रक्रिया थी। वे रूमाल के द्वारा ही लोगों की हत्या किया करते थे। इस हत्या में रक्त नहीं निकलता था, इसका सम्बन्ध वे रक्तबीज की कथा से जोड़ते थे। रक्तबीज के शरीर से रक्त की जितनी बूंदें भूमि पर गिरती थीं, उतने नए रक्तबीज उत्पन्न हो जाते थे। उस दैत्य का विनाश असम्भव प्रतीत होता था। देवी ने उसके संहार के लिए तीन रूप बनाए; और उससे रक्तबीज का रक्त भूमि पर नहीं गिरने दिया गया, इस तरह रक्तबीज का संहार हुआ। यह पौराणिक कथा है पर इसमें ठगों ने एक गाथा और जोड़ ली। जब देवी चलीं तो उन्होंने ठगों के

पूर्वजों को रूमाल देकर यह कार्य सौंपा कि वे इसके द्वारा ऐसा संहार करें कि रक्त की बूँद भूमि पर न गिरे। इस तरह वे परम्परा से देवी के आदेश का पालन कर रहे हैं। इस तरह दुष्टता की सीमा को भक्ति से सम्बद्ध करके ठग दूसरों को ठगता हुआ स्वयं को धर्म-पालक मानता था। पर इससे मिलती-जुलती आत्म-प्रवञ्चना अधिकांश व्यक्तियों में विद्यमान रहती है।

आत्म-प्रवंचना-ग्रस्त कैकयी की वाणी ने श्रीभरत के क्रोध को उद्दीप्त कर दिया। श्रीभरत ने कैकेयी के लिए जिन वाक्यों का प्रयोग किया वे उनके शील के सर्वथा विपरीत होते हैं। आज भी अनेक लोगों के अन्तःकरण में उनके औचित्य के प्रति सन्देह बना हुआ है। उनका प्रश्न यह है कि एक पुत्र के लिए क्या यह उपयुक्त है कि वह माँ के लिए ऐसी शब्दावली का प्रयोग करे ? :

धीरज धरि भरि लेहि उसासा।
पापिनि सबहि भाँति कुल नासा।।
जौं पै कुरुचि रही अति तोही।
जनमत काहे न मारे मोही।।
पेड़ काटि तैं पालउ सींचा।
मीन जिअन निति बारि उलीचा।।
हंसबंसु, दसरथ जनकु, राम-लखन से भाइ।
जनन तूँ जननी भई, बिधि सन कछु न बसाइ।।
जब तैं कुमति कुमत जिय ठयऊ।
खंड-खंड होइ हृदउ न गयऊ।।
बर मागत मन भइ नहिं पीरा।
गरि न जीह मुहँ परेउ न कीरा।।

रामचरितमानस की दृष्टि में भरत का चरित्र ही धर्म की सर्वोत्कृष्ट व्याख्या है। बँधी-बँधाई धर्म की संकुचित धारणा श्रीभरत द्वारा खंडित हो जाती है। धर्म की गति बड़ी गहन है। बड़े-से-बड़ा व्यक्ति भी अनेक परिस्थितियों में कर्त्तव्य कर्म का निर्णय करने में स्वयं को अक्षम्य पाता है। इसी दृष्टि से शास्त्र के माध्यम से कर्त्तव्य के निर्णय का विधान किया जाता है :

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणन्ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।

किन्तु समस्या इससे सुलझती नहीं। शास्त्रों में परस्पर-विरोधी वाक्य उपलब्ध होते हैं। उनकी परस्पर सङ्गति लगाना सरल कार्य नहीं है। यद्यपि परम्परावादी सङ्गति लगाने के लिए भी कुछ सूत्र प्रदान करते हैं, किन्तु उन सूत्रों का अर्थ

भी तो व्यक्तियों के द्वारा ही किया जाता है। व्यक्ति आत्म-सन्तोष के लिए किसी सङ्गति पर विश्वास कर सकता है किन्तु वह सम्प्रदाय-विशेष के द्वारा स्वीकृत मान्यता-मात्र ही होगी। इसलिए यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि अन्तःकरण ही धर्म का निर्णायक होता है। अंतःकरण जितना शुद्ध और निःस्वार्थ होगा, उसका निर्णय सत्य के उतने ही समीप होगा। जैसे स्वर्ण की परीक्षा अग्नि में होती है ठीक उसी प्रकार निःस्वार्थता की अग्नि में पड़कर ही धर्म अपने उज्ज्वलतम रूप में अभिव्यक्त होता है। अनेक वार नकली सोने को वास्तविक मानकर व्यक्ति ठगा जाता है; पर यदि सोना नकली न भी हो तो उसमें मिलावट की मात्रा का प्रश्न सामने आता है। यह स्वार्थ धर्म के साथ जितना संयुक्त होगा, धर्म भी उतना मिलावटी हो जाएगा। शुद्ध स्वर्ण की भाँति धर्म भी तभी शुद्ध होता है जब उसमें स्वार्थ की रंच-मात्र मिलावट न हो। सर्वथा स्वार्थ-शून्य व्यक्ति सृष्टि में असम्भव है, इसलिए व्यक्ति के द्वारा स्वीकृत धर्म पूर्ण शुद्ध नहीं हो सकता, उसमें कुछ-न-कुछ तो मिलावट होगी ही। मिलावट की मात्रा से स्वर्ण के मूल्य में परिवर्तन होना अवश्यम्भावी है।

भरत का धर्म शुद्ध स्वर्ण है। क्योंकि उनके चरित्र में स्वार्थ का लेश भी नहीं है :

परमारथ स्वारथ सुख सारे।
भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे॥

उनकी निःस्वार्थता का सबसे बड़ा प्रमाण यह प्रसङ्ग है। कैकेयी ने उनके समक्ष अयोध्या के विशाल राज्य का प्रलोभन रक्खा। यदि भरत चाहते तो मातृ-पितृ-भक्ति के नाम पर ही उसे स्वीकार कर लेते। किन्तु उनका धर्म आत्म-प्रवंचना से प्रेरित नहीं है। उस प्रलोभन को स्वीकार करना तो दूर, उसके केन्द्र पर ही उन्होंने कसकर प्रहार किया। माँ पूजनीया है, किन्तु जिसने इतना बड़ा अपराध किया हो, वह श्रीभरत की दृष्टि में माँ कहलाने का अधिकार खो बैठी है। श्रीभरत ने इसके वाद जीवन में कभी भी कैकेयी से वार्त्तालाप नहीं किया। वह उनके लिए पापिनी मात्र रह गयीं। इसलिए श्रीभरत का भाषण ही 'पापिनि' सम्बोधन से प्रारम्भ होता है :

पापिनि, सबहि भाँति कुल नासा॥

और श्रीभरत भी इस समय पुत्र नहीं, राजकुमार हैं—"सुनि सुठि सहमेउ राजकुमारू।" भरत के लिए राजकुमार शब्द का प्रयोग बहुत कम हुआ है। यह शब्द यहाँ सांकेतिक अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। अयोध्या के महाराज की मृत्यु

हो चुकी है। अतः नए राजा के सिंहासनासीन होने तक व्यवस्था का सारा भार राजकुमार भरत पर है। न्याय के आसन पर आसीन राजकुमार शुद्ध न्याय तभी कर सकता है जब वह निर्मम होकर निर्णय दे सके। अपने और पराए का भेद करने पर सच्चा न्याय नहीं हो सकता। श्रीभरत का वार्त्तालाप अपराधिनी कैकेयी को दिया गया मृत्यु दण्ड ही है। शास्त्रीय दृष्टि से गुरुजनों के प्रति कठोर शब्द का प्रयोग ही उनके लिए मृत्युद-ण्ड है। यह कैकेयी के लिए कम-से-कम दण्ड था, जिसकी व्यवस्था श्रीभरत ने की थी।

यदि वे ऐसा न करते तो राजकुमार-पद पर प्रतिष्ठित न माने जाते। इस-लिए धर्म की दृष्टि से श्रीभरत का कार्य उनकी मर्यादा के अनुरूप ही था।

भक्ति-भावना की दृष्टि से तो श्रीभरत का कार्य भक्तों के जीवन-दर्शन के सर्वथा अनुरूप था। भक्त तो स्पष्ट घोषित करते हैं कि राम-विरोधी का परित्याग कोटि-कोटि वैरियों के समान कर देना चाहिए :

जाके प्रिय न राम-बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही ॥ १ ॥
तज्यो पिता प्रहलाद, बिभीसन बंधु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रज बनितन्हि, भए मुद मंगलकारी ॥ २ ॥
नाते देह राम के मनियत, सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लौं ॥ ३ ॥
तुलसी सो सब भाँति परमहित, पूज्य प्रान से प्यारो।
जासों होइ सनेह राम पद, एतो मतो हमारो ॥ ४ ॥

कैकेयी के कल्याण के लिए भी इसी प्रकार के कठोर व्यवहार और शब्दावली की अपेक्षा थी। कैकेयी के चरित्र में "ममता तरुण तमी" का आगमन हो गया था। उसका विनाश शीलचन्द्र के द्वारा सम्भव न था। उसके निवारण के लिए तो उग्र किरणसूर्य के प्रकाश की अपेक्षा थी। ममता घनीभूत अन्धकार है :

ममता तरुन तमी अँधियारी।
राग द्वेष उलूक सुखकारी ॥

चन्द्रमा के द्वारा अंधकार का निवारण नहीं होता, अपितु इससे रात्रि के सौन्दर्य में वृद्धि हो जाती हैं। चन्द्रमा शील का प्रतीक है। यदि ममताग्रस्त प्राणी से शीलमयी भाषा का प्रयोग किया जाए, तो ममता मिटने के स्थान पर और भी आकर्षक बन जाती है। यदि ममताग्रस्त कैकेयी से श्रीभरत शीलभरी भाषा में बोलते तो उनकी ममता का निवारण असम्भव था। उसके लिए तो अज्ञान

निवारक सूर्य-किरण रूपी भाषा का प्रयोग ही आवश्यक था। इसका परिणाम भी कल्याणकारी हुआ और कैकेयी की ममता एवं आसक्ति का विनाश हो गया। कैकेयी का रोग इस सीमा तक बढ़ चुका था कि औषधि के द्वारा उसका उपशमन सम्भव न था। शल्य-चिकित्सा के द्वारा ही उनके अन्तःकरण में उपजे हुए अहंकार का विनाश सम्भव था। कैकेयी को यह गर्व था कि सारा क्रिया-कलाप उनके संकल्प के अनुरूप ही सम्पन्न होने जा रहा है। इस अहंकार को श्रीभरत ने कठोर वाणी की शल्य चिकित्सा के द्वारा निकाल फेंका। श्रीभरत शीलयुक्त व्यवहार के द्वारा अपना और कैकेयी, दोनों का अकल्याण करते। इसलिए जिन लोगों को श्रीभरत की वाणी में अनौचित्य दिखायी देता है, वे धर्म-सार से सुपरिचित नहीं हैं।



॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

ग्रह ग्रहीत पुनि बात बस, तेहि पुनि बीछी मार।
तेहि पिआइअ बारुनी, कहहु काह उपचार॥

× ×

आपनि दारुन दीनता, कहउँ सबहि सिरु नाइ।
देखें बिन रघुनाथ पद, जिय कै जरनि न जाइ॥

किसी को खराब ग्रह घेरे बैठे हों, वायु-रोग भी उसे सता रहा हो, उस पर उसे बिच्छू ने डंक मार दिया हो, उसके पश्चात् भी उसे यदि मदिरा पिला दी जाय, तो बताइये, इसका क्या उपचार है ?"

"अपनी दीनता मैंने आप लोगों को समझाकर कही। मैं सिर नवाकर आप लोगों से कहता हूँ कि श्रीरघुवीर के चरणों का दर्शन किए बिना मेरे हृदय की जलन नहीं जा सकती।"

महाराज श्रीदशरथ के और्ध्वदैहिक कृत्य सम्पन्न हो जाने के पश्चात् गुरु वशिष्ठ ने अयोध्या के नागरिकों की सभा बुलाई और श्रीभरत के समक्ष अयोध्या के राज्य-सिंहासन पर आसीन होने का प्रस्ताव रखा। मंत्रियों ने उनके प्रस्ताव का समर्थन किया। सबसे अन्त में कौसल्या अम्बा ने गुरुदेव की वाणी का अनुमोदन किया :

प्रस्ताव : **रायँ राजपदु तुम्ह कहँ दीन्हा।**
पिता बचनु फुर चाहिअ कीन्हा॥
तजे राम जेहिं बचनहि लागी।
तनु परिहरेउ राम बिरहागी॥

नृपहि बचन प्रिय नहिं प्रिय प्राना।
करहु तात पितु बचन प्रवाना॥
करहु सीस धरि भूप रजाई।
हइ तुम्ह कहँ सब भाँति भलाई॥

× ×

समर्थन : **कीजिअ गुर आयसु अवसि, कहहिं सचिव कर जोरि।**
रघुपति आएँ उचित जस, तस तब करब बहोरि॥

× ×

अनुमोदन : **कौसल्या धरि धीरजु कहई।**
पूत पथ्य गुर आयसु अहई॥
सो आदरिअ करिअ हित मानी।
तजिअ बिषादु काल-गति जानी॥
बन रघुपति सुरपति नरनाहू।
तुम्ह एहि भाँति तात कदराहू॥
परिजन प्रजा सचिव सब अम्बा।
तुम्हहीं सुत सब कहँ अवलंबा॥
लखि बिधि बाम कालु कठिनाई।
धीरजु धरहु मातु बलि जाई॥
सिर धरि गुरु आयसु अनुसरहू।
प्रजा पालि परिजन दुखु हरहू॥

गुरु वशिष्ठ ने अपने प्रस्ताव के समर्थन में वेद-मत का उद्धरण दिया था। मंत्रियों ने लोकमत का प्रतिनिधित्व किया था, और कौसल्या अम्बा ने प्रस्ताव के समर्थन में बड़ा ही अपनत्व और वात्सल्य से भरा दृष्टान्त दिया। उन्होंने गुरु वशिष्ठ की वाणी के लिए 'पथ्य' शब्द का प्रयोग किया। रुग्ण व्यक्ति के लिए वैद्य द्वारा जिस भोजन की व्यवस्था की जाती है उसे पथ्य कहते हैं। पथ्य बहुधा रोगी की रुचि के अनुकूल नहीं होता है। किन्तु 'हितप्रद' होने के नाते रोगी को उसे स्वीकार करना चाहिए, यह कौसल्या अम्बा का संकेत था।

माताएँ बालकों के लिए बहुधा पथ्य की व्यवस्था करती हैं। वैद्य तो केवल यह बताकर चला जाता है कि बालक को कौन-सा पथ्य देना है। अब यह भार तो माँ पर आ जाता है कि वह बालक को समझा-बुझाकर अथवा ललचाकर उसे पथ्य लेने के लिए बाध्य करे। कौसल्या अम्बा उसी भूमिका को सम्पन्न करना चाहती हैं, अतः भरत से किए जाने वाले उनके अनुरोध में अगाध वात्सल्य भरा हुआ था। श्रीभरत ने बड़ी नम्रता और दृढ़ता से प्रस्ताव का उत्तर दिया।

उनके शब्दों में मिठास तो थी ही, पर वह उनकी धर्मधुरन्धरता के सर्वथा अनुरूप था :

भरतु कमल कर जोरि, धीर धुरंधर धीर धर।
बचन अमिअ जनु बोरि, देत उचित उत्तर सबहि॥

उनके एक-एक का वाक्य से धर्मतत्त्व प्रकट होता है, परन्तु उन्होंने माँ को जो उत्तर दिया उसमें स्नेह-मिश्रित उलाहना भी था, "माँ ! पथ्य के पहले रोग का निदान और औषधि की व्यवस्था होनी चाहिए। पथ्य तो उसके बाद की वस्तु है। क्या तुम्हें विश्वास है कि रोग का सही निदान होगया है या उस रोग के लिए समुचित औषधि दी गई है ? मुझे विश्वास है कि सही स्थिति समझ लेने के बाद तुम मुझसे राज्य लेने का अनुरोध नहीं करोगी। क्या किसी को भी यह सह्य हो सकता है कि उसके बेटे को सुरा पिलाई जाय और उसी से इस कार्य में समर्थन प्राप्त किया जाय ? पर आज यहाँ यही तो हो रहा है" :

ग्रह ग्रहीत पुनि बात बस, तेहि पुनि बीछी मार।
तेहि पिआइअ बारुनी, कहहु काह उपचार॥

इन पंक्तियों में श्रीभरत ने परिस्थितियों का सच्चा विश्लेषण और रोग का निदान प्रस्तुत कर दिया। श्रीभरत को यह देखकर बड़ा आघात लगा कि इतने बड़े महापुरुष अनजाने में अन्याय का समर्थन कर रहे हैं। मन्थरा और कैकेयी ने मिलकर जो षड्यन्त्र रचा है, उसकी पूर्ति का प्रयास तो सचमुच षड्यंत्र को प्रोत्साहन देना है। यदि बुरे व्यक्तियों यह दिखायी दे कि प्रारम्भिक विरोध के बाद धर्मात्माओं से भी वे अपनी बात मनवाने में समर्थ हो जाएँगे तो इससे बढ़कर उनके लिए क्या वरदान हो सकता है ? जिसे गुरु वशिष्ठ महाराज दशरथ की आज्ञा कहते हैं वह भरत की दृष्टि में मन्थरा का आदेश है; क्योंकि कैकेयी ने जो कुछ किया उसके पीछे मन्थरा की प्रेरणा विद्यमान थी। आज अयोध्या के सारे महापुरुष दासी मन्थरा के संकल्प से संचालित हों और वह भी धर्म के नाम पर, फिर भला इससे बढ़कर बुद्धि की विडम्बना क्या होगी ? 'ग्रह ग्रहीत' शब्द के द्वारा श्रीभरत ने यही संकेत दिया। जैसे विपरीत ग्रह-दशा आने पर बुद्धिमान् व्यक्तियों की बुद्धि भी परिवर्तित हो जाती है, लगता है यह दशा पिताजी का प्राण लेकर संतुष्ट नहीं है, अपितु वह सारी अयोध्या का सर्वनाश करने पर तुली हुई है। और हमारे त्रिकालज्ञ गुरुदेव जो साक्षात् विवेक-सागर हैं, वे इस ग्रह-दशा को नहीं पहचान पा रहे हैं। मन्थरा को मानस में 'साढ़े साती शनि' के रूप में चित्रित किया गया है :

सजि प्रतीति बहुबिधि गढ़ि छोली।
अवध साढ़ साती तब बोली ।।

वह मन्द ग्रह (शनि का ही एक नाम मन्द भी है) कैकेयी के ऊपर आया और उन्हें भी अपनी इच्छानुकूल संचालित करने में समर्थ हुआ। कैकेयी के कार्यों ने राहु बनकर असमय में महाराज दशरथ-रूपी सूर्य को ग्रस लेने में सफलता पायी :

अँथयउ आजु भानुकुल-भानू।
धरम अवधि गुन रूप निधानू ।।
× ×
ग्रसिह न कैकइ करतब राहू।

जहाँ शनि और राहु मिलकर अनर्थ की सृष्टि कर रहे हैं, वहाँ 'गुरु ग्रह' की अनुकूलता से कल्याण की आशा की जा सकती थी। किन्तु जब वे भी उन्हीं के पक्ष में मिल जाएँ तो कल्याण की आशा कैसे की जा सकती है ? :

गुर बिबेक सागर जगु जाना।
जिन्हहि बिस्व कर बदर समाना ।।
मो कहँ तिलक साज सजि सोऊ।
भएँ बिधि बिमुख बिमुख सबु कोऊ ।।

शनि और राहु पाप-ग्रह हैं। बृहस्पति (जिनका दूसरा नाम 'गुरु' है) शुभ ग्रह हैं। दोनों में मैत्री संभव नहीं। श्रीभरतजी का तात्पर्य यह था, कि मुझे पूरा विश्वास था कि कैकेयी और मन्थरा के षड्यंत्र का विरोध गुरुदेव के द्वारा होगा, किन्तु अब तो वे भी उसी संकल्प का समर्थन कर हैं। तो क्या मैं यह समझ लूँ कि ब्रह्मा ही विपरीत हो गए हैं ? यहाँ भी उनका एक साहित्यिक कटाक्ष था। वशिष्ठ ने अभी पितृ-भक्ति का उपदेश दिया था। वे स्वयं भी ब्रह्मा के पुत्र हैं। श्रीभरत का व्यङ्ग यह था कि ब्रह्मा मेरे प्रतिकूल हैं। लगता है, पितृ-भक्ति के कारण ही गुरुदेव भी उनकी इच्छा का पालन करने के लिए प्रतिकूल हो गए हैं। ग्रह प्रतिकूल होने पर व्यक्ति ग्रह-शान्ति कराता है। श्रीभरत यहाँ माँ को भी उलाहना देते हैं। मैं तो समझता था कि माँ ग्रह-शान्ति कराने का प्रयास करेंगी, किन्तु वे तो स्वयं ही ग्रहों को उद्दीप्त कर रही हैं। अतः मुझे तो लगता है कि अब 'विमुख सब कोऊ' की स्थिति आ गई है।

फिर श्रीभरत ने रोग का निदान प्रस्तुत किया। कफ, बात और पित्त ही स्वस्थता और अस्वस्थता के मूल केन्द्र माने जाते हैं। त्रिदोष का साम्य स्थिति में

रहना ही स्वस्थता है और उनका विषम हो जाना ही अस्वस्थता है :

रोगस्तु धातुवैषम्यं धातुसाम्यं अरोगता।

इनमें से इस समय अयोध्या वातरोग-ग्रस्त है। मानस रोगों में काम को 'वात', क्रोध को 'पित्त' और लोभ को 'कफ' के रूप में चित्रित किया गया है :

काम बात कफ लोभ अपारा।
क्रोध पित्त नित छाती जारा॥

काम ही बात है। त्रिदोष में सर्वाधिक शक्तिशाली 'वात' ही माना जाता है, क्योंकि आयुर्वेद की दृष्टि में पित्त और कफ दोनों ही पंगु हैं। वायु की सहायता से ही ये चल पाते हैं। अतः वात जिधर जाता है, कफ और पित्त भी उधर ही प्रवाहित होते हैं :

पित्तं पंगु कफः पंगु पंगवो मलधातवः।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत्॥

मन में भी ठीक यही स्थिति है। काम ही क्रोध और लोभ का नियामक है। गीता में भी 'कामात्क्रोधोऽभिजायते' (काम से ही क्रोध उत्पन्न होता है) कहकर इसी तथ्य की पुष्टि की गयी है। कैकेयी के अन्तःकरण की राज्य-कामना और महाराज श्रीदशरथ के अन्तःकरण की काम-वासना दोनों ने मिलकर जिस वात-रोग की सृष्टि की, उसकी वास्तविक चिकित्सा क्या है ? आयुर्वेदशास्त्र में वात-रोग की चिकित्सा ही सबसे अधिक कठिन मानी गयी है। 'वातज' विकारों में शरीर-पीड़ा भी मुख्य है। पीड़ा की अनुभूति होने पर कुछ व्यक्ति उसे भुलाने के लिए मद्यपान करते हैं। इस सुरापान से रोगी को कुछ समय के लिए पीड़ा से मुक्ति मिल जाती है। किन्तु यह लक्षणोंके उपशमन की चेष्टा है, रोग की चिकित्सा नहीं। अयोध्या में भी महाराजश्री की मृत्यु और श्रीराघवेन्द्र के वन-गमन से सारी प्रजा पीड़ा-संत्रस्त है। उसके निवारण के लिए गुरुदेव भरत को सिंहासनासीन होने की प्रेरणा देते हैं। राज्य-सत्ता की तुलना सुरा से की गयी है :

कही तात तुम्ह नीति सुहाई।
सब तें कठिन राजमदु भाई॥
जो अचवँत नृप मातहि तेई।

× ×

अल्प मात्रा में सुरा पीड़ा का निवारण करती है। किन्तु उसकी सबसे बड़ी

समस्या यह है, कि व्यक्ति सीमा में रहकर उसका सेवन कर ही नहीं सकता है। क्रमशः सुरापायी उन्मत्त होता जाता है। ठीक यही स्थिति जीवन में काम की है। संयत मात्रा में काम का सेवन मानसिक आकांक्षाओं के उपशमन के लिए लाभदायी है। किन्तु सुरा की ही भाँति काम-वासना जीवन में तृप्त होना जानती ही नहीं है। राज्यसत्ता का उपभोग यदि नियन्त्रित रूप में किया जाए तो वह समाज के संरक्षण में सहायक है। किन्तु सत्ता पाकर व्यक्ति संयत रह ही नहीं पाता है। इसलिए सत्ता भी सुरा के समान ही है। और यहाँ तक कह दिया गया कि संसार में ऐसा कोई व्यक्ति ही उत्पन्न नहीं हुआ है, जिसे प्रभुता पाकर मद न हुआ हो :

नहिं कोउ अस जनमा जग माहीं।
प्रभुता पाइ जाहि मद नाहीं।।

श्रीभरत ने ब्रह्मर्षि वशिष्ठ की चिकित्सा-पद्धति की आलोचना इसी दृष्टि से की कि उसमें रोग के मूल कारण को विनष्ट करने की चेष्टा नहीं की गयी थी। उसमें रोग के लक्षणों के तात्कालिक उपशमन-मात्र का ही प्रयास था। अनाथ प्रजा भरत को राजा के रूप में पाकर पीड़ा को भूल जाए, यही उनका लक्ष्य था। जब वैद्य रोग का सही निदान न कर सके, तब वह उचित औषधि का निर्णय भी नहीं कर सकता। क्या ऐसी स्थिति में उस वैद्य के बताए गए पथ्य पर विश्वास किया जाना चाहिए? और यदि राजा बनकर भोगों का सेवन पथ्य है, तो फिर कुपथ्य क्या है? मानस रोगों के प्रसंग में उनके निराकरण की जो चिकित्सा-पद्धति बतायी गयी है, उसमें विषय-सेवन के सतत अभाव को ही पथ्य बताया गया है :

सद्गुरु बैद बचन बिस्वासा।
संजम यह न बिषय कै आसा।।

श्रीभरत की दृष्टि में गुरुदेव न केवल रोग और औषधियों का निर्णय करने में असफल रहे, अपितु कुपथ्य को पथ्य के रूप में देने का प्रयास कर रहे थे। इसीलिए श्रीभरत का कौसल्या अम्बा से यह उलाहना था कि बिना सोचे-समझे वे जिस पथ्य का आग्रह कर रही हैं, वह कितना घातक सिद्ध हो सकता है।

पर श्रीभरत की दृष्टि में अभी एक समस्या और शेष थी—'तेहि पुनि बीछी मार'। बेचारा वात-रोगी ग्रह-ग्रस्त तो था ही, उस पर बिच्छू ने अलग डंक मार दिया। प्रभु के वियोग का समाचार लोगों को वृश्चिक-दंश के समान ही प्रतीत हुआ :

नगर ब्यापि गइ बात सुतीछी।
छुअत चढ़ी जनु सब तन बीछी ।।

बिच्छू के विष का यह स्वभाव है कि वह नीचे से ऊपर की चढ़ता जाता है। और ज्यों-ज्यों ऊपर चढ़ता है, पीड़ित व्यक्ति को अपार कष्ट का अनुभव होता है। श्रीराघवेन्द्र के वन-गमन के समाचार की प्रतिक्रिया भी यही थी। पुरवासी असह्य पीड़ा में छटपटा रहे हैं। यदि उस पीड़ा के निवारण के लिए सुरापान की सम्मति दी जाए, तो उसके द्वारा उस असहनीय पीड़ा का निवारण नहीं हो सकता है। साधारण पीड़ा में सुरा पीकर व्यक्ति भले ही अपने को भुलावा देने में सफल हो जाए, किन्तु वृश्चिक-दंश की पीड़ा तो विष के उतरने से ही मिट सकती है। ऐसी स्थिति में गुरु वशिष्ठ समस्या का सही विश्लेषण कर पाने में पूरी तरह असफल रहे हैं—श्रीभरत की यह दृढ़ धारणा थी।

इसके स्थान पर श्रीभरत ने अपनी चिकित्सा प्रस्तुत की। उनकी दृष्टि में श्रीराम के चरणों का साक्षात्कार ही सारी समस्या मा समाधान है :

आपनि दारुन दीनता, कहउँ सबहि सिरु नाइ।
देखे बिनु रघुनाथ, पद, जिय कै जरनि न जाइ ।।

समस्त ग्रह काल से सम्बद्ध हैं। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में जो ग्रह-दशाएँ आती हैं, उनका समय निर्धारित है। कोई ग्रह अपने सुनिश्चित काल से एक क्षण भी अधिक नहीं रह सकता। ग्रह की अनुकूलता और प्रतिकूलता कभी सुनिश्चित नहीं होती। किन्तु कालातीत प्रभु के समक्ष ग्रह-दशा का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। इसलिए उनके जन्म के समय सूर्य काल-मर्यादा को विस्मृत कर देता है :

मास दिवस कर दिवस भा, मरमु न जानइ कोइ।
रथ समेत रबि थाकेउ, निसा कवन बिधि होइ ।।

श्रीभरत की दृष्टि में महाराज श्रीदशरथ ने अयोध्या को अपना राज्य मान-कर ही ग्रह-दशा के आने का मार्ग खोल दिया था :

हरषि हृदय दसरथपुर आई।
जनु ग्रह दसा दुसह दुखदाई ।।

अतः अयोध्या को पुनः रामपुर बनाकर वे सबको ग्रह-मुक्त कर सकते हैं। "मिटहिं कुयोग राम फिरि आए" में भी उनका यही संकेत था।

यदि काम वात है, तो उसके निवारण के उपाय भी श्रीराम ही हैं। उनके

हृदय में आते ही काम समाप्त हो जाता है :

जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम।
तुलसी कबहुँ न रहि सकैं, रबि रजनी इक ठाम।।

श्रीराघवेन्द्र के वन-गमन से लोगों को वृश्चिक-दंश जैसी जो अपार पीड़ा हुई है, उसे प्रभु को पुनः अयोध्या में लाकर दूर किया जा सकता है। इसलिए उनका यह कहना कि राघवेन्द्र का दर्शन ही समस्त समस्याओं का समाधान है, सर्वथा भावना और युक्ति के अनुकूल जान पड़ता है।

श्रीभरत के द्वारा बतायी गयी चिकित्सा-पद्धति गुरु वशिष्ठ द्वारा प्रतिपादित चिकित्सा-पद्धति से भिन्न नहीं है। उन्होंने स्वयं महाराज श्रीदशरथ से यह कहा था—"राजन्! जिनसे विमुख होकर मनुष्य को पश्चात्ताप करना पड़ता है, जिनके भजन के बिना मनुष्य के मन की जलन कभी शान्त नहीं हो सकती, पुनीत प्रेम का अनुगमन करने वाले वे स्वामी राम ही तुम्हारे पुत्र के रूप में अवतरित हुए हैं" :

सुनु नृप जासु बिमुख पछताहीं।
जासु भजन बिनु जरनि न जाहीं।।
भयउ तुम्हार तनय सोइ स्वामी।
राम पुनीत प्रेम अनुगामी।।

श्रीभरत किसी नये मत के प्रवर्तन का दावा नहीं करते। उन्होंने तो केवल गुरुदेव के द्वारा प्रतिपादित मत को उनके समक्ष प्रकट कर दिया। इस चिकित्सा-पद्धति का लाभ तत्काल सामने आ गया। प्रत्येक अयोध्यावासी भरत के निर्णय की सराहना करने लगा। इन प्रशंसकों में गुरु वशिष्ठ, कौसल्या अम्बा और मन्त्री भी थे :

मातु सचिव गुरु पुर नर नारी।
सकल सनेहँ बिकल भए भारी।।
भरतहि कहहिं सराहि सराही।
राम प्रेम मूरति तनु आही।।

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

मीन पीन पाठीन पुराने।
भरि भरि भार कहारन्ह आने॥

× ×

राम सखा सुनि स्यंदनु त्यागा।
चले उतरि उमगत अनुरागा॥
गाउँ जाति गुहँ नाउँ सुनाई।
कीन्ह जोहारु माथ महि लाई॥
करत दंडवत देखि तेहि, भरत लीन्ह उर लाइ।
मनहुँ लखन सन भेंट भइ, पेमु न हृदयँ समाइ॥

अर्थ—कहार मोटी-मोटी और पुरानी मछलियाँ बहँगियों में भरकर ले आए।

गुरु वशिष्ठ के द्वारा यह सुनते ही कि 'यह श्रीराम के सखा हैं', श्रीभरत रथ त्यागकर उतर पड़े और बड़े प्रेम में भरकर आगे बढ़े। निषादराज ने अपना नाम, जाति और गाँव बताकर पृथ्वी पर मस्तक टेककर प्रणाम किया। उन्हें दंडवत् में करते देखकर श्रीभरत ने उन्हें छाती से लगाया। उस समय उनके हृदय में इतना प्रेम उमड़ा कि हृदय में समा नहीं रहा है। उन्हें ऐसा लगा मानो लक्ष्मण भैया से ही भेंट हो गयी है।

सेना-सहित श्रीभरत के आगमन का समाचार सुनकर निषादराज व्याकुल हो उठे। प्रभु ने सखा कहकर उन्हें जो सम्मान दिया था, उस नाते यह चिंता उनके लिए स्वाभाविक ही थी। श्रीराम के प्रति स्नेह के कारण उन्हें यह आशंका सताने लगी कि भरत प्रभु पर आक्रमण करने के लिए ही सेना लेकर जा रहे हैं। निषादराज का संशय तर्क के विपरीत भी नहीं था। किसी को मनाने के लिए जाते समय शस्त्र का परित्याग कर दिया जाता है, किन्तु श्रीभरत के साथ तो चतुरंगिणी सेना थी। यात्रा में पथिकों की सुरक्षा के लिए भी थोड़े सैनिकों की अपेक्षा होती है। किन्तु उसके लिए सेना के चारों अंगों को ले जाने की कोई आवश्यकता नहीं

थी। श्रीभरत की भावना-पद्धति भी कुछ इतनी भिन्न थी कि साधारण व्यक्तियों का तो प्रश्न ही क्या, विशिष्ट-से-विशिष्ट व्यक्ति के लिए भी उसे समझ पाना अत्यन्त दुष्कर था। राजर्षि जनक ने अपनी असमर्थता की स्वीकृति के साथ-साथ असंदिग्ध शब्दों में यह घोषित कर दिया कि मैं ही नहीं, श्रीभरत की महिमा को केवल भगवान् राम को छोड़ और कोई जानता ही नहीं। किन्तु वे भी यदि उसका वर्णन करना चाहें, तो नहीं कर सकते हैं :

भरत अमित महिमा सुनु रानी।
जानहिं रामु न सकहिं बखानी।।

यदि श्रीनिषादराज भरत को समझने में असफल रहे, तो यह अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।

सेना का प्रयोग तो युद्ध के लिए सभी करते हैं, किन्तु प्रभु को मनाने के लिए सेना के सदुपयोग की कल्पना तो श्रीभरत ही कर सकते थे। हिंसा के साधन को प्रेम के साधन के रूप में परिवर्तित कर देना भरत के जीवन-दर्शन की अनुपमेयता का परिचय देता है। श्रीभरत के अन्तर्मन में यह अभिलाषा थी कि प्रभु का राज्याभिषेक अयोध्या में न होकर चित्रकूट में हो। यह भरत की अतिशय भावुकता थी। उन्हें प्रतीत हो रहा था कि अयोध्या की भूमि इस महान् कार्य के लिए उपयुक्त नहीं है। जिस पुरी में प्रभु को राज्य देने की घोषणा करने के पश्चात् निष्कासन का आदेश मिला हो, वह उनकी दृष्टि में पूज्य हो ही नहीं सकती थी। उनकी भावना यह थी कि अयोध्यापुरी की भूमि को इस आदेश के विरुद्ध विरोध-प्रदर्शन के लिए धँसक जाना चाहिए था। उसने ऐसा नहीं किया। इसका तात्पर्य है कि उसके अन्तःकरण में श्रीराम के प्रति सच्चा अनुराग नहीं था। प्रभु ने उसके अन्तर्मन की दुर्बलता को जानकर उसका परित्याग कर दिया। कौसल्या अम्बा ने भी श्रीभरत की भावना का ही प्रतिनिधित्व श्रीराघवेन्द्र के समक्ष इन शब्दों में किया था :

बड़भागी बनु अवध अभागी।
जो रघुबंस-तिलक तुम्ह त्यागी।।

श्रीभरत चित्रकूट से लौटने के बाद भी पुरी के प्रति अपनी उपेक्षा-वृत्ति नहीं छोड़ पाए, इसीलिए उन्होंने नन्दिग्राम में रहने का निर्णय किया। गुरु वशिष्ठ से आदेश लेते हुए उनके अन्तर्मन में यही भावना विद्यमान रही होगी कि जब तक इस पुरी में प्रभु का पदार्पण नहीं हो जाता है, तब तक इस भूमि में मैं निवास नहीं करूँगा। इसीलिए अयोध्या की अभागी भूमि को वे प्रभु के राज्या-

भिषेक के उपयुक्त नहीं मान रहे थे। चित्रकूट की भूमि ही उनकी दृष्टि में इस कार्य के लिए सर्वथा उपयुक्त थी। प्रतिकूल परिस्थितियों में जिस भूमि ने प्रभु का स्वागत किया, वही सच्चे अर्थों में स्नेहमयी है। कुसमय में ही स्नेह की परीक्षा होती है :

बिपति काल कर सतगुन नेहा।
श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥

युगों बाद श्रीभरत की भावना का प्रतिनिधित्व तुलसी के मित्र प्रसिद्ध कवि रहीम ने भी किया था। दिल्लीश्वर के रुष्ट हो जाने पर रहीम ने अपने निष्कासन की अवधि को चित्रकूट की पावन भूमि में ही व्यतीत किया। लोगों के द्वारा यह जिज्ञासा किए जाने पर कि उन्होंने अपने आवास के लिए चित्रकूट का ही चुनाव क्यों किया है, वे भावुकता-भरे स्वर में बोल उठे थे, "कोसलेन्द्र राम ने विपत्ति पड़ने पर जिस भूमि का आश्रय लिया, मैं भी उसी का सहारा क्यों न लेता ?" :

चित्रकूट महँ रमि रहे, रहिमन अवध नरेस।
जा पर बिपदा परत है, सो आवत एहि देस॥

चतुरंगिणी सेना भी वे इसी उद्देश्य से लेकर जा रहे थे कि यदि प्रभु ने अयोध्या के स्थान पर चित्रकूट को ही राजधानी बनाने का विचार किया हो तो यह सारा समाज भी सेना-सहित वहीं बस जाएगा। सेना ले जाते हुए उनके अन्तर्मन में यह भावना भी विद्यमान रही होगी कि यह यात्रा यदि सेना के साथ की जाए तो प्रभु के मन में पुनः मुझे इस युद्ध में जिताने का संकल्प जाग्रत हो जाएगा। किन्तु भरत की भावना की इन गहराइयों को निषादराज स्पर्श भी नहीं कर पाए। इसीलिए तो मानस में यह दावा किया गया है कि भरत के स्वभाव को समझना वेदों के लिए भी कठिन है :

भरत सुभाउ न सुगम निगमहूँ।
लघु मति चापलता कबि छमहूँ॥

श्री निषादराज को दृढ़ निश्चय हो गया था कि भरत कपट-भावना से प्रेरित होकर ही चित्रकूट जा रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में उनका क्या कर्तव्य है, इस विषय में उनके मन में कोई द्वन्द्व नहीं था। वे सच्चे वीर थे, उनका स्नेह प्रतिकूल परिस्थितियों में परिवर्तित होने वाला नहीं था। इसलिए उन्होंने भरत के साथ युद्ध करने का संकल्प किया। अपने जाति-बन्धुओं को एकत्रित कर उन्होंने जो भाव-भरा भाषण दिया, वह भावना के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा। एक

छोटे-से गाँव का चौधरी चतुरंगिणी सेना को चुनौती देने का जो साहस कर रहा था, उसके पीछे राम के प्रति अनन्य निष्ठा और प्रेम का बल विद्यमान था। उन्होंने शरीर की अनित्यता का प्रतिपादन करते हुए पवित्र उद्देश्य के लिए प्राणों को अर्पण करने की प्रेरणा अपने बन्धुओं के मन में जाग्रत कर दी। भले ही उनके पास अस्त्र-शस्त्र न रहे हों, पर वे आदर्श के अमोघ शस्त्र से सुसज्जित थे। उनके देवता भी अनोखे थे। उन्होंने युद्ध के लिए प्रस्थान करते हुए 'प्रभु पद पनहीं' का स्मरण किया। उनके उत्साह और भावना का चित्रण तुलसी ने इन रसमयी पंक्तियों में प्रस्तुत किया है :

भलेहि नाथ सब कहहिं सहरषा।
एकहि एक बढ़ावइ करषा॥
चले निषाद जोहारि जोहारी।
सूर सकल रन रूचइ रारी॥
सुमिरि राम पद पंकज पनहीं।
भाथीं बाँधि चढ़ाइन्हि धनहीं॥
अँगरी पहिरि कूँड़ि सिर धरहीं।
फरसा बाँस सेल सम करहीं॥
एक कुसल अति ओढ़न खाँड़े।
कूदहि गगन मनहुँ छिति छाँड़े॥
निज निज साजु समाजु बनाई।
गुह राउतहि जोहारे जाई॥

जो व्यक्ति जिस देवता की आराधना करता है, तद्रूपता के कारण उसमें भी वे ही गुण आ जाते हैं। इसी भावना से प्रेरित होकर निषादों ने 'राम पद पंकज पनहीं' को अपना आराध्य चुना था। पादत्राण चरणों में रहकर काँटों से सुरक्षा प्रदान करते हैं। किन्तु पादत्राण बनने के लिए पशु को अपने जीवन का बलिदान करना पड़ता है। उन निषादों को यह ज्ञात था कि इस युद्ध में उनकी मृत्यु अवश्यम्भावी है, पर मरकर ही तो वे अपने आराध्य का अनुगमन कर सकते हैं।

युद्ध के लिए वे सहर्ष प्रस्तुत हो गए। ढोल बजने लगा, किन्तु उन्हीं क्षणों में छींक ने उन्हें संशय-ग्रस्त बना दिया। यदि वह पराजय की सूचक होती तो उन्हें कोई आपत्ति न होती। वे तो मृत्यु का संकल्प लेकर ही आगे बढ़ रहे थे—किन्तु एक वृद्ध ने इस छींक से यह परिणाम निकाला कि युद्ध नहीं होगा। शकुनशास्त्र इन धारणाओं पर अवलम्बित है कि प्रकृति की कोई क्रिया निरर्थक नहीं होती। प्रकृति विराट् का ही स्वरूप है और व्यक्ति विराट् का एक अंग है। जैसे शरीर के

किसी अंग से सम्पन्न होने वाली क्रिया का प्रभाव सारे शरीर पर पड़ता है, उसी प्रकार व्यक्ति के द्वारा होने वाली क्रियाओं का प्रकृति अनुभव करती है और अपनी प्रतिक्रिया को भी किसी-न-किसी रूप में अभिव्यक्त करती है। व्यक्ति को चाहिए कि वह प्रकृति के संकेत को सही अर्थों में समझकर उसके आदेश का पालन करे। यह संदेश प्रकृति दो रूपों में देती है। कभी तो यह बाह्य प्रकृति में परिलक्षित होता है और कभी उस व्यक्ति के भीतर से ही कोई संदेश प्राप्त होता है। जो लोग उसकी उपेक्षा करते हैं, वे दण्ड के भागी बनते हैं। कभी लोग यह कहकर शकुन-शास्त्र का उपहास करते हैं कि यदि शकुन वास्तविक होते तो प्रत्येक देश में उनकी अलग-अलग परिभाषाएँ न होतीं। यदि बिल्ली भारत में अपशकुन और इंग्लैण्ड में शकुन का प्रतीक मानी जाती है तो इसका तात्पर्य भी यही है कि शकुन-सम्बन्धी धारणा किसी सिद्धान्त पर आधारित न होकर केवल मिथ्या कल्पनाओं पर ही स्थित है। किन्तु यह तर्क यथार्थ नहीं है। जैसे भिन्न-भिन्न देशों की भाषाओं से भाषा की अयथार्थता नहीं सिद्ध होती है, उसी प्रकार प्रकृति के अलग-अलग संकेत उन्हें अवास्तविक नहीं सिद्ध कर देते हैं। प्रकृति भिन्न-भिन्न देशों के लोगों से उनकी ही भाषा में वार्त्तालाप करती है। इसलिए शकुन-शास्त्र का अपना महत्त्व है। यह बात भिन्न है कि व्यक्ति उसके अतिरेक में असन्तुलित हो जाए। शकुन-शास्त्र ने अपनी सीमाओं को स्वीकार किया है। अपवादों की स्वीकृति भी वह देता है। अतः उसका उपयोग करते समय इन पर भी ध्यान रखा जाना चाहिए। शकुन-शास्त्र ने यात्रा-काल के समय जिन शकुनों का वर्णन किया है, उसके साथ दूरी की सीमा भी निर्धारित कर दी है। क्योंकि यात्रा के पूरे मार्ग में कोई प्रतिकूल चिह्न न मिले, यह असम्भव है, अतः कुछ पग तक ही इन्हें महत्त्व दिया जाना चाहिए। किन्तु मैं एक सज्जन को जानता हूँ जो पूरी यात्रा में इन्हें महत्त्व देते हैं और बहुधा अनेक यात्राओं में बीच से लौट आते हैं। इस प्रकार के कार्य शकुन से सम्बद्ध न होकर सनक से सम्बन्धित होते हैं। इनका निराकरण किया जाना चाहिए।

निषादों को यह सूचना शकुन के किसी बाहरी प्रतीक से न मिलकर अपनी ही नासिका के द्वारा प्राप्त हुई। निषादराज भावना के आवेश में भगवान् राम द्वारा की गयी श्रीभरत की सराहना को भी भूल गए थे। अतः अन्तर्मन ने ही उसका विरोध करने के लिए छींक का आश्रय लिया। छींक के द्वारा जो संकेत प्राप्त हुआ था, उसकी व्याख्या एक वृद्ध पुरुष ने की थी। वृद्ध विचार और धैर्य का प्रतीक है। अभी निषादराज ने शौर्य-भरी वाणी का प्रयोग किया था, किन्तु शौर्य के अतिरेक ने उनके धैर्य को समाप्त नहीं कर दिया था। इसलिए वृद्ध पुरुष की व्याख्या का उन्होंने समादर किया। सहसा किसी कार्य में प्रवृत्त हो जाने की

निन्दा की। उनका यह सन्तुलन रामभद्र की मैत्री के अनुरूप था :

बूढ़ एकु कह सगुन बिचारी।
भरतहि मिलिअ न होइहि रारी ।।
रामहि भरतु मनावन जाहीं।
सगुन कहइ अस बिग्रहु नाहीं ।।
सुनि गुह कहइ नीक कह बूढ़ा।
सहसा करि पछितांहि बिमूढ़ा ।।

किन्तु निषादराज अब भी भरत की ओर से पूरी तरह निश्चिन्त नहीं थे। उनका प्रस्ताव यह था कि भरत के मनोभाव की परीक्षा लेने के बाद ही उनके प्रति व्यवहार का निर्णय किया जाना चाहिए। उन्होंने अपने बन्धुओं को यह आदेश दिया कि वे घाट पर एकत्र रहें, इस बीच मैं भरत से मिलकर उनका मर्म जानने का प्रयास करूँगा, उसके बाद ही व्यवहार के विषय में निर्णय किया जाएगा। यदि वे मित्रता का भाव लेकर जा रहे हैं, तो हम उनका सम्मान करेंगे; पर यदि वे प्रेम-प्रदर्शन मात्र के लिए जा रहे हैं, तो हम उनकी पूरी तरह उपेक्षा करेंगे। शत्रुता का निर्णय होने पर हम उन्हें युद्ध की चुनौती देंगे। उनसे यह पूछा जा सकता था कि आप किस कसौटी के आधार पर भरत की भावनाओं को परखने की चेष्टा करेंगे? इसके उत्तर में निषादराज का यह कथन था कि वैर और प्रीति छिपाने से नहीं छिपते हैं। स्नेह और स्वभाव के द्वारा ही व्यक्ति की परख हो जाती है :

गहहु घाट भट समिटि सब, लेउँ मरमु मिलि जाइ।
बूझि मित्र अरि मध्य गति, तस तब करिहउँ आइ ।।
लखब सनेह सुभायँ सुहाएँ।
बैरु प्रीति नहिं दुरइँ दुराएँ ।।

श्रीभरत का स्वागत करने के लिए तीन प्रकार की वस्तुएँ एकत्रित की गईं : १. कन्द-मूल-फल, २. खग-मृग, ३. मछलियाँ। भगवान् राम के शुभागमन पर निषादराज ने जो स्वागत किया था, उसमें भेंट के रूप में केवल कन्द-मूल-फल ले जाया गया था। परन्तु श्रीभरत के स्वागत में जो वस्तुएँ एकत्र की गयीं, उनमें विविधता थी, और उस विविधता में बहुत बड़ा विरोधाभास भी था। यदि राजा के राजसिक उद्देश्य का लक्ष्य सामने होता तो खग, मृग और मछलियों को ही भेंट के रूप में प्रस्तुत किया जाना चाहिए था। कन्द-मूल-फल के साथ इन पदार्थों की कोई संगति न थी। इसका तात्पर्य यही है कि यह कार्य स्वागत की अपेक्षा परीक्षा

भावना से ही अधिक प्रेरित था। प्राचीन मनीषियों ने भोजन से मानव-प्रकृति का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध माना है और यह ठीक भी है। मांसाहारी व्यक्ति क्रूरता स्वीकार किए बिना मांसाहार कैसे कर सकता है। जो लोग सब में जीव की विद्यमानता का तर्क उपस्थित करते हुए मांसाहार का समर्थन करते हैं, वे भी मनुष्य के मांस का आहार करने वाले को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। यदि जीव की समानता के तर्क को स्वीकार किया जाए, तो आदमखोर को भी घृणा की दृष्टि से नहीं देखा जाना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि कठोरता और कोमलता भी सापेक्ष्य वस्तु है। यदि मनुष्य-शरीर का भक्षण करने की तुलना में पशु-मांस का आहार सभ्यता का प्रतीक है तो अन्नाहार मांसाहार की तुलना में अधिक कोमलताऔर शिष्टता का प्रतीक माना जाना चाहिए। इसी तर्क के आधार पर कन्द-मूल-फल में सात्त्विकता की अभिव्यक्ति होती है। किन्तु आदर्श तो इसकी अपेक्षा भी आगे है। तपस्या के विविध प्रसंगों में तपस्वियों के द्वारा कन्द-मूल-फल के परित्याग का भी वर्णन आता है :

करहिं अहार साक फल कन्दा।
सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानन्दा॥

× ×

पुनि हरि हेतु करन तप लागे।
बारि अधार मूल फल त्यागे॥

पार्वती के प्रसंग में तपस्या के ऐसे काल का वर्णन आता है जब पार्वती केवल रूखे बेलपत्रों का भोजन करती थीं :

बेल पाति महि परइ सुखाई।
तीन सहस सम्बत सोइ खाई॥

सूखे पत्तों के भोजन का तात्पर्य भी यही था कि वृक्ष से पत्तों को तोड़ने में भी हिंसा-वृत्ति विद्यमान है। किन्तु उसके पश्चात् तो पार्वती ने सूखे पत्तों का भी परित्याग कर दिया था :

पुनि परिहरेउ सुखानेउ परना।
उमहि नाम तब भएउ अपरना॥

हरित पत्र तोड़कर खाने में तो हिंसा-वृत्ति समझ में आती है। परन्तु जो पत्ते सूखकर स्वयं गिर गये थे, उनके परित्याग की क्या आवश्यकता थी? सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर इसमें भी मानसिक हिंसा की यत्किंचित् वृत्ति अवशिष्ट है।

क्योंकि सूखे पत्ते खाने वाले के मन में यह संकल्प तो होगा ही कि वृक्ष से पत्ते झड़ें। साधना के क्रमिक विकास में आदर्श की उपलब्धि सरल नहीं है। साधारण व्यक्ति के लिए इतना सूक्ष्म चिन्तन और उसे जीवन में उतार पाना सम्भव नहीं है। किन्तु यथासम्भव हिंसा का परित्याग तो किया ही जाना चाहिए। इसलिए प्राचीन काल में मांसाहार का प्रचार भले ही रहा हो, परन्तु उस समय भी उसे सात्त्विकता का प्रतीक नहीं माना जाता था। इसलिए यद्यपि श्रीराम धनुर्धर के रूप में वन-यात्रा कर रहे थे, फिर भी निषादराज उनके लिए केवल कंद-मूल-फल लेकर ही जाते हैं। यह राम की सात्त्विकता के प्रगाढ़ विश्वास पर ही आधारित था।

श्रीभरत की सात्त्विकता अभी उनके मन में संदिग्ध थी। अतः उनके लिए प्रस्तुत की गयी भेंट में हिंसा से उपलब्ध वस्तुएँ भी विद्यमान थीं। प्राचीन परंपरा यह थी कि राजा के समक्ष पहुँचने पर सबसे पहले भेंट ही प्रस्तुत की जाती थी। यह राजा के प्रति सम्मान का प्रतीक था। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि राजा की दृष्टि सर्वप्रथम उपहार पर ही जाती थी। निषादराज के अन्तर्मन में यह भावना विद्यमान थी कि भेंट अर्पित करते समय वे ध्यान से श्रीभरत की दृष्टि की ओर देखेंगे, तब उनके नेत्रों में झाँककर उनके मानसिक मनोभाव को समझना सरल होगा। जो वस्तु व्यक्ति को प्रिय होती है, उसे देखते ही आँखों में लालसा और चमक का मिला-जुला भाव आ जाता है। निषादराज का यह निश्चय था कि यदि वे तीर्थ-यात्रा और प्रभु के दर्शन की पुनीत भावना लेकर जा रहे होंगे तो उनकी दृष्टि कंद-मूल-फल को छोड़कर अन्यत्र जाएगी ही नहीं। परन्तु यदि प्रदर्शन और पर्यटन की भावना लेकर यात्रा कर रहे होंगे तो उन्हें खग-मृग के प्रति अधिक आकर्षण होगा। कदाचित् उनकी दृष्टि 'मीन पीन' की ओर गयी तो इसका तात्पर्य है कि वे हिंसा-वृत्ति लेकर वन की ओर जा रहे हैं। मछली अत्यन्त निरीह प्राणी है, उसे लोक में अनुराग का प्रतीक माना जाता है। उसको मारना सरल है। वह तो जल से पृथक् होते ही अपने प्राणों का परित्याग कर देती है। उसके प्रति भी जिनके अन्तःकरण में हिंसा-वृत्ति विद्यमान है, वह व्यक्ति कितना निष्ठुर होगा, इसकी कल्पना की जा सकती है। प्रभु भी अत्यन्त कोमल और अनुरागी स्वभाव के हैं। भरत यदि उनके प्रति हिंसा-वृत्ति लेकर जा रहे होंगे तो उनका ध्यान मत्स्य पर ही जाएगा। यहाँ निषादराज का यह भी तात्पर्य था कि हम-जैसे हिंसक व्यक्ति, जो मछली का वध करने में संकोच नहीं करते, उनका हृदय भी राम के प्रति कोमलता और स्नेह से भर जाता है। यदि उन राम के विरुद्ध भरत के हृदय में हिंसा-वृत्ति विद्यमान है, तो इसका तात्पर्य है कि वे हम लोगों की अपेक्षा भी क्रूरकर्मा हैं। उनके विरुद्ध शस्त्र उठाकर हमें यह

संतोष प्राप्त होगा कि अब हम अपनी हिंसा-वृत्ति को क्रूर हिंसा-वृत्ति मिटाने के लिए प्रयुक्त कर रहे हैं।

किन्तु उनका यह सब सोचा हुआ सिद्धान्त एक ओर रह गया। निरुपम भरत का चरित्र एक अनोखी शैली में ही प्रकट हुआ। चतुर निषादराज ने सर्वप्रथम गुरु वशिष्ठ को दंडवत् प्रणाम किया। इसके द्वारा भी वे नये राजा की परीक्षा लेना चाहते थे। परम्परया राजा तो गुरु का सम्मान करता ही था, किन्तु प्रजा के लिए आदर का सर्वोच्च प्रतीक राजा ही था। वह विष्णु का स्वरूप माना जाता था, राज्य-सभा में उसका सिंहासन मुनियों की अपेक्षा भी ऊँचा होता था :

साधु सुजान सुसील नृपाला।
ईस अंस भव परम कृपाला।।

निषादराज यह भी देखना चाहते थे कि गुरु वशिष्ठ को पहले प्रणाम करने से भरत के अहं को चोट लगती है या नहीं। इससे भी यह ज्ञात हो जाएगा कि गुरुजनों के प्रति उनके मन में कैसी भावना विद्यमान है। निषादराज के प्रणाम करने पर गुरुदेव ने उन्हें स्नेह से आशीर्वाद दिया और भरत को भी उनका परिचय दिया। यह परिचय देने में निषादराज के नाम और जाति का तो वर्णन था ही, पर गुरुदेव यह कहना नहीं भूले कि यह श्रीराम के सखा हैं :

जानि रामप्रिय दीन्ह असीसा।
भरतहि कहेउ बुझाइ मुनीसा।।
राम सखा सुनि स्यंदनु त्यागा।
चले उतरि उमगत अनुरागा।।

ब्रह्मर्षि वशिष्ठ बड़े ही उदार चरित्र के व्यक्ति थे। भगवान् राम के प्रति उनके मन में प्रगाढ़ भक्ति विद्यमान थी। उनको पाने के प्रलोभन से प्रेरित होकर ही उन्होंने पौरोहित्य कर्म को स्वीकार किया था। वे कोई शुष्क कर्मकाण्डी या अहंकारी तपस्वी नहीं थे। ब्राह्मणत्व के अभिमान ने उनके अन्तःकरण को कभी अभिभूत नहीं किया था। इसीलिए वे निषादराज के प्रति अत्यन्त सहृदय थे। उन्होंने निषाद को जो आशीर्वाद दिया था वह भी वर्ण की लघुता अथवा श्रेष्ठता से प्रेरित नहीं था। उन्होंने 'रामप्रिय' जानकर आशीर्वाद दिया, इसका उल्लेख गोस्वामीजी ने आवश्यक समझा। इस वाक्य का तात्पर्य यह भी था कि उन्होंने निषाद को ऐसा आशीर्वाद दिया जो एक 'रामप्रिय' व्यक्ति के लिए उपयुक्त था। जो व्यक्ति जिस अभिलाषा को लेकर प्रणाम करे, वैसा ही आशीर्वाद उसे दिया जाना चाहिए।। इसलिए गुरु वशिष्ठ ने उन्हें राम-प्रेम बढ़ने का आशीर्वाद ही

प्रदान किया होगा।

श्रीभरत से परिचय देते हुए 'रामसखा' शब्द का प्रयोग ही यह बतलाता है कि गुरुदेव की दृष्टि भक्तिपरक थी। किन्तु आगे जो कुछ घटित हुआ, उसकी कल्पना गुरु वशिष्ठ-जैसा सहृदय महापुरुष भी नहीं कर सकता था। श्रीभरत 'रामसखा' शब्द सुनते ही रथ से नीचे उतर पड़े और अनुरागपूर्ण अन्तःकरण से श्री निषादराज की ओर भागे। उन्हें कसकर हृदय से लगा लिया और उस समय उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा कि वे साक्षात् भैया लक्ष्मण से मिल रहे हैं। उस समय उनके अन्तःकरण की प्रीति हृदय में समा नहीं पा रही थी :

करत दंडवत देखि तेहि, भरतलीन्ह उर लाइ।
मनहुँ लखन सन भेंट भइ, प्रेमु न हृदयँ समाइ।।

एक निषाद को देखकर भरत का रथ छोड़ देना इतिहास की पहली घटना थी। यदि श्रीभरत गुरु वशिष्ठ की भाँति स्नेह और उदारता से आशीर्वाद दे देते तो उस समय की दृष्टि से इतनी ही उदारता बहुत मानी जाती। किन्तु रथ का परित्याग कर देने में तो वर्ण-व्यवस्था के नियमों का भी सम्बन्ध था। प्रत्येक देश और काल में शिष्टाचार के कुछ नियम होते हैं, और वे ही नियम परस्पर व्यवहार के आधार भी माने जाते हैं।

महाभारत में व्यवस्था के प्रश्न को लेकर एक मनोरंजक गाथा प्राप्त होती है : "काशी में दो भिन्न राज्यों के राजा रथ पर आरूढ़ होकर तीर्थ-यात्रा के लिए पधारे। वाराणसी के राज-मार्ग पर दोनों रथ आमने-सामने आकर खड़े हो गए और शिष्टाचार का विवाद प्रारम्भ हो गया। कौन किसे देखकर पहले रथ छोड़े ? किसका रथ दूसरे को मार्ग देने के लिए एक ओर हो जाए ? दोनों में से कोई इस प्रश्न पर झुकने के लिए प्रस्तुत नहीं था। स्मृतियों के आधार पर बड़ी कठिनाई से इस प्रश्न को सुलझाया जा सका। स्मृतियों की उस परम्परा की तुलना में श्रीभरत का यह कार्य अनेक लोगों के लिए विस्मयकारी रहा होगा। यहाँ तो इस प्रकार का कोई विवाद था ही नहीं। निषाद और श्रीभरत में इतनी अधिक दूरी थी कि उसे किसी शास्त्रीय व्यवस्था से दूर किया ही नहीं जा सकता था। किन्तु श्रीभरत ने धर्म को एक नया अर्थ प्रदान किया। व्यवस्था व्यक्ति के लिए है और व्यक्ति समाज के लिए। जब व्यवस्था व्यक्ति पर अधिकार कर लेती है, तब व्यक्ति कारागार का एक कैदी-मात्र रह जाता है। ऐसा लगता है कि धर्म एक जेलर के रूप में शास्त्र के कारागार में व्यवस्था की बेड़ी से जकड़कर व्यक्ति को संचालित कर रहा है। यदि धर्म का वास्तविक चित्र यही है तो व्यक्ति के मन में उसके प्रति सच्ची श्रद्धा का उदय नहीं हो सकता। नियम-व्यवस्था का तात्पर्य

समाज और व्यक्ति को उच्छृंखल होने से रोकना है, संघर्ष के स्थान पर सद्भाव की सृष्टि करना है। किन्तु यह विवेक की सबसे बड़ी विडम्बना है कि सद्भाव के लिए निर्मित व्यवस्था ही संघर्ष का मूल आधार बन जाती है। महाभारत की उपर्युक्त कथा में इसी विडम्बना का साक्षात्कार होता है। स्मृति की व्यवस्था का उद्देश्य सड़क पर दो रथों को आमने-सामने खड़ा करके मार्ग को अवरुद्ध करने से नहीं था। परन्तु इन दो राजाओं के विवाद से सारा आवागमन अवरुद्ध होकर जिस अव्यवस्था की सृष्टि कर रहा था, क्या स्मृति का उद्देश्य वही हो सकता था ? शास्त्र यदि व्यवस्था का निरूपण करते हैं तो अहंकार के त्याग का उपदेश भी तो वे ही देते हैं। एक तीर्थयात्री के क्या कर्त्तव्य हैं, इसका भी निर्देश शास्त्रों में प्राप्त होता है। इन सारी मर्यादाओं को छोड़कर वे शास्त्र-व्यवस्था के नामपर शुद्ध अहंकार की लड़ाई लड़ रहे थे। शास्त्र की यही वह व्याख्या है कि जिसको दृष्टिगत रखकर भुशुण्डि को यह कहना पड़ा कि शास्त्रों ने व्यक्ति के छूटने के लिए अनेक उपाय वताये हैं, किन्तु व्यक्ति उनसे छूटने के स्थान पर अधिकाधिक उलझता ही गया :

श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई।
छूट न अधिक अधिक अरुझाई।।

वर्ण-व्यवस्था भी सामाजिक सद्भाव के लिए ही बनायी गयी थी। उसमें व्यक्ति को अपने-अपने कर्त्तव्य कर्म का पालन करना था। प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्त्तव्य कर्म के द्वारा ईश्वर की आराधना कर सकता था। परन्तु यही वर्ण-व्यवस्था संघर्ष का मुख्य आधार वन बैठी, क्योंकि व्यक्ति और जातियाँ अपने अहंकार का समर्थन करने के लिए एक अस्त्र पा लेती हैं। जहाँ वर्ण-व्यवस्था में ऊँच और नीच की कल्पना की गयी है, वहीं यह भी तो प्रदिपादन किया गया है कि समस्त प्राणियों में ईश्वर का निवास है। श्रीकृष्ण स्वयं को वर्ण-व्यवस्था का निर्माता स्वीकार करते हैं। किन्तु साथ ही गीता में वे यह भी कहते हैं, "मैं समस्त प्राणियों में मणि के मध्य में स्थित सूत्र की भाँति ही विद्यमान हूँ :

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोक्तं सूत्रे मणिगणा इव।।

श्रीकृष्ण यह भी प्रतिपादन करते हैं कि पंडित सर्वत्र समदर्शी होता है। ब्राह्मण, चाण्डाल, हाथी, कुत्ते सबमें एक ही ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार करने वाला किसी का विरोधी कैसे हो सकता है ? किन्तु इस श्लोक को भी संघर्ष की दिशा में मोड़ने के लिए समदर्शन और समवर्तन के विवाद को खड़ा कर दिया

गया। इस बात पर अत्यधिक बल दिया जाने लगा कि श्रीकृष्ण ने केवल समदर्शन का उपदेश दिया है, समवर्तन का नहीं। पर प्रश्न तो यह है कि यदि श्रीकृष्ण का उद्देश्य समवर्तन को रोकना ही था, तो इस श्लोक को छोड़कर वे स्पष्ट शब्दों में यही घोषित करते कि व्यवहार में विषमता ही पण्डित का लक्षण है। व्यावहारिक जगत् में कुछ बाध्यताओं के कारण व्यक्ति चाहकर भी सिद्धान्त को पूरी तरह उतार नहीं पाता है। जैसा कि इसके पहले अहिंसा के प्रसंग में बताया गया है। पूर्ण अहिंसा सम्भव न होने पर भी जैसे व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह अधिकाधिक अहिंसक बनने का प्रयास करे, ठीक उसी प्रकार से व्यक्ति का यह भी कर्त्तव्य है कि पूर्ण समवर्तन असम्भव होने पर भी उसकी दिशा में अधिकाधिक बढ़ने का प्रयास करे। सच्ची वैष्णव परम्परा ने शास्त्र का यही अर्थ ग्रहण करने का प्रयास किया। उन्होंने पाण्डित्य-प्रदर्शन की थोथी कला के द्वारा वैषम्य और संघर्ष का समर्थन नहीं किया। इसलिए श्रीमद्भागवत में अनन्य भक्त की परिभाषा बताते हुए यही कहा गया कि अनन्य भक्त सारे विश्व को नमन करता है :

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्राश्च हरेः शरीरं
यत् किंच भूतं प्रणमेदनन्यः।।

यह आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष-वनस्पति, नदी-समुद्र सबके-सब भगवान् के शरीर हैं। सभी रूपों में स्वयं भगवान् प्रकट हैं। ऐसा समझकर वह, जो कोई भी उसके सामने आ जाता है, चाहे वह प्राणी हो या अप्राणी, उसे अनन्य भाव से, भगवद्-भाव से प्रणाम करता है।

उच्च सिद्धान्तों का प्रतिपादन कठिन नहीं है, किन्तु उन्हें व्यवहार में उतार पाना दुष्कर है। श्रीभरत ने इस सिद्धान्त को साकार रूप दिया। यही उनके चरित्र की महानता है। गुरु वशिष्ठ भी उदार थे, किन्तु वे इस समय अपने संस्कारों से ऊपर उठने में समर्थ नहीं हुए। क्या श्रीराम ने दण्डवत् किया होता तो महर्षि केवल उन्हें दूर से आशीर्वाद देकर रह जाते? यदि उन्हें हृदय से लगाने में उन्हें सुख होता है तो राम-प्रिय निषाद को हृदय से लगा पाने में उनके संस्कार और सामाजिक मर्यादाएँ ही तो बाधक हैं। उन्हें 'रामप्रिय' के साथ जाति का भी स्मरण बना रहा। श्रीभरत के लिए वे 'रामप्रिय' मात्र हैं। उनकी दृष्टि केवल 'मानिय सबहिं राम के नाते' के ऊपर आधारित है। निषादराज की भेंट का कहीं पता न था। उनका भोजन तो, तुलसी के शब्दों में, भक्ति का मंगलमय अमृतमय

धान्य था। "पेट भरि तुलसिहिं जेंवाइय भगति सुधा सुनाज"। उनकी दृष्टि भेंट पर नहीं, लाने वाले पर थी। वे त्रिगुण से ऊपर शुद्ध प्रेम की भूमिका में निवास कर रहे थे। उनके समक्ष तो निषाद नहीं, मूर्तिमान् लक्ष्मण खड़े थे। वह लक्ष्मण, जो श्रीभरत की दृष्टि में बन्धुत्व और प्रेम के अद्वितीय रूप थे। उनकी दृष्टि में लक्ष्मण के समान सर्वत्यागी न तो हुआ है और न होगा। वे जब लक्ष्मण को याद करते हैं तो उनकी आँखें गीली हो जाती हैं। अवस्था में छोटे होने पर भी लक्ष्मण श्रीभरत की आराध्य मूर्तियों में से एक थे। वे ध्यान करते हुए लक्ष्मण का ध्यान करना कभी नहीं भूलते थे :

लालन जोगु लखन लघु लोने।
भे न भाइ अस अहहिं न होने।।
पुरजन प्रिय पितु मातु दुलारे।
सिय रघुबीरहिं प्रान पिआरे।।
मृदु मूरति सुकुमार सुभाऊ।
तात बाउ तन लाग न काऊ।।
ते बन सहहिं बिपति सब भाँती।
निदरे कोटि कुलिस एहिं छाती।।

वे ही लक्ष्मण उन्हें निषाद में साकार दिखायी पड़े। निषाद की आँखें श्रीभरत को देर में पहिचान पाईं, किन्तु श्रीभरत ने उन्हें प्रथम दृष्टि में दूर से ही पहचान लिया। वस्तुतः निषाद का मन लक्ष्मण से पूरी तरह एकाकार था। एक रात्रि का लक्ष्मण-निषाद का सामीप्य इतना गहरा हो गया कि दोनों के अन्तर्मन में कोई भेद ही न रह गया। क्या आश्चर्य, यदि चतुरंगिणी सेना की बात सुनकर दोनों ही प्रेमियों के अन्तःकरण में सर्वथा एक-जैसी बात आयी। भृङ्गी कीट दूसरे कीड़ों को पकड़ कर अपना-जैसा रूप बना लेता है, ऐसी लोकोक्ति प्रसिद्ध है। रात्रि में प्रभु को शयन करते देखकर निषाद लक्ष्मण के पास जा बैठे थे। जाग्रत लक्ष्मण के साथ वे रात्रि को जागे ही नहीं, उन्हें श्रीराम के स्वरूप का साक्षात्कार भी हुआ। श्रीभरत को निषादराज से मिलते ही विश्वास हो गया कि अब इनके सान्निध्य से प्रभु अवश्य प्राप्त हो जाएँगे। एक निषाद को अपना आचार्य बना लेने वाले श्रीभरत धन्य हैं! निषादराज को श्रीरामभद्र की मित्रता की महिमा का परिचय भी आज ही मिला।

॥ श्रीराम: शरणं मम ॥

प्रमुदित तीरथराज निवासी।
बैखानस, बटु, गृही उदासी॥
कहहिं परसपर मिलि दस पाँचा।
भरत सनेहु सीलु सुचि साँचा॥

अर्थ—श्रीभरत के आगमन से तीर्थराज प्रयाग के सभी निवासी, वानप्रस्थी, ब्रह्मचारी, गृहस्थी-संन्यासी आदि सभी प्रसन्न हुए। सब लोग दस-दस, पाँच-पाँच की टोली बनाकर कहते हैं कि श्रीभरत का स्नेह और शील बड़ा पवित्र और सच्चा है।

श्रीभरत के आगमन का समाचार तीर्थराज में चारों ओर फैल गया। सभी लोग जहाँ-तहाँ एकत्र होकर श्रीभरत का स्वागत करते हैं। इन स्वागतकर्त्ताओं में प्रत्येक वर्ण और आश्रम के लोग थे; ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी और संन्यासी सभी पुलकित हो रहे थे। प्रत्येक को श्रीभरत के व्यक्तित्व में अपने ही आश्रम की मर्यादा साकार होती दिखायी दे रही थी। तुलसी अपनी अनोखी शैली में भरत के व्यक्तित्व की व्यापकता का दर्शन कराते हैं। इस अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने देश और काल की जिस पृष्ठभूमि का चुनाव किया, वह श्रीभरत के प्रति उनकी प्रगाढ़ श्रद्धा की परिचायक है। तीर्थराज प्रयाग का गौरव तो अप्रतिम है ही, गंगा, यमुना और सरस्वती के पावन सङ्गम ने उसके गौरव में और भी वृद्धि की है। भगवान् राम के आगमन पर गोस्वामीजी ने सिंहासनसीन तीर्थराज का बड़ा ही भव्य चित्र प्रस्तुत किया है :

प्रात प्रातकृत करि रघुराई।
तीरथराजु दीख प्रभु जाई॥
सचिव सत्य श्रद्धा प्रिय नारी।
माधव सरिस मीतु हितकारी॥
चारि पदारथ भरा भँडारू।
पुन्य प्रदेस देस अति चारू॥
छेत्र अगम गढ़ु गाढ़ सुहावा।
सपनेहुँ नहिं प्रतिपच्छिन्ह पावा॥
सेन सकल तीरथ बर बीरा।
कलुष अनीक दलन रनधीरा॥
संगमु सिंहासनु सुठि सोहा।
छत्रु अखयबटु मुनि मनु मोहा॥
चँवर जमुन अरु गंग तरंगा।
देखि होहिं दुख दारिद भंगा॥
सेवहिं सुकृती साधु सुचि, पावहिं सब मनकाम।
बंदी बेद पुरान गन, कहहिं बिमल गुन ग्राम॥
को कहि सकइ प्रयाग प्रभाऊ।
कलुष पुंज कुंजर मृगराऊ॥
अस तीरथपति देखि सुहावा।
सुख सागर रघुबर सुखु पावा॥

यह चित्र श्रीभरत के आगमन पर भी प्रस्तुत किया जा सकता था, पर गोस्वामीजी ने जानबूझ कर उसे श्रीराघवेन्द्र के आगमन पर ही प्रस्तुत किया। तीर्थराज ने प्रभु का स्वागत अत्यन्त उत्साह से किया था, वह एक मित्र के द्वारा दूसरे मित्र का स्वागत था। भगवान् माधव तीर्थराज के मित्र माने जाते हैं। "माधव सरिस मीतु हितकारी" में इसी सम्बन्ध की ओर संकेत किया गया है। इसीलिए यह दो मित्रों के बीच बराबरी का मिलन था।

श्रीभरत ने तीर्थराज के समक्ष स्वयं को भिखारी के रूप में प्रस्तुत किया। तीर्थराज बड़े उदार दाता हैं, उनका भण्डार भरा हुआ है। वे निरन्तर याचकों की कामनाएँ पूर्ण किया करते हैं। किन्तु इस नये भिखारी के समक्ष तीर्थराज को अपनी लघुता का भान होने लगा। दाता को भिखारी की तुलना में सर्वदा श्रेष्ठ माना जाता है, किन्तु पुराना इतिहास आज फिर दुहराया गया। बलि की यज्ञ-शाला में जब भगवान् भिखारी बनकर पहुँचे, तो ऐसा लगा कि दाता की तुलना

में भिखारी कितना छोटा है। किन्तु कुछ समय बाद दृश्य परिवर्तित हुआ, सब-कुछ देने का दावा करने वाला दाता भिखारी को तीन पग भूमि भी न दे पाया, तब लगा कि इस भिखारी के विराट् रूप के समक्ष दाता कितना छोटा है। आज कुछ समय पहले भिखारी के रूप में भक्त भरत थे और तीर्थराज-जैसा उदार दाता उनके सामने था। किन्तु जब इस याचक ने अपनी याचना प्रस्तुत की, तब तीर्थराज का सारा भण्डार मिलकर भी इस याचक की झोली न भर पाया। क्योंकि तीर्थराज के कोषागार में वह वस्तु थी ही नहीं, जिसकी याचना यह याचक कर रहा था। यह तीर्थराज का सौभाग्य था कि उन्होंने बलि के समान इस वामन से चाहे जो कुछ माँग लेने का आग्रह नहीं किया था। चतुर तीर्थराज ने याचक की भावना-भरी वाणी सुनी :

माँगहुँ भीख त्यागि निज धरमू।
आरत काह न करइ कुकरमू॥
अस जियँ जानि सुजान सुदानी।
सफल करहि जग जाचक बानी॥
अरथ न धरम न काम रुचि, गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद, यह बरदानु न आन॥

उनके कोष में चारों पदार्थ भरे हुए थे, किन्तु इस याचक को इनमें से एक की भी अपेक्षा नहीं थी। याचक को जिस वस्तु की अपेक्षा थी, वह तीर्थराज के पास नहीं थी। पर उन्होंने अपनी असमर्थता को सीधे शब्दों में व्यक्त नहीं किया। श्रीभरत की स्तुति में उन्होंने जो वाक्य कहे, उनमें असमर्थता की सांकेतिक स्वीकृति थी—"तात भरत, तुम सब बिधि साधू" में इसी की ओर संकेत था। पुराणों में यह कथा आती है कि तीर्थराज यह सोचकर चिन्तित हुए कि यदि अनगिनत पापी आकर अपना पाप मुझमें धोते रहे, तो सारी मलिनता मुझमें ही आ जाएगी। उनकी समस्या का समाधान यह कहकर किया गया कि केवल पापी ही तो त्रिवेणी में स्नान नहीं करेंगे, साधुजनों के स्नान करने से आपके समस्त पाप नष्ट हो जाएँगे। तीर्थराज ने श्रीभरत को 'साधु' कहकर इसी ओर इङ्गित किया। श्रीमद्भागवत में भी साधुओं के लिए "तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता" कहकर साधुओं की महिमा गायी गयी है। तीर्थराज का तात्पर्य यह था कि जहाँ अन्य तीर्थयात्रियों को मैं देता हूँ, वहाँ साधुओं से लेते रहना ही मेरा स्वभाव है। आप-जैसे साधु यदि मुझसे माँगने लगेंगे तो फिर मैं किससे याचना करूँगा ?

प्रेम-परिप्लुत अन्तःकरण से 'रामसिय-रामसिय' कहते हुए श्रीभरत ने

तीसरे पहर तीर्थराज प्रयाग में प्रवेश किया :

भरत तीसरे पहर कहँ, कीन्ह प्रबेसु प्रयाग।
कहत रामसिय रामसिय, उमगि उमगि अनुराग।।

नामस्मरण में जिस क्रम से उन्होंने नामोच्चारण किया वह परम्परा के प्रतिकूल जान पड़ता है। शक्ति के पश्चात् ही शक्तिमान् का स्मरण करना साधन-परम्परा में विहित है। किन्तु श्रीभरत 'राम-सिय, राम-सिय' का उच्चारण करते हुए चल रहे थे। इस स्मृति में विधि के स्थान पर भावना की प्रधानता है। वन-पथ में चलते हुए भी श्रीभरत केवल जिह्वा से उनके नाम का ही उच्चारण नहीं करते हैं, अपितु हृदय में वे निरन्तर ध्यान करते हुए चल रहे हैं। इस समय उनके भाव-राज्य में प्रभु के वन-पथ की झाँकी है। जिस क्रम से पथिक रामभद्र चल रहे थे, यह स्मरण उसी क्रम-परम्परा के अनुकूल है। श्रीलक्ष्मण का स्मरण यहाँ प्रत्यक्ष रूप से नहीं दिखायी दे रहा है; किन्तु यह भावना भी प्रयाग के अनुकूल है। जैसे तीर्थराज में तीनों नदियों की उपस्थिति स्वीकार किए जाने पर भी केवल गंगा-यमुना दो ही नदियाँ दृष्टिगोचर होती हैं—सरस्वती की उपस्थिति का भान केवल दिव्य दृष्टि वालों को ही होता है—उसी प्रकार सरस्वती के समान श्रीलक्ष्मण का स्मरण भी यहाँ गुप्त है। इसके पहले यह बताया जा चुका है कि भरत श्रीलक्ष्मण के नाम का भी स्मरण करते रहते हैं :

आपु सुरसरिहि कीन्ह प्रनामू।
सुमिरे लखन सहित सिय रामू।।

इस तरह तीसरे पहर तीन नदियों का सङ्गम और मूर्तित्रयी का ध्यान अद्भुत त्रिकोण का परिचय देता है। श्रीभरत के स्वागत के लिए जो लोग एकत्र हैं वे चारों आश्रमों का प्रतिनिधित्व करते हैं। श्रीभरत के व्यक्तित्व में चारों आश्रम साकार हो उठे हैं। श्रीभरत का व्यक्तित्व प्रयाग की अपेक्षा भी विशाल है। उनमें ज्ञान, भक्ति और कर्म की त्रयी का मिलन तो है ही, दैन्य की चौथी सरिता भी वहाँ प्रवाहित हो रही है। चारों वर्ण, चारों आश्रम और साधना के चार मार्ग, अकेले श्रीभरत के व्यक्तित्व में समाहित हैं। इससे बढ़कर उनके चरित्र की अगाधता और क्या हो सकती है!

आश्रम-धर्म की सांकेतिक व्याख्या रामचरितमानस में गुरु वशिष्ठ के द्वारा प्रतिपादित की गयी है। ब्रह्मचारी के कर्तव्य का परिचय वे इस प्रकार देते हैं : "वह ब्रह्मचारी शोक करने योग्य है जो अपने व्रत का परित्याग कर देता है। और गुरु के आदेश का पालन नहीं करता है।"

ब्रह्मचारी के जीवन में काम-चिन्तन सर्वथा वर्जित है। उसे आठों प्रकार के मैथुनों से दूर रहने का आदेश दिया गया है। चिन्तन का निषेध कभी-कभी चिन्तन को ही जन्म देता है। यह कहना कि ऐसा न करो, 'प्रतिकूल प्रतिक्रिया' को जन्म दे देता है। इसीलिए ब्रह्मचर्य शब्द स्वयं निषेधात्मक नहीं है। ब्रह्मचर्य का तात्पर्य है : निरन्तर ब्रह्म में विहार करना। 'ब्रह्म' शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है। ब्रह्म ईश्वर-प्रतिपादक तो है ही, साथ ही वह वेद का भी बोधक माना जाता है। ब्रह्मचारी वेदाध्ययन तो करता ही है, वह गायत्री छन्द के द्वारा ब्रह्म की उपासना भी करता है। इस दिव्य चिन्तन में संलग्न रहने वाला विषय-चिन्तन की दिशा में अभिमुख नहीं होगा, यह आशा की जाती है। किन्तु इस चिन्तन से ब्रह्मचारी विषयों से सर्वथा विरत हो जाय, यह आवश्यक नहीं है। इसीलिए काम के द्वारा आक्रमण किए जाने पर जिन सद्‌गुणों के भाग खड़े होने का वर्णन किया गया है, उनमें ब्रह्मचर्य सर्वप्रथम है :

ब्रह्मचर्य ब्रत संजम नाना।
धीरज धरम ग्यान बिग्याना।।
सदाचार जप जोग बिरागा।
सभय बिबेक कटक सब भागा।।

ब्रह्मचारी अपनी वेश-भूषा और क्रिया-कलाप के द्वारा स्वयं को ब्रह्मचारी के रूप में प्रदर्शित करने की चेष्टा करता है, अतः विरोधी प्रवृत्तियों का ध्यान उसकी ओर अधिक आकृष्ट होता है। ब्रह्मचर्य की समग्र रक्षा के लिए दो वस्तुएँ आवश्यक हैं : १. प्रदर्शन का अभाव, २. मन में ऐसी रसानुभूति कि जिससे मन विषय-रस की ओर से स्वतः विमुख हो जाए। श्रीभरत के चरित्र में ब्रह्मचर्य के सारभूत ये दोनों गुण विद्यमान हैं :

प्रनवउँ प्रथम भरत के चरना।
जासु नेम ब्रत जाइ न बरना।।
राम चरन पंकज मन जासू।
लुबुध मधुप इव तजइ न पासू।।

उपर्युक्त पंक्ति में तुलसी भरत के नियम और व्रत की अनिर्वचनीयता का प्रतिपादन करते हैं। प्रेम की अनिर्वचनीयता का प्रतिपादन तो युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है, क्योंकि प्रेम अन्तर्मन की वस्तु है, परन्तु व्रत और नियम क्रिया के माध्यम से व्यक्त होते हैं—इसीलिए उनका वर्णन करना तो सम्भव होना चाहिए। किन्तु विचार करने पर यह सिद्ध हो जाता है कि श्रीभरत का व्रत

और नियम भी अवर्णनीय है। बात यह है कि प्रत्येक व्रत के अपने कुछ विशिष्ट नियम हैं। उन नियमों के पालन को देखकर यह निर्णय किया जा सकता है कि यह व्यक्ति किस व्रत में आरूढ़ है। इसीलिए प्रत्येक व्रत के साथ उसकी विशिष्टता का बोधक कोई-न-कोई शब्द जुड़ा ही होता है। किन्तु श्रीभरत के व्रत के साथ परिचयात्मक कोई शब्द न होने से यह प्रश्न बना ही रह जाता है कि वे किस व्रत में स्थित हैं? वे जिन नियमों का पालन करते हैं वे भी किसी व्रत-विशेष की सीमा के परिचायक नहीं हैं। इसीलिए उनके व्रत और नियम अनिर्वचनीय हैं।

अयोध्या से चित्रकूट जाते हुए प्रारम्भ में वे वाहन स्वीकर नहीं करते। अतः यह कल्पना की जा सकती थी कि वे वाहन-त्याग का व्रत स्वीकार कर चुके हैं। किन्तु कौसल्या अम्बा के अनुरोध पर वे रथ पर बैठना स्वीकार कर लेते हैं, तब यह भ्रान्ति होती है कि सम्भवतः वे गुरुजनों की आज्ञा-पालन का व्रत स्वीकार कर चुके हैं। किन्तु गंगा-तट पर रथ का परित्याग कर देने के बाद वे पुनः सेवकों के आग्रह पर भी रथ अथवा अश्व पर आरूढ़ होना स्वीकार नहीं करते। ऐसी स्थिति में किसी व्यक्ति के लिए यह निर्णय कर पाना कठिन हो जाता है कि वस्तुतः वे किस व्रत के व्रती हैं। श्रीभरत के व्यक्तित्व में प्रदर्शन की वृत्ति का इतना अभाव है कि उन्होंने कभी यह प्रकट ही नहीं होने दिया कि वे किस व्रत के व्रती हैं।

इसलिए वे व्रतों को भंग करनेवाली वृत्तियों के आक्रमण से सुरक्षित हैं। 'राम-चरन-रति' रस के द्वारा वे इतने परितृप्त हैं कि उनके मन को विषय-रस की आवश्यकता ही नहीं रह गयी है। ब्रह्मचारियों को श्रीभरत के चरित्र में व्रत का एक नया रूप प्राप्त होता है, जहाँ ब्रह्मचर्य की समग्रता होते हुए भी काम के आक्रमण का भय नहीं है।

ब्रह्मर्षि वशिष्ठ गृहस्थ और संन्यास आश्रम की मर्यादाओं का वर्णन एक ही दोहे में करते हैं :

सोचिअ गृही जो मोहबस, करइ करम पथ त्याग।
सोचिअ जती प्रपंच-रत, बिगत बिबेक बिराग॥

वह गृहस्थ शोक करने योग्य है जो मोह के कारण कर्म-पथ का परित्याग कर देता है; और वह संन्यासी शोक करने योग्य है जो विवेक और वैराग्य का परित्याग कर प्रपंच में आसक्त है। गृहस्थ जीवन को छोड़कर कोई अन्य आश्रम कर्म-प्रधान नहीं है। इसलिए यह आशंका हो सकती है कि अन्य आश्रमों की देखा-देखी गृहस्थ भी कर्म-पथ से विरत हो जाय। किन्तु गृहस्थ आश्रम प्रत्येक आश्रम का आश्रयदाता है। ब्रह्मचारी का अध्ययन, वानप्रस्थी की तपस्या और संन्यासी का विचार गृहस्थ आश्रम की सहायता के बिना पूरा नहीं हो सकता। क्योंकि इन

आश्रमों में शरीर के संरक्षण के लिए जिन वस्तुओं की अपेक्षा है, वे गृहस्थ के कर्तव्य कर्म के द्वारा ही उपलब्ध होती हैं। इसीलिए शास्त्रों ने गृहस्थ धर्म की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। भगवान् श्रीकृष्ण ने भी महाभारत के रणाङ्गण में अर्जुन को कर्त्तव्य-पथ से विमुख होते देखकर उसे कर्मयोग की दीक्षा दी। वहाँ वे स्पष्ट कर देते हैं कि कोई व्यक्ति सृष्टि में क्षण-भर के लिए भी कर्म का परित्याग नहीं कर सकता :

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

यद्यपि तत्त्वज्ञ के लिए कर्म की बाध्यता नहीं है, किन्तु फिर भी श्रीकृष्ण की दृष्टि में उन्हें कर्म का पालन करते हुए दूसरों को भी कर्म की दिशा में प्रेरित करना चाहिए, क्योंकि छोटे लोग स्वभाव से ही बड़ों का अनुकरण करते हैं। श्रीकृष्ण ने स्वयं अपना दृष्टान्त देते हुए यही कहा है कि मैं भी इसीलिए समग्र शास्त्रीय विधानों का पालन करता हूँ।

श्रीभरत के जीवन में कर्म-मार्ग की सारी परम्पराएँ सुरक्षित हैं। गृहस्थ-जीवन की छोटी-से-छोटी कोई ऐसी क्रिया नहीं है जो श्रीभरत के द्वारा सम्पन्न न हुई हो। ननिहाल में रहते हुए श्रीभरत को रात्रि के समय दुःस्वप्न दिखायी देने लगे। दिन में विविध प्रकार की कल्पनाएँ मन में उठने लगीं। ऐसे अवसर पर वे उसी प्रकार क्रिया का पालन करते हैं जिसका पालन आज भी एक सद्-गृहस्थ के द्वारा होता है। वे अनन्यता के नाम पर अन्य देवताओं का तिरस्कार नहीं करते। जैसे एक गृहस्थ को अपने जीवन में पूरे परिवार के प्रत्येक सदस्य का ध्यान रखना पड़ता है, उसी प्रकार उपासना की स्मार्त-परम्परा में सारे देव-समूह का ध्यान रक्खा जाता है। श्रीभरत से बढ़कर भगवान् राम का कोई अन्य अनन्यानुरागी नहीं है।

फिर भी वे एक गृहस्थ के नाते भगवान् राम के समग्र परिवार का ध्यान रखते हैं। इस परिवार के एक मुख्य अंग हैं भगवान् शिव। श्रीभरत दुःस्वप्न देखने पर उसके उपशमन के लिए रुद्राभिषेक का आयोजन करते हैं। ब्राह्मण-भोजन आदि प्रक्रियाओं का साङ्गोपाङ्ग निर्वाह करते हुए उनसे अपने प्रियजनों की कुशलता की कामना करते हैं :

अनरथ अवध अरंभेउ जब ते।
कुसगुन होहिं भरत कहुँ तब ते॥
देखहिं राति भयानक सपना।
जागि करहिं कटु कोटि कलपना॥

विप्र जेवाँइ देहिं दिन दाना।
सिव अभिसेक करहिं बिधि नाना।।
मार्गाहिं हृदयँ महेस मनाई।
कुसल मातु-पितु परिजन भाई।।

भगवान् राम के द्वारा कर्त्तव्य कर्म का उपदेश दिए जाने पर श्रीलक्ष्मण ने यह कहकर छुट्टी पा ली थी कि जिन्हें कीर्ति, ऐश्वर्य और सद्गति प्रिय हो, उनके लिए ही आपका यह धर्मोपदेश सार्थक है :

धरम नीति उपदेसिअ ताही।
कीरति भूति सुगति प्रिय जाही।।

इतना कहते ही हठात् उनको श्रीभरत का ध्यान आ गया होगा। श्रीभरत की विलक्षणता यह है कि कीर्ति, सुगति और भूति की आवश्यकता न होते हुए भी वे समस्त कर्त्तव्य कर्मों का पालन करते हैं। इसीलिए लक्ष्मणजी ने अपनी पूर्व-धारणा में परिवर्तन करते हुए यह कहा कि ऐसे व्यक्ति भी हो सकते हैं, जिन पर धर्म के धारण करने का भार हो। उन्हें हम नरश्रेष्ठ और धैर्यशाली की उपाधि देते हैं किन्तु इस उपाधि का अधिकारी मैं नहीं हूँ :

नरबर धीर धरम धुर धारी।
निगम नीति कहुँ ते अधिकारी।।
मैं सिसु प्रभु सनेहँ प्रतिपाला।
मंदरु मेरु कि लेहिं मराला।।

यह संकेत श्रीभरत के लिए ही किया गया था। श्रीलक्ष्मण प्रभु को यह संकेत देकर आश्वस्त करने का प्रयास करते हैं कि "आप कर्त्तव्य कर्म के संरक्षण की इतनी चिन्ता न करें। माता-पिता की सेवा, प्रजा-पालन आदि के रूप में जितने कर्त्तव्य कर्म हैं उनका निर्वाह नरश्रेष्ठ भरत करेंगे।"

श्रीलक्ष्मण की यह धारणा सर्वथा यथार्थ थी। श्रीभरत ने ननिहाल से लौट-कर समस्त कर्त्तव्य-कर्मों का निर्वाह किया था। अपने मृत पिता की प्रसन्नता और सद्गति के लिए उन्होंने कर्मकाण्ड की सारी प्रक्रिया सम्पन्न की। यदि वे चाहते तो भावना के नाम पर कर्मकाण्ड की विधियों की उपेक्षा कर देते। ऐसे अनेक तथाकथित भक्तों को मैं जानता हूँ जो यह कहते हैं कि "कर्मकाण्ड भाव-रस में बाधक है इसलिए भक्तों को उसका पालन नहीं करना चाहिए। जिस कुल में भक्त जन्म ले लेता है वहाँ पिता की तो बात क्या है, वह अकेला इक्कीस पीढ़ियों

को तार देता है।" भक्तिशास्त्र में भक्तों की महिमा का गायन इसी रूप में किया गया है। किन्तु प्रश्न तो यह है कि भक्ति के नाम पर परम्पराओं का परित्याग कर देनेवालों को भक्त माना जाना चाहिए या नहीं ? पिता की मृत्यु के पश्चात् कर्मकांड की जो प्रक्रिया अपनायी जाती है, उसमें दान और वितरण मुख्य हैं। जीवित रहते हुए व्यक्ति हमारी स्वार्थ-सिद्धि में सहायक बनता है। किन्तु मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारियों में अपने पूर्वजों के प्रति कितनी श्रद्धा है, इसका परिचय प्राप्त होता है। इसीलिए मृत्यु के पश्चात् सम्पन्न होनेवाली कर्म-काण्ड की विशेष विधि को 'श्राद्ध' कहते हैं। समाज में संग्रह की प्रवृत्ति प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान रहती है। किन्तु विषमता के निवारण के लिए वितरण और दान की प्रक्रिया का शास्त्रों में आदेश दिया गया है। इसके लिए जीवन के विविध अवसरों को निमित्त बनाया गया है।

अन्य अवसर जहाँ जीवन के उल्लासमय क्षणों में उपलब्ध होते हैं, वहाँ श्राद्ध में यह मृत्यु के विषादमय वातावरण में प्राप्त होता है। यह व्यक्ति के लिए कड़ी परीक्षा का अवसर होता है। अन्य अवसरों पर दान और वितरण सरल है किन्तु विषाद के वातावरण में श्रद्धा की प्रेरणा ही इसे सही रूप में सम्पन्न कर सकती है। यहाँ पर मैं उस श्राद्ध की बात नहीं कह रहा हूँ जो परम्परा-पालन के लिए किए जाते हैं, जिनमें सामाजिक भय और अहंकार की तृप्ति ही मुख्य होती है। यह तो श्रद्धा के नाम पर कलंक है। किन्तु श्रीभरत ने जिस अगाध श्रद्धा से महा-राज श्रीदशरथ का श्राद्ध किया, उसके लिए गोस्वामीजी इस शब्दावली का प्रयोग करते हैं :

सरजु तीर रचि चिता बनाई।
जनु सुरपुर सोपान सुहाई॥
एहि बिधि दाह क्रिया सब कीन्ही।
बिधिवत न्हाइ तिलांजुलि दीन्ही॥
सोधि सुमृति सब बेद पुराना।
कीन्ह भरत दसगात बिधाना॥
जहँ जस मुनिबर आयसु दीन्हा।
तहँ तस सहस भाँति सबु कीन्हा॥
भए बिसुद्ध दिए सब दाना।
धेनु बाजि गज बाहन नाना॥
सिंघासन भूषन बसन, अन्न धरनि धन धाम।
दिए भरत लहि भूमिसुर, भे परिपूरन काम॥

पितु हित भरत कीन्हि जसि करनी।
सो मुख लाख जाइ नहिं बरनी।।

श्रीभरत इतने महान् सन्त हैं कि पुरखों की तो वात ही क्या, उनके दर्शन-मात्र से जड़ और चेतन भी मुक्ति के अधिकारी हो जाते हैं :

जड़ चेतन मग जीव घनेरे।
जे चितए प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे।।
ते सब भए परम पद जोगू।
भरत दरस मेटा भव रोगू।।

महाराज श्रीदशरथ स्वयं परम भक्त थे। श्रीभरत तो भक्त-शिरोमणि हैं। फिर भी भक्ति के नाम पर वे कर्म-पथ का परित्याग नहीं करते हैं। क्योंकि वे गृहस्थ जीवन की मर्यादाओं के पालक हैं।

गृहस्थ जीवन में कर्म-परम्परा का पालन करते हुए व्यक्ति शास्त्रानुमोदित भोगों को भोगता है। किन्तु भोग जीवन का चरम लक्ष्य नहीं है इसलिए वान-प्रस्थाश्रम की कल्पना की गयी। यह आश्रम भोग के स्थान पर तप को महत्त्व देता है। गुरु वशिष्ठ ने वैखानस धर्म की व्याख्या करते हुए उसमें तप को ही मुख्यता दी है। वे कहते हैं कि "वह वानप्रस्थी शोक करने योग्य है जिसे तप के स्थान पर भोग प्रिय लगता है" :

बैखानस सोइ सोचै जोगू।
तपु बिहाइ जेहि भावइ भोगू।।

तपस्या का अर्थ है स्वेच्छा से भोगों का परित्याग करके तप का वरण करना। जब कोई गृहस्थ भोगों का परित्याग कर वानप्रस्थाश्रम की ओर प्रस्थान करता है तब वह आत्म-कल्याण के साथ-साथ सामाजिक सुव्यवस्था में भी सहयोग देता है। समाज में सारा संघर्ष ही अर्थ और भोग के कारण होता है। इनकी उपलब्धि केलिए व्यक्ति क्रूर-से-क्रूर कर्म कर बैठता है। पूज्य-से-पूज्य व्यक्ति को अपने अर्थ और भोग के मार्ग में बाधक देखकर व्यक्ति उनका शत्रु बन जाता है; और कभी-कभी यह शत्रुता मृत्यु की सीमा तक पहुँचा देती है। इतिहास में ऐसे अनगिनत दृष्टान्त प्राप्त होते हैं। युवक पुत्र यदि यह अनुभव करे कि उसके माता-पिता अब भी भोगों में संलग्न हैं, ,पारिवारिक अर्थ-संग्रह पर अधिकार किए बैठे हैं, तब उनके प्रति अश्रद्धा का उदय होना स्वाभाविक है। बहुधा यह आलोचना सुनने को मिलती है कि नवयुवक अब माता-पिता का पहले-जैसा समादर नहीं करते हैं, किंतु

यत्किञ्चित् सत्य का अंश होते हुए भी यह यथार्थ से कोसों दूर है। श्रद्धा की उपलब्धि के लिए व्यक्ति को त्याग और कष्ट का वरण करना पड़ता है। इसके अभाव में पुत्र की श्रद्धा की उपलब्धि अपवाद-मात्र है, नियम नहीं। ऐसी श्रद्धा बिरले व्यक्तियों में ही होती है। इतिहास में जिन पितृभक्त पुत्रों की दुहाई दी जाती है, जिन्होंने पिता की आज्ञा को सर्वदा शिरोधार्य किया, उनकी संख्या कितनी है ? रामचरितमानस में गुरु वशिष्ठ ने पितृ-भक्ति के प्रसंग में ययाति के पुत्र का दृष्टान्त दिया था :

तनय जजातिहि जौबनु दयऊ।
पितु अग्याँ अघ अजसु न भयऊ।।

किन्तु ययाति के इतिहास से परिचित प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि उनकी इस आज्ञा को चार पुत्रों में से केवल एक ही पुत्र ने स्वीकार किया। इसका तात्पर्य है कि उस युग में भी भोगी व्यक्ति को श्रद्धा से देखनेवाले अल्पसंख्यक ही थे। इसके लिए आज्ञा न माननेवाले पुत्रों को शाप देनेवाले ययाति को आदर्श पुरुष नहीं माना जा सकता है। वृद्ध ययाति को स्वयं भी अपनी भोग-लिप्सा पर ग्लानि का अनुभव हुआ। पिता का कर्त्तव्य है कि वह पुत्र में युवावस्था का उदय देखते ही स्वयं भोगों से विरत हो जात। सब अर्थ और भोग पुत्र को समर्पित कर स्वयं तपस्या का जीवन वरण करले। ययाति ने इसके प्रतिकूल पुत्र की युवावस्था लेकर स्वयं भोग का जीवन व्यतीत करना चाहा। यह ययाति-वृत्ति जिस पिता के अन्तःकरण में होगी, वह अश्रद्धा का भाजन बने बिना नहीं रह सकता। वानप्रस्थ-आश्रम का निर्माण इसी सन्तुलन के लिए किया गया था।

श्रीभरत तो ऐसी अवस्था में तपस्वी जीवन का वरण करते हैं जिसे भोगों को भोगने की अवस्था माना जाता है। श्रीराम को वन जाने की अनुमति देते हुए कौसल्या अम्बा का ध्यान विशेषरूप से राम की युवावस्था की ओर गया था। माँ को यह ज्ञात था कि सूर्यवंश में बहुधा राजा तृतीय और चतुर्थ अवस्था में तप और त्याग का वरण करते हैं। किन्तु जब वे राम की सुकुमार अवस्था पर ध्यान देती हैं तब उनके मुख से बरबस यह शब्द निकलता है, "बय बिलोकि हिय होइ हरासू।" फिर भी उन्होंने तपस्वी जीवन व्यतीत करने का आदेश दे दिया। भगवान् राम के समक्ष तपस्वी जीवन व्यतीत करने के पीछे कैकेयी के वरदान का बंधन था, किन्तु श्रीभरत के समक्ष इस प्रकार की कोई विवशता न थी। फिर भी उन्होंने स्वेच्छा से तप के जीवन का वरण किया था, इसीलिए उनकी तपस्या को श्रीराम, सीता और लक्ष्मण की तपस्या से भी अधिक श्रेष्ठ बताया गया :

लखन राम सिय कानन बसहीं।
भरतु भवन बसि तप तनु कसहीं ।।
दोउ दिसि समुझि कहत सब लोगू।
सब बिधि भरत सराहन जोगू ।।

वखानस आश्रम को अवस्था से सम्बद्ध किया गया था, किन्तु श्रीभरत ने आवश्यकता से सम्बद्ध कर उसे पूर्णता तक पहुँचा दिया। भोगों के लिए संघर्ष केवल वृद्ध और युवक के वीच ही होता हो, ऐसी बात नहीं है। युवक भी तो परस्पर भोगों के लिए संघर्षरत हो जाते हैं। अतः इस संघर्ष को रोकने के लिए सर्वदा मानसिक वानप्रस्थावस्था की आवश्यकता है। कैकेयी अम्बा ने राज्य के लिए जिस संघर्ष की सृष्टि की थी, श्रीराम और भरत ने तपस्वी जीवन के माध्यम से उसके आधार को ही समाप्त कर दिया।

वर्णाश्रम व्यवस्था में संन्यास को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। संन्यास के पहले की तीनों अवस्थाएँ व्यक्ति को प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाले जीवन से सम्वद्ध रखती है। किन्तु व्यक्ति की जिज्ञासाओं का कोई अन्त नहीं है। वह ब्रह्माण्ड ही नहीं, इससे भी परे सत्य का साक्षात्कार करना चाहता है; और इसी वृत्ति का परिणाम है संन्यास। संन्यासी अर्थ और काम से नहीं, अपितु धर्म के बन्धन से भी स्वयं को मुक्त कर लेता है। यह स्थिति तभी आती है जब व्यक्ति के जीवन में मृत्युलोक की तो बात ही क्या, स्वर्ग के भोगों से भी वैराग्य हो जाता है। वैराग्य के पश्चात् ही व्यक्ति विवेक के उस राज्य में प्रवेश करता है, जहाँ पहुँचकर अपने स्वरूप का साक्षात्कार करता हुआ नर से नारायण बन जाता है। यह संन्यास केवल वस्त्र से ही सम्बद्ध नहीं है; यह तो विवेक-वैराग्य की चरम स्थिति है। गुरु वशिष्ठ ने संन्यास धर्म की व्याख्या करते हुए विवेक और वैराग्य को ही संन्यासी का वास्तविक धर्म वतलाया है। उनकी दृष्टि में वह संन्यासी शोक करने योग्य है जो विवेक और वैराग्य से रहित होकर प्रपंच में आसक्त है।

श्रीभरत का विवेक और वैराग्य अप्रतिम है। शोक के हिरण्याक्ष ने अयोध्या के समस्त निवासियों की बुद्धिरूपा पृथ्वी का अपहरण कर लिया। इस हिरण्याक्ष का वध करने में कोई समर्थ न था।

किन्तु श्रीभरत का विवेक, वाराह के रूप में अवतरित होकर, बुद्धिरूपा पृथ्वी का उद्धार करने में सफल हुआ :

सोक कनकलोचन मति छोनी।
हरी बिमल गुन गन जग जोनी ।।

भरत बिबेक बराह बिसाला।
अनायास उघरी तेहि काला ।।

श्रीभरत के वैराग्य की प्रशंसा इन पंक्तियों में की गयी :

अवध राजु सुरराजु सिहाई ।
दसरथ धनु सुनि धनदु लजाई ।।
तेंहि पुर बसत भरत बिनु रागा ।
चंचरीक जिमि चंपक बागा ।।

अयोध्या के वैभव का तो प्रश्न ही क्या, श्रीभरत में मुक्ति की आकांक्षा भी अवशिष्ट नहीं है :

परमारथ स्वारथ सुख सारे ।
भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे ।।

सर्वोत्कृष्ट संन्यासी श्रीभरत को प्रभु स्वयं से सर्वथा अभिन्न वतलाते हैं :

तुम्ह जानउ कपि मोर सुभाऊ ।
भरतहि मोहि कि अन्तर काऊ ।।

तीर्थराज प्रयाग में समस्त आश्रमी यदि श्रीभरत की सराहना में मुखर हो रहे हैं तो इसका एकमात्र कारण यही है कि प्रत्येक को उनमें अपना ही आदर्श घनीभूत होता दिखायी देता है।

।। श्रीराम: शरणं मम ।।

सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ।
निज अपराध रिसहि न काऊ।।
जो अपराध भगत कर करई।
राम रोषु पावक सो सरजई।।
लोकहुँ बेद बिदित इतिहासा।
यह महिमा जानहिं दुरबासा।।
भरत सरिस को राम सनेही।
जग जप राम राम जप जेही।।

अर्थ—बृहस्पति ने कहा, "देवराज ! श्रीरघुनाथजी का स्वभाव सुनो ! वे अपने प्रति किये हुए अपराध से कभी रुष्ट नहीं होते। परन्तु जो कोई उनके भक्त का अपराध करता है, वह श्रीराम की क्रोधाग्नि में जल जाता है। लोक और वेद दोनों में इतिहास (कथा) प्रसिद्ध है। इस महिमा को दुर्वासाजी जानते हैं। सारा जगत् श्रीराम को जपता है, वे श्रीरामजी जिनको जपते हैं, उन भरतजी के समान श्रीरामचन्द्रजी का प्रेमी कौन होगा ?"

चित्रकूट के पथ में प्रेम-मूर्ति श्रीभरत की यात्रा ने देवराज इन्द्र को भयभीत कर दिया। उन्हें यह आशंका सताने लगी कि यदि श्रीभरत ने अपने दिव्य प्रेम के प्रभाव से प्रभु का लौटाने में सफलता प्राप्त कर ली, तब हम लोगों के कार्य का क्या होगा ? वे श्रीरामभद्र के स्वभाव से परिचित थे। शील-संकोच के साथ उनकी प्रेम-परवशता को देवता भलीभाँति जानते थे। श्रीभरत का प्रेम उन्हें समुद्र के समान अगाध दिखायी दे रहा था। उन्हें भय था कि प्रभु भी इस अगाध प्रेम-समुद्र में डूब सकते हैं। अत: इस दुर्घटना को रोकने के लिए यही एक उपाय हो सकता है कि श्रीराम और भरत परस्पर एक-दूसरे से न मिल सकें :

राम सँकोची प्रेमबस, भरत सप्रेम पयोधि।
बनी बात बिगरन चहति, करउ जतन छल सोधि।।

श्रीभरत के प्रेम के लिए समुद्र की उपमा सर्वथा सार्थक है। किन्तु देवता राम के डूबने की चिन्ता करते-करते स्वयं आशंका के जलधि में डूबने लगे। षड्यन्त्र की योजना डूबते को तिनके के सहारे के समान थी। डूबते हुए व्यक्ति का विवेक समाप्त हो जाता है, और वह सामने जिस वस्तु को देख लेता है, उसे ही सहारे के लिए पकड़ने की चेष्टा करता है। तिनका किसी व्यक्ति को डूबने से नहीं बचा सकता, फिर भी व्यक्ति उसकी ओर हाथ बढ़ा देता है। इसी स्थिति में देवताओं ने अपने गुरु बृहस्पति से सहायता चाही। गुरुदेव के विवेक-रूप जहाज ने देवताओं को डूबने से बचा लिया। उन देवताओं के उद्बोधन के लिए देवगुरु ने जिन पंक्तियों का प्रयोग किया, उपर्युक्त अर्धालियाँ उन्हीं का एक भाग हैं। इनमें भगवान् के स्वभाव की मधुरता और तीव्रता, दोनों का ही परिचय प्राप्त होता है। इस सन्दर्भ में बृहस्पति को दुर्वासा की कथा का स्मरण हो आया, और उसी कथा के द्वारा उन्होंने देवताओं को यह समझाने की चेष्टा की, कि जब दुर्वासा-जैसा महामुनि भी भक्तापराध के दण्ड से बच नहीं पाता, तो तुम-जैसे भोगियों के द्वारा किया गया भक्तापराध प्रभु को कितना रुष्ट बना देगा ! दुर्वासा तो किसी प्रकार दण्ड से बच भी गए, किन्तु तुम लोगों की रक्षा कर सकने में कोई समर्थ न होगा।

अम्बरीष और दुर्वासा की मधुर और उद्बोधक गाथा का श्रीमद्भागवत के नवम स्कन्ध के चतुर्थ अध्याय में विस्तार से वर्णन किया गया है। दुर्वासा पुराणों का एक अनोखा व्यक्तित्व है। उनका नाम क्रोध के प्रतीक के रूप में प्रचलित है। आज भी किसी अत्यन्त क्रोधी स्वभाव के व्यक्ति की चर्चा करते हुए उसको 'दुर्वासा का अवतार' कहा जाता है। क्रोध के प्रतीक रूप में होते हुए भी वे पुराणों में एक खलनायक के रूप में प्रस्तुत नहीं किए गए हैं। वे परम तपस्वी मुनि हैं। उनका आदर प्रत्येक व्यक्ति करता है, और उनसे सब भयभीत रहते हैं। वे बहुधा ही कड़े परीक्षक के रूप में सामने आते हैं। सतयुग, त्रेता, द्वापर सभी में वे समान रूप से विद्यमान हैं। उन्हें सन्तुष्ट कर पाना सरल नहीं है, परन्तु प्रसन्न होने पर वे वरदान भी देना जानते हैं। उन्हें अग्नि के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। अग्नि में ऊष्मा होना स्वाभाविक है, उसके लिए कोई अग्नि की आलोचना नहीं करता। अग्नि में ऊष्मा है, फिर भी वह अनिवार्य है। जीवन और मृत्यु में उसकी समान उपयोगिता है।

दुर्वासा अग्नि के समान कड़े परीक्षक हैं। अग्नि जो प्रत्येक को जला देती है, किन्तु जिसके विषय में कभी यह प्रचलित था कि वह धर्म को नहीं जला सकती। श्रीसीता युद्ध के पश्चात् अग्नि-परीक्षा देती हैं। उसमें उन्हें ऐसा अनुभव हुआ जैसे वह चन्दन काष्ठ-निर्मित शीतल भवन में प्रविष्ट हुई हों :

श्रीखण्ड सम पावक प्रबेस कियो सुमिरि प्रभु मैथिली।
जय कोसलेस महेस बंदित चरन रति अति निर्मली।।
प्रतिबिंब अरु लौकिक कलंक प्रचण्ड पावक महँ जरे।
प्रभु चरित काहु न लखे नभ सुर सिद्ध मुनि देखहिं खरे।।
धरि रूप पावक पानि गहि श्रीसत्य स्रुति जग बिदित जो।
जिमि छीर सागर इंदिरा रामहि समर्पी आनि सो।।
सो राम बाम बिभाग राजति रुचिर अति सोभा भली।
नव नील नीरज निकट मानहुँ कनक पंकज की कली।।

दुर्वासा भी जीवन के शाश्वत मूल्यों को अपनी निष्ठुरता के माध्यम से प्रकट करते हैं। किन्तु कड़ा परीक्षक भी जैसे कभी सुयोग्य विद्यार्थी से उलझकर घबरा जाता है, अम्बरीष की कथा में उनकी वही दशा हुई। राजर्षि अम्बरीष महान् भक्त राजा थे। त्याग के समक्ष संग्रह की पराजय के अनगिनत दृष्टान्त इतिहास में उपलब्ध हैं। किन्तु इस इतिहास में महातपस्वी एक राजा के समक्ष पराजित हुआ। सत्ता की तुलना में त्याग श्रेष्ठ है, इसका प्रतिपादन तो सरलता से किया जा सकता है; पर सत्ता अपने सही प्रयोग में त्याग की अपेक्षा भी श्रेष्ठ है, यह सत्य अम्बरीष-कथा-जैसी कुछ गिनी-चुनी तात्त्विक कथाओं में ही उपलब्ध होता है।

गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है। कि त्याग भी भोग की प्रतिक्रिया-मात्र है। उसे सहज धर्म नहीं कह सकते। जैसे एक वस्तु का सतत सेवन करते हुए उससे अरुचि हो जाती है, उसी प्रकार कई व्यक्ति एक विशेष परिस्थिति में रहते हुए ऊब का अनुभव करते हैं, और स्वाद-परिवर्तन के लिए भिन्नता चाहते हैं। व्यापार में व्यस्त रहने वाला व्यापारी जब कभी ऊबकर किसी प्राकृतिक और एकान्त स्थान में चला जाता है, तब वह एकान्त के प्रति आकर्षण के नाते ऐसा नहीं करता। यह तो एकरसता-जन्य अरुचि और श्रम को मिटाने का प्रयास-मात्र है। तपस्वी जीवन भी ठीक इसी प्रकार का होता है। तपस्वी भी जीवन में अनेक नियम लेता है, पर वे नियम लक्ष्य-सिद्धि को दृष्टिगत रखकर सीमित समय के लिए ही लिये जाते हैं। उसे भी नियमों की समाप्ति पर प्रसन्नता की ही अनुभूति होती है:

राम सैल सोभा निरखि, भरत हृदयँ अति प्रेम।
तापस तप फल पाइ जिमि, सुखी सिराने नेम।।

इसलिए, तपस्या और भोग, जीवन के दो पक्ष हैं। भक्ति-दर्शन इन दोनों के

मध्य का केन्द्र-बिन्दु खोजता है। इसे एक दृष्टान्त के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है। दिन और रात्रि कालक्रम के दो पक्ष हैं। दोनों में सर्वथा भिन्नता है। व्यक्ति दोनों को दो भिन्न रूपों में भोगता है। दिन में वह प्रकाश चाहता है तो रात्रि में उसे अन्धकार चाहिए। दिन में भीड़-भाड़ की, तो रात्रि में एकान्त की आवश्यकता है। दिन में शक्ति के लिए भोजन चाहिए, तो रात्रि में उदर को विश्राम देने की अपेक्षा है। इसलिए इनमें से किसी एक की प्रशंसा और दूसरे की निन्दा असन्तुलन का परिचायक है। किन्तु दिन और रात्रि के द्वन्द्व में जिस एक की आवश्यकता अनिवार्य है, वही जीवन का केन्द्र-बिन्दु है। वह है, श्वास-प्रश्वासक्रिया। यही जीवन का मुख्य चिह्न है। रात्रि और दिन सब इसी के लिए तो प्रश्वास हैं !

भोग और तप के केन्द्र-बिन्दु को विस्मृत कर देने पर व्यक्ति सीधे खड़ा नहीं रह पाता, वह इधर-उधर फिसलता है। भक्तों ने इस केन्द्र-बिन्दु को भगवत्प्रेम के रूप में देखा है। भोगों में आसक्ति का भय है तो त्याग और तप में अहंकार का। आसक्ति और अहंकार दोनों ही रोग हैं। भगवत्प्रेम आसक्ति और अहंकार दोनों से मुक्त है। सारा वैभव प्रभु का है, इसलिए उसमें आसक्ति का अधिकार ही कहाँ है ? आसक्ति का उदय ममता से होता है। भक्त अपनी ममता की डोरी से प्रभु के चरणों को बाँध चुका है। अतः अब संसार को बाँधने या उसमें बँधने का प्रश्न ही उसके जीवन में नहीं है। अहंकार भी व्यक्ति को तभी होता है, जब वह यह समझता है कि उसने किसी वस्तु का त्याग किया है। भक्त के पास अपना है ही क्या, जिसके त्याग पर वह गर्व कर सके ? राजर्षि अम्बरीष का चरित्र भक्ति-परम्परा के अनुरूप था। श्रीमद्‌भागवत में उनके जीवन-दर्शन का बड़ा ही मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया गया है। अम्बरीष और श्रीभरत के जीवन-दर्शन में अनेक समानताएँ विद्यमान हैं।

"अम्बरीष को साधु-स्नेह, भगवत्प्रेम, प्राप्त था। उस प्रेम को पाने के बाद विश्व की समस्त सम्पत्ति मिट्टी के ढेले के समान जान पड़ती है" :

वासुदेवे भगवति तद्भक्तेषु च साधुषु।
प्राप्तो भावं परं विश्वं येनेदं लोष्टवत् स्मृतम् ॥

श्रीभरत में यही विलक्षणता विद्यमान है :

रमा बिलास राम अनुरागी।
तजत बमन जिमि जन बड़भागी ॥

अम्बरीष की दिनचर्या इस प्रकार थी :

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो-
र्वचांसि वैकुण्ठ - गुणानुवर्णने ।
करौ हरेर्मन्दिर - मार्जनादिषु
श्रुतिं चकाराच्युत-सत्कथोदये ।।

उन्होंने अपने मन को श्रीकृष्ण के चरणारविन्द में, वाणी को उनके गुणानुवाद में, हाथों को हरिमन्दिर के मार्जन में और कानों को अच्युत की मंगलमयी कथा के सुनने में लगा दिया था। ठीक यही स्थिति श्रीभरत की है :

प्रनवउँ प्रथम भरत के चरना ।
जासु नेम ब्रत जाइ न बरना ।।
राम चरन पंकज मन जासू ।
लुबुध मधुप इव तजइ न पासू ।।
× ×
जासु बिरह सोचहु दिन राती ।
रटहु निरन्तर गुन गन पाती ।।
× ×
नित पूजत प्रभु पाँवरी, प्रीति न हृदयँ समाति ।
मागि-मागि आयसु करत, राज - काज बहु भाँति ।।

समस्त सृष्टि के भोग, जो सिद्धों के लिए भी दुर्लभ हैं, अम्बरीष को आकृष्ट नहीं कर पाते थे, क्योंकि वे अपने हृदय में नित्य-निरन्तर भगवान् का दर्शन करते रहते थे :

समर्द्धयन्ति तान्कामाः स्वाराज्य-परिभाविताः ।
दुर्लभा नापि सिद्धानां मुकुन्दं हृदि पश्यतः ।।

महर्षि भरद्वाज के आश्रम में तपोबल से निर्मित दिव्य भोगों में यही झाँकी श्रीभरत की दिखायी देती है :

आसन सयन सुबसन बिताना ।
बन बाटिका बिहग मृग नाना ।।
सुरभि फूल फल अमिअ समाना ।
बिमल जलासय बिबिध बिधाना ।।
असन पान सुचि अमिअ अमी से ।
देखि लोग सकुचात जमी से ।।

सुर सुरभा सुरतरु सबही के।
लखि अभिलास सुरेस सची के।।
रितु बसन्त बह त्रिबिध बयारी।
सब कहँ सुलभ पदारथ चारी।।
स्रक चन्दन बनितादिक भोगा।
देखि हरष बिसमय बस लोगा।।
सम्पति चकई भरत चक, मुनि आयसु खेलवार।
तेहि निसि आस्रम पिंजरा, राखे भा भिनुसार।।

सम्भवतः इस साम्य के कारण ही देवगुरु को श्रीभरत के प्रसंग में अम्बरीष की स्मृति आयी।

इन्हीं महाभाग अम्बरीष ने एक वर्ष के लिए द्वादशी-प्रधान एकादशी के व्रत का नियम लिया। व्रत के पारण के दिन महर्षि दुर्वासा भी वहाँ पधारे। राजर्षि ने उनका स्वागत और पूजन करने के पश्चात् भोजन के लिए आमंत्रण दिया। महर्षि ने इसे स्वीकार कर लिया और यमुना-स्नान के लिए चले गए। परंतु स्नान में उन्होंने इतना विलम्ब लगा दिया कि द्वादशी में केवल एक घड़ी अवशिष्ट रह गयी। अम्बरीष बड़े धर्म-संकट में पड़े। उन्होंने व्रत के नियम की पूर्ति के लिए केवल जल से ही पारण कर लिया, और दुर्वासा के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे। दुर्वासा लौटकर आए, तो यह जानकर क्रोध से काँपने लगे कि उनके आने से पहले ही राजा ने पारण कर लिया। राजर्षि अम्बरीष का चरित्र समन्वय के तत्त्व पर आधारित था, इसीलिए उन्होंने मध्य मार्ग का अवलम्ब लिया। असन्तुलित तपस्वी दुर्वासा का सारा धर्म अहं-केन्द्रित है। वे अतिथि के महत्त्व को विज्ञापित करते हुए धर्म को स्वयं की गरिमा से सम्बद्ध कर लेते हैं। सन्तुलित धर्म दूसरों की तृप्ति के लिए सन्नद्ध रहता है, किन्तु अहं-केन्द्रित धर्म दूसरों के उत्पीड़न में रस लेता है। दुर्वासा धर्म-संरक्षण के नाम पर अम्बरीष को दण्ड देने के लिए प्रस्तुत होते हैं। उन्होंने अपनी जटा से एक बाल उखाड़कर उससे एक कृत्या उत्पन्न की और उसे अम्बरीष को खा लेने का आदेश दिया। यहाँ जटा के बाल से कृत्या का प्राकट्य भी बड़ा मनोवैज्ञानिक है। अहं-प्रधान धर्म अपने विज्ञापन के लिए निरन्तर आतुर रहता है। बाल को शरीर में सबसे नगण्य माना जाता है। एक बाल के द्वारा कृत्या को उत्पन्न कर वे यह प्रदर्शित करना चाहते थे कि तेरा सारा पुण्य मेरे एक बाल-बराबर नहीं है। कृत्या को जन्म देने का तात्पर्य यही है कि अहं-केन्द्रित धर्म अपने अहं की पूर्ति के लिए कोई कुकृत्य करने में संकोच का अनुभव नहीं करता। कृत्या राजर्षि अम्बरीष को खाने के लिए

दौड़ी, किन्तु वे अविचलित भाव से खड़े रहे। भगवान् विष्णु का चक्र, जो निरन्तर अम्बरीष की रक्षा में संलग्न था, आगे बढ़ा, और उसने क्षण-भर में कृत्या का संहार कर दिवा। परन्तु अब सुदर्शन चक्र दुर्वासा के पीछे चला। भयभीत दुर्वासा भागे, फिर भी चक्र ने उनका पीछा नहीं छोड़ा।

इस तरह यह संघर्ष भगवदाश्रित धर्म और अहं-केन्द्रित धर्म के अन्तर को प्रकट करता है। अहं-केन्द्रित धर्म को अपनी तपस्या, अपनी साधना का ही गर्व होता है। वह सोचता है, "अपनी साधना से ही मैं अपनी कामनाओं की पूर्ति में समर्थ हूँ। मुझे किसी अन्य के आश्रय की अपेक्षा नहीं है।" किन्तु भक्त एक नन्हे बालक की भाँति है, जिसकी रक्षा का भार प्रभु पर है। इसीलिए अम्बरीष को अपनी रक्षा के लिए पुकार की भी आवश्यकता न थी। बिना पुकार के ही माँ बालक की रक्षा के लिए सन्नद्ध रहती है। सुदर्शन चक्र काल का ही प्रतीक है। काल चक्राकार है, इसलिए वह लौट-लौटकर उन्हीं नाम-रूपों में आता रहता है। यह भगवान् की इच्छा से संचालित होता है, वे ही काल के नियामक हैं।

दुर्वासा ने तप के द्वारा बड़ी दीर्घ आयु पा ली। उन्हें यह भ्रम हो गया था कि वे काल पर विजय पा चुके हैं। वे मृत्यु के विजेता हैं, पर दूसरों के लिए मृत्यु की सृष्टि कर सकते हैं। कृत्या की उत्पत्ति का तात्पर्य ही यह था। किन्तु भगवान् के शाश्वत काल-चक्र ने आज उनकी इस भ्रांति को दूर कर दिया। व्यक्ति काल-चक्र पर कभी विजय नहीं प्राप्त कर सकता। वह दीर्घ से दीर्घतर आयु पा सकता है, पर नित्य एकरस तो एकमात्र ईश्वर है। किन्तु अभी दुर्वासा की भ्रांति दूर नहीं हुई थी। उनको लगा, काल की गति सर्वत्र है, पर अमर लोकों में उसका प्रवेश नहीं होगा। उनकी गति अव्याहत थी। इसलिए अब भी उन्हें यह आशा थी कि वे देश के माध्यम से काल-चक्र से पीछा छुड़ा लेंगे। उन्हें ध्यान ही नहीं रहा कि व्यक्ति देश में स्थित है, और देश स्वयं काल की सीमा में स्थित है। यद्यपि प्रतीत यही होता है कि काल ही देश में स्थित है। दुर्वासा की यह भ्रांति तभी दूर हुई जब वे प्राण-रक्षा के लिए ब्रह्म-लोक और शिव-लोक में भागे गए।

ब्रह्म-लोक में पहुँचकर दुर्वासा ने ब्रह्मा से प्रार्थना की कि इस चक्र से मेरी रक्षा कीजिए। उस ब्रह्मा ने बड़े स्पष्ट शब्दों में दुर्वासा को यह बता दिया कि आप भ्रांति के कारण ही मुझे अमर मान बैठे हैं :

स्थानं मदीयं सह विश्वमेतत्
क्रीडावसाने द्विपरार्ध - संज्ञे।

भ्रूभंग - मात्रेण हि संदिधक्षोः
कालात्मनो यस्य तिरोभविष्यति ।।
अहंभवो दक्ष - भृगु - प्रधानाः
प्रजेश - भूतेश - सुरेश - मुख्याः ।
सर्वे वयं यन्नियमं प्रपन्ना
मूर्ध्न्यर्पितं लोकहितं वहामः ।।

ब्रह्माजी ने कहा, जब मेरी दो परार्ध की आयु समाप्त होगी और काल-स्वरूप भगवान् अपनी यह सृष्टि-लीला समेटने लगेंगे, और इस जगत् को जलाना चाहेंगे, उस समय उनके भ्रू-भंग मात्र से सारा संसार और मेरा यह लोक भी लीन हो जायेगा। मैं, शंकरजी, दक्ष-भृगु आदि प्रजापति, भूतेश्वर-देवेश्वर आदि सब जिनके बनाए नियमों में बँधे हैं, तथा जिनकी आज्ञा शिरोधार्य करके हम लोग संसार का हित करते हैं, उनके भक्त के द्रोही को बचाने में हम समर्थ नहीं हैं।"

ब्रह्मा से निराश होकर दुर्वासा भगवान् शिव के निकट गए। किन्तु वहाँ भी उन्हें रुद्र के द्वारा उसी सत्य का परिचय प्राप्त हुआ, जिसे वे पितामह ब्रह्मा से सुन चुके थे। परन्तु इसके साथ-साथ भगवान् शिव ने उन्हें भगवद्-शरणागति का उपदेश दिया :

वयं न तात प्रभवाम भूम्नि
यस्मिन् परेऽन्येऽप्यजजीव कोशाः ।
भवन्ति काले न भवन्ति हीदृशाः
सहस्रशो यत्र वयं भ्रमामः ।।

× ×

तस्य विश्वेश्वरस्येदं शस्त्रं दुर्विषहं हि नः ।
तमेव शरणं याहि हरिस्ते शं विधास्यति ।।

भगवान् शंकर ने कहा, "दुर्वासाजी ! जिन अनन्त परमेश्वर में ब्रह्म-जैसे जीव और उनके उपाधि-भूत कोष इस ब्रह्माण्ड के समान ही अनेक ब्रह्माण्ड समय पर पैदा होते हैं, और समय आने पर फिर उनका पता भी नहीं चलता, जिनमें हमारे-जैसे हजारों चक्कर काटते रहते हैं, उन प्रभु के सम्बन्ध में हम कुछ भी करने की सामर्थ्य नहीं रखते। यह चक्र उन विश्वेश्वर का शस्त्र है। यह हम लोगों के लिए असह्य है। तुम उन्हीं की शरण में जाओ। वे भगवान् ही तुम्हारा मंगल करेंगे।"

भगवान् शंकर के आदेश का पालन करते हुए दुर्वासा भगवान् के श्रीचरणों में जाकर गिर पड़े और उनसे करुण स्वर में प्रार्थना करने लगे। उन्होंने अपना अपराध स्वीकार करते हुए चक्र वापस लेने की प्रार्थना की, किन्तु आज उन्हें भगवान् के जिस स्वरूप का साक्षात्कार हुआ, वह कल्पनातीत था। जिन भगवान् ने महर्षि भृगु के द्वारा चरण-प्रहार किए जाने पर भी उनके चरणों को दबाते हुए अभूतपूर्व ब्राह्मण-भक्ति का परिचय दिया था, उन्हीं भगवान् ने महर्षि दुर्वासा-जैसे विश्व-वंद्य व्यक्ति को चरणों से उठाने की आवश्यकता का भी अनुभव नहीं किया। कारण स्पष्ट था। बृहस्पति द्वारा कथित पंक्ति का यह सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है। भृगु ने भगवान् का अपराध किया था, इसलिए वे उन पर रुष्ट नहीं हुए। किन्तु दुर्वासा के द्वारा भक्तापराध हुआ था; इस अपराध के लिए भगवान् भी क्षमादान नहीं देते।

दुर्वासा से प्रभु ने बड़े स्पष्ट शब्दों में बता दिया था, "इस विषय में मैं कुछ नहीं कर सकता, क्योंकि मैं सर्वथा भक्तों के अधीन हूँ। मुझमें तनिक भी स्वतंत्रता नहीं है। मेरे सीदे-साधे सरल भक्तों ने मेरे हृदय को अपने हाथ में कर रखा है। भक्त जन मुझसे प्यार करते हैं, और मैं उनसे। ब्रह्मन्! अपने भक्तों का एकमात्र आश्रय मैं ही हूँ। इसलिए अपने साधु-स्वभाव भक्तों को छोड़कर मैं न तो अपने आपको चाहता हूँ, और न ही अपनी अर्धाङ्गिनी विनाश-रहित लक्ष्मी को। जो भक्त स्त्री, पुत्र, गृह, गुरुजन, प्राण, धन, इहलोक और परलोक सबको छोड़कर केवल मेरी शरण में आ गए हैं, उन्हें छोड़ने का संकल्प भी मैं नहीं कर सकता। जैसे सती स्त्री अपने पातिव्रत्य से सदाचारी पति को वश में रखती है, वैसे ही मेरे साथ अपने हृदय को प्रेम-बन्धन से बाँध रखने वाले समदर्शी साधु भक्ति के द्वारा मुझे अपने वश में कर लेते हैं। मेरे अनन्य प्रेमी भक्त सेवा से ही अपने को परिपूर्ण कृतकृत्य मानते हैं। मेरी सेवा के फलस्वरूप जब उन्हें सालोक्य-सारूप्य आदि मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं, तब वे उन्हें भी स्वीकार करना नहीं चाहते; फिर समय के फेर से नष्ट हो जाने वाली वस्तुओं की तो बात ही क्या है! दुर्वासाजी! मैं आपसे और क्या कहूँ! मेरे प्रेमी भक्त तो मेरे हृदय में हैं, और उन प्रेमी भक्तों का हृदय स्वयं मैं हूँ। वे मेरे अतिरिक्त और कुछ नहीं जानते। दुर्वासाजी! मैं आपको एक उपाय बताता हूँ। जिसका अनिष्ट करने से आपको इस विपत्ति में फँसना पड़ा है, आप उसी के पास जाइए। निरपराध साधुओं के अनिष्ट की चेष्टा से अनिष्ट करने वाले का ही अमंगल होता है। इसमें सन्देह नहीं कि ब्राह्मणों के लिए तपस्या और विद्या परम कल्याण के साधन हैं। परन्तु यदि ब्राह्मण उद्दण्ड और अन्यायी हो जाए तो वे ही दोनों उल्टा फल देने लगते हैं। हे दुर्वासाजी! आपका कल्याण हो! आप नाभाग-नन्दन परम भाग्यशाली राजा अम्बरीष के

पास ही जाइए, और उनसे क्षमा माँगिए। तभी आपको शान्ति मिलेगी" :

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्त-हृदयो भक्तैर्भक्त जनप्रिय॥
नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुर्भिविना।
श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा॥
ये दारागारपुत्राप्तप्रान् प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥
मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥
मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादि-चतुष्टयम्।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविद्रुतम्॥
साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥
उपायं कथयिष्यामि तव विप्र श्रृणुष्व तत्।
अयं ह्यात्माभिचारस्ते यतस्तं यातु वै भवान्॥
साधुषु प्रहितं तेजः प्रहर्तुः कुरुतेऽशिवम्।
तपो विद्या च विप्राणां निःश्रेयसकरे उभे॥
ते एव दुर्विनीतस्य कल्पेते कर्तुरन्यथा।
ब्रह्मंस्तद् गच्छ भद्रं ते नाभागतनयं नृपम्॥
क्षमापय महाभागं ततः शान्तिर्भविष्यति॥

रामचरितमानस के प्रसंगों में भी ठीक इन्हीं सिद्धान्तों की घोषणा की गयी है :

निरबानदायक क्रोध जा कर भगत अबसहिं बस करी।

× ×

अनुज राज सम्पति बैदेही।
देह गेह परिवार सनेही॥
सब ममप्रिय नहिं तुम्हहिं समाना।
बृथा न कहउँ मोरि यह बाना॥

× ×

जाति पाँति धनु धर्म बड़ाई।
प्रिय परिवार सदन सुखदाई॥

सब तजि तुम्हहि रहहु उर लाई।
तेहि के हृदय रहहु रघुराई॥
× ×
अस बिचारि जे परम सयाने।
मुकुति निरादर भगति लुभाने॥
× ×
समदरसी मोहि कह सब कोऊ।
सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ॥

इन पंक्तियों में ठीक वे ही भाव विद्यमान हैं, जो भगवान् नारायण ने दुर्वासा से कहे। दुर्वासा तब अम्बरीष के पास लौटकर आए। राजर्षि अम्बरीष ने भगवान् नारायण के संहारक चक्र से शांत होने की प्रार्थना की और सुदर्शन शान्त हो गया। दुर्वासा भक्त की महिमा का गायन करते हुए लौट गए।

विचारक ब्रह्म को सम मानते हैं :

जद्यपि सम नहिं राग न रोषू।
गहइ न पाप पुन्य गुन दोषू॥

परब्रह्म की समता जीव के अन्तःकरण में भक्ति की प्रेरणा प्रदान नहीं कर सकती है। यदि वह केवल न्याय-परायण मात्र है तो ऐसा ईश्वर भी भक्त की भावना का केन्द्र नहीं बन सकता। भक्तों का भगवान् न तो शुद्ध समता में स्थित है और न ही वह केवल न्याय-परायण है। भक्त उसे पक्षधर और कृपालु स्वीकार करते हैं। स्वयं भक्तों के भगवान् भी यही स्वीकार करते हैं :

समदरसी मोहि कहँ सब कोऊ।
सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ॥

क्या ब्रह्म की समता का सिद्धान्त सही नहीं है? भक्त इस प्रश्न का बड़ा भाव-भरा उत्तर देते हैं—"ब्रह्म स्वभाव से ही सम है। किन्तु भक्त के हृदय में रहते-रहते वह भी उसी के स्वभाव के रंग में रँग जाता है।" भक्त का अन्तःकरण प्रीति और पक्षपात से युक्त है; अतः ईश्वर में पक्षपात और कृपा का सृजन करने वाला भक्त का हृदय ही है। किन्तु चूँकि भक्त भी ईश्वर के ही हृदय में निवास करता है, अतः ईश्वर की समता भक्त के हृदय में आ जाती है। इस तरह यह भक्त और भगवान् का गुण-परिवर्तन है। जिस प्रसंग में भगवान् राम ने अपनी विषमता का प्रतिपादन किया, वहीं पर भक्त की समता का वर्णन करना इसी ओर

इंगित करता है। श्रीहनुमानजी को अनन्य भक्त का स्वरूप बताते हुए प्रभु ने इसी समत्व-दर्शन का संकेत किया :

सो अनन्य जाके असि, मति न टरइ हनुमन्त।
मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवन्त।।

भगवान् शंकर भी इसी मत का समर्थन करते हैं :

उमा जे रामचरन रत, बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत, केहि सन करहिं बिरोध।।

प्रत्येक भक्त के जीवन में इसी सत्य का साक्षात्कार होता है। दुर्वासा द्वारा किए गए अपराध से राजर्षि अम्बरीष का अन्त:करण रंच-मात्र विक्षुब्ध नहीं हुआ, अपितु दुर्वासा के लौटकर न आने तक वे भोजन किए बिना ही उनकी प्रतीक्षा करते रहे। लौटकर आने पर उन्हें भोजन कराकर ही उन्होंने स्वयं उनका प्रसाद ग्रहण किया। यही भक्त का समत्व है। ऐसे समता-सम्पन्न भक्त का अपमान भगवान् को विक्षुब्ध बना देता है।

देवगुरु बृहस्पति ने इस उपाख्यान के द्वारा देवराज इन्द्र को सावधान किया। उन्होंने श्रीभरत की तुलना अम्बरीष से की, पर देवताओं की तुलना दुर्वासा से करते हुए मानो उन्होंने यह बताना चाहा कि दुर्वासा महान् तपस्वी और विद्वान् ब्राह्मण थे। भोग तो उनके जीवन में छू भी नहीं गया था। वे तो दुर्वासा (केवल दूर्वा का भोजन करनेवाले) थे; परन्तु तुम लोग स्वार्थी और भोगासक्त होते हुए भी ऐसा दुस्साहस करने की धृष्टता कर रहे हो। तुम्हारे अपराध का संकल्प दुर्वासा की अपेक्षा भी भीषण है, क्योंकि तुम भक्त और भगवान् के मिलन में बाधक बनना चाहते हो।

दूसरी ओर वे देवताओं को श्रीभरत की महिमा का स्मरण भी कराते हैं। श्रीभरत राजर्षि अम्बरीष की अपेक्षा अधिक महान् भक्त हैं। इसलिए देवगुरु के वाक्य में एक चुनौती-भरा स्वर है—"श्रीभरत के समान भगवान् श्रीराम का स्नेह-पात्र कौन होगा? संसार के लोग राम-नाम का जप करते हैं किन्तु श्रीरामभद्र निरन्तर भरत के ही नाम का जप किया करते हैं।" राजर्षि अम्बरीष ने कम-से-कम राज्य-सिंहासन पर बैठना तो स्वीकार कर ही लिया था। परन्तु श्रीभरत की भावना यह थी कि उनके सिंहासनासीन होते ही पृथ्वी पाताल में चली जाएगी :

मोहि हठि राजु देइअहु जबहीं।
रसा रसातल जाइहि तबहीं।।

भगवान् ने राजर्षि अम्बरीष की रक्षा के लिए सुदर्शन चक्र भेज दिया था, किन्तु श्रीभरत की "पाहि नाथ कहि पाहि गोसाईं" की पुकार पर वे अस्त्र का परित्याग कर दौड़े चले आए :

उठे राम सुनि प्रेम अधीरा।
कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा ।।

शस्त्र के परित्याग के माध्यम से प्रभु का यह संकेत था कि हे भरत, तुम्हारी रक्षा करने की सामर्थ्य मुझमें नहीं है। वस्तुतः मेरी रक्षा का भार भी स्वयं तुम्हारे ऊपर ही है।

भगवान् राम श्रीभरत को ही अपना इष्ट और आराध्य मानते हैं। महर्षि भरद्वाज ने भी श्रीभरत के समक्ष इस रहस्य का उद्‌घाटन किया था। उन्होंने प्रभु के संस्मरण सुनाते हुए श्रीभरत से कहा "श्रीराम, सीता और लक्ष्मण ने तुम्हारी सराहना करते हुए सारी रात्रि व्यतीत कर दी। इससे मैंने यह कल्पना की कि राघवेन्द्र तुमसे अत्यधिक प्रेम करते हैं, किन्तु प्रातःकाल मेरी धारणा परिवर्तित हो गयी। वास्तविक मर्म का ज्ञान तो मुझे तब हुआ, जब मैं उन्हें लेकर त्रिवेणी-तट पर स्नान के लिए गया। उस समय की उनकी अनुरागमयी स्थिति से मुझे यह ज्ञात हो गया कि वे तुम्हारा स्मरण केवल एक भक्त अथवा प्रेमी के रूप में ही नहीं करते, अपितु इष्ट मानकर तुम्हारी आराधना करते हैं" :

लखन राम सीतहिं अति प्रीती।
निसि सब तुम्हहिं सराहत बीती ।।
जाना मरमु नहात प्रयागा।
मगन होहिं तुम्हरेहि अनुरागा ।।

इस तरह भरत के प्रति किया जाने वाला अपराध केवल भक्तापराध न होकर भगवान् राम की दृष्टि में इष्टापराध भी होगा। बृहस्पति के इस उद्‌बोधन ने देवराज की भ्रान्ति दूर कर दी। साथ ही गुरुदेव ने इन्द्र को यह आश्वासन प्रदान किया कि संत भरत-जैसे महापुरुष से किसी के कार्य की हानि नहीं हो सकती है। भक्त निरन्तर पर-हित में संलग्न रहते हैं। इसलिए तुम्हें अपने स्वार्थ की दृष्टि से भी सशंक नहीं होना चाहिए। भक्त का अपना कोई स्वार्थ नहीं होता, अतः वह दूसरे के स्वार्थ की पूर्ति में कभी बाधक नहीं बनता है :

राम भगत पर हित निरत, पर-दुख-दुखी दयाल।
भगत-सिरोमनि भरत ते, जनि डरपहु सुरपाल ।।

श्रीभरत के स्वभाव का ज्ञान होते ही इन्द्र प्रसन्न हो गया और देवता भी उनकी सराहना करते हुए पुष्पों की वर्षा करने लगे :

सुनि सुरबर सुर-गुरु बर बानी।
भा प्रमोदु मन मिटी गलानी।।
बरषि प्रसून हरषि सुरराऊ।
लगे सराहन भरत सुभाऊ।।



।। श्रीराम: शरणं मम ।।

भरतहिं दोष देइ को जाए।
जग बौराइ राजपद पाए।।
ससि गुरु तियगामी नघुषु, चढ़ेउ भूमिसुर जान।
लोक बेद ते बिमुख भा, अधम न बेन समान।।
सहसबाहु सुरनाथु त्रिसंकू।
केहि न राजमद दीन्ह कलंकू।।

अर्थ—श्रीलक्ष्मण ने कहा, "परन्तु भरत को ही व्यर्थ कौन दोष दे? राजपद पा जाने पर सारा जगत् ही पागल (मतवाला) हो जाता है। चन्द्रमा गुरुपत्नीगामी हुआ, राजा नहुष ब्राह्मणों द्वारा उठायी गयी पालकी पर चढ़ा। और राजा बेन के समान नीच तो कोई नहीं होगा, जो लोक और वेद दोनों से विमुख हो गया। सहस्रबाहु, देवराज इन्द्र और त्रिशंकु आदि किसको राजमद ने कलंक नहीं दिया?"

चित्रकूट की पावन वनस्थली में प्रभु वटवृक्ष के नीचे श्रीसीता और लक्ष्मण के साथ विराजमान थे। अचानक कोल-किरातों के द्वारा उन्हें यह सूचना प्राप्त हुई कि श्रीभरत आ रहे हैं। सूचना सुनते ही श्रीरामभद्र की आँखों में आँसू छलक आए:

सुनत सुमंगल बैन, मन प्रमोद तन पुलक भर।
सरद सरोरुह नैन, तुलसी भरे सनेह जल।।

किन्तु अगले ही क्षण यह समाचार मिला कि उनके साथ चतुरंगिणी सेना है। इसे सुनते ही प्रभु की मुखाकृति पर चिन्ता के चिह्न उभर आए। जहाँ मिलने की आशा से प्रभु प्रसन्न हो उठे थे, वहाँ इस समाचार के सुनते ही उन्हें यह ज्ञात हो गया कि भरत केवल उनके दर्शन के लिए नहीं आ रहे हैं, वरन् वे उनसे राज्य

लेने का अनुरोध करेंगे। एक ओर सत्य की मर्यादा थी, तो दूसरी ओर श्रीभरत का स्नेह। इन दोनों में से वे किसका साथ दें, यह चिन्ता उन्हें व्याकुल बना रही थी :

एक आइ अस कहा बहोरी।
सेन संग चतुरंग न थोरी।।
सो सुनि रामहि भा अति सोचू।
इत पितु बच, उत बंधु सँकोचू।।

श्रीलक्ष्मण की दृष्टि प्रभु के मुख की ओर थी। आकृति पर उभरने वाला यह परिर्तन उनकी दृष्टि से ओझल न रहा। चतुरंगिणी सेना के आगमन के समाचार से प्रभु के मुख पर चिन्ता के जो चिह्न आए थे, उन्हें लक्ष्मण ने भिन्न अर्थ में ले लिया। उन्हें प्रतीत हुआ कि भरत से संघर्ष की आशंका ही राघव को व्यथित बना रही है। श्रीभरत के प्रति उनके अन्त:करण में तीव्र आक्रोश का उदय हुआ। श्रीराघवेन्द्र को व्यथित बनाने वाला व्यक्ति कोई भी क्यों न हो, वह लक्ष्मण से क्षमा की आशा नहीं कर सकता है। उनके जीवन का एक ही महामंत्र था, जिसे सुमित्रा अम्बा ने वन-यात्रा के पहले प्रदान किया था :

जेहि न राम बन लहहि कलेसू।
सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू।।

प्रतिक्षण वे इसी आदेश का पालन कर रहे थे। प्रभु की प्रसन्नता ही उनके जीवन का चरम लक्ष्य था। अतः उनके आक्रोश को अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। इसीलिए गोस्वामीजी ने भी उस समय दिए गए उनके भाषण को समय के अनुकूल तथा नीति और विचार से युक्त बतलाया है :

लखन लखेउ प्रभु हृदयँ खँभारू।
कहत समय सम नीति बिचारू।।

यद्यपि उनके भाषण में श्रीभरत के प्रति अत्यन्त कटु भाषा का प्रयोग किया गया था, पर प्रभु ने भी इसके लिए लक्ष्मण की कोई आलोचना नहीं की। क्योंकि लक्ष्मण ने जो कुछ कहा था, वह सृष्टि के स्वभाव की यथार्थता पर आधारित था। श्रीभरत इसके अपवाद हो सकते हैं, इसकी कल्पना उस समय लक्ष्मण नहीं कर पाये। निष्कर्ष नियम पर आधारित होते हैं, किंतु अपवाद नियम नहीं बन सकता। श्रीभरत के प्रति उग्र भाषा का प्रयोग करते हुए भी श्रीलक्ष्मण ने यह स्वीकार किया कि इसके लिए श्रीभरत को दोष देना व्यर्थ है। इसे विस्मय और

आश्चर्य के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए, क्योंकि जो कुछ हुआ है वह विश्व के इतिहास में घटित होने वाली घटनाओं के ही अनुकूल है। उन क्षणों में प्राचीन इतिहास के अनेक चित्र उनकी कल्पना में उभर आए। चन्द्रमा, नहुष, बेन, सहस्रार्जुन, इन्द्र और त्रिशंकु सभी तो अपने समय में महापुरुष ही माने जाते थे। किन्तु सत्ता ने इन्हें उन्मत्त बना दिया। यह राज-मद ऐसा ही है। यह बड़े-से-बड़े व्यक्तियों को कलंकित कर देता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर इसका रहस्य हृदयंगम किया जा सकता है।

नन्हा बच्चा अपने क्रिया-कलाप और आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पूरी तरह माँ के ऊपर आश्रित रहता है। अज्ञान और असमर्थता के कारण उसके जीवन में दिखायी देने वाली त्रुटियों पर किसी की दृष्टि नहीं जाती है, और यदि जाती भी है तो इसके लिए कोई उसकी आलोचना नहीं करता है। किन्तु ज्यों ही वह अपने पैरों के बल चलने लगता है, त्यों ही उसके गिरने की आशंका भी माँ और गुरुजनों को सताने लगती है; पर बालक यदि लड़खड़ाकर गिर भी पड़े, तो उसे प्रोत्साहित करते हुए उठने की प्रेरणा प्रदान की जाती है, क्योंकि इसे भी स्वाभाविक माना जाता है कि प्राथमिक प्रयास में उत्थान और पतन होता ही रहता है। किन्तु वह बालक युवक होने के बाद यह आशा नहीं कर सकता कि उसके उत्थान और पतन को उसी दृष्टि से देखा जाय, जिस दृष्टि से एक बालक को देखा जा जाता है। युवक से यह आशा की जाती है कि वह निरन्तर सजग रहकर पतन से अपनी रक्षा करेगा। यदि वह अपने उत्थान के लिए लोगों से सराहना सुनना चाहता है तो पतन के समय आलोचना सुनने के लिए भी प्रस्तुत रहना चाहिए। इतिहास में जिन लोगों का पतन हुआ, उन सबके साथ यह समस्या थी कि उन्होंने उपलब्धि और उत्थान को ईश्वर की कृपा न मानकर अपने सद्गुण और पुरुषार्थ का परिणाम स्वीकार किया। यद्यपि सत्य से इसका सम्बन्ध नहीं है। समुद्र में अनगिनत सीप होते हैं, उनमें से कुछ के ही माध्यम से मुक्ता अभिव्यक्त होता है। मुक्ता के जन्म के पीछे कवियों की मान्यता यथार्थ भले ही न हो, किन्तु जीवन के परम सत्य का साक्षात्कार करने की दृष्टि से वह मान्यता परम कल्याणकारिणी है।

कवियों की मान्यता यह है कि स्वाँति नक्षत्र का जल जिस सीप में गिर जाता है, वह जल ही मुक्ता का रूप धारण कर लेता है। कोई सीप यह दावा नहीं कर सकता कि वह अपनी किसी विशिष्ट योग्यता के कारण स्वाँति नक्षत्र के जल का अधिकारी है। यह तो एक संयोग-मात्र होता है कि वह बूँद किसी एक सीप में आ गई। भक्तों की दृष्टि में व्यक्ति भी एक सीप के सदृश ही है। ईश्वर की कृपा का स्वाँति नक्षत्र कब किसे बहुमूल्य बना देगा, इसे कोई नहीं जानता।

मुक्ता के जन्म के लिए किसी सीप का गर्व सर्वथा मिथ्या है। उसे तो और भी नम्र होकर प्रभु के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए कि प्रभु ने उसे अपनी कृपा का पात्र चुना। किन्तु दुर्भाग्य तो यह है कि व्यक्ति इस सत्य को बहुधा भूल जाया करता है। लोक-प्रशंसा भी इस भ्रान्ति-वृद्धि में सहायक होती है, क्योंकि प्रशंसक व्यक्ति की विशेषताओं के लिए केवल उसे ही श्रेय देते हैं। प्रशंसक बहुधा किसी-न-किसी स्वार्थ से सम्बद्ध होते हैं। यदि वे किसी व्यक्ति से यह कहें कि आप भी अन्य साधारण व्यक्तियों के ही समान हैं, केवल ईश्वर की कृपा ने ही आपको बड़ा बना दिया है तो, सिद्धान्ततः सत्य होते हुए भी, यह कथन व्यक्ति के अहं को तुष्ट नहीं कर सकता। अहंकार अपनी विशिष्टता के बोध से ही सन्तुष्ट होता है। जब भी व्यक्ति किसी से सर्वथा अनुचित कार्य कराना चाहता है, तब उसे शराब पिलाकर विवेकहीन बनाने की चेष्टा करता है। क्योंकि नशे के अभाव में व्यक्ति का विवेक कुछ-न-कुछ सक्रिय तो होता ही है। स्वार्थ-परायण व्यक्ति प्रशंसा की मदिरा पिलाकर इसी प्रक्रिया का आश्रय लेता है। इससे व्यक्ति का अहं तो सन्तुष्ट होता है, किन्तु उसका विवेक पूरी तरह समाप्त हो जाता है। साधारण मदिरा की अपेक्षा प्रशंसा की मदिरा इसलिए और भी घातक हो जाती है कि उसमें मात्रा की कोई सीमा नहीं रह जाती। बड़े-से-बड़ा पियक्कड़ भी एक सीमा तक ही मदिरा-पान कर सकता है, किन्तु कितनी भी मात्रा में प्रशंसा क्यों न की जाय, फिर भी अहं अतृप्त ही रहता है। उसकी प्यास प्रतिक्षण बढ़ती जाती है। इतिहास में जिन महान् पुरुषों के उत्थान के पश्चात् पतन की गाथा प्राप्त होती है, उनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण उनका अहंकार ही था। फिर यदि इसके साथ अन्य दुर्गुण भी मिल जाएँ तो कहना ही क्या है! श्रीलक्ष्मण ने जिन नामों का स्मरण किया, उनमें अहंकार के साथ-साथ कुछ निम्न प्रकार के भी दुर्गुण विद्यमान थे।

रामचरितमानस में अभिमान को सारे दुर्गुणों का मूल बताया गया है। एक अहंकार के वृक्ष में छः प्रकार के फल लगते हैं, यही इसका चमत्कार है। ये षड्-फल षड्-विकार हैं। छः पात्रों के माध्यम से इसी विलक्षणता का परिचय प्राप्त होता है। चन्द्रमा सत्ता और सौन्दर्य के अहंकार से ग्रस्त था। गुरु-पत्नी के अपहरण में उसकी कामान्धता प्रकट हो गयी। उसके पतन में काम कारण बना। त्वष्टा के वध के पश्चात् ब्रह्महत्या-जनित पाप के भय से इन्द्र को स्वर्ग छोड़कर कहीं छिप जाना पड़ा। इन्द्र-विहीन स्वर्ग के लिए नये इन्द्र की खोज की जाने लगी। मर्त्यलोक में उस समय महाराज नहुष का प्रबल प्रताप छाया हुआ था। अपने सद्गुणों के कारण वे विश्व-पूज्य बन गए थे। देवताओं और मुनियों की दृष्टि उनकी ओर गयी और उनसे इन्द्र-पद स्वीकार करने का अनुरोध किया गया।

इन्द्र-पद पाते ही नहुष मदोन्मत्त हो गया। इस उन्मत्तता में उसका धर्म-ज्ञान विलुप्त हो गया और उसने इन्द्र-प्रिया शची के पास यह सन्देश भेजा कि वह स्वर्ग की समस्त वस्तुओं का अधिपति है, शची भी उनमें से एक है, इसलिए उन्हें चाहिए कि नहुष के इस अधिकार को स्वीकार करें। बुद्धिमती शची ने उत्तर देते हुए यह संदेश भेजा कि यदि मुनियों द्वारा ढोयी गयी पालकी में बैठकर वे आवें, तो मैं उनका स्वागत करूँगी। मन्दोन्मत्त नहुष ने ऋषियों को पालकी ढोने का आदेश दिया। ऋषियों के द्वारा शिविका ढोये जाने पर भी वह उनकी मन्द गति से असन्तुष्ट था। बार-बार वह 'सर्प ! सर्प !' कहकर शीघ्रता से चलने का आदेश दे रहा था। तब क्रुद्ध ऋषियों ने उसे 'सर्प हो जाने' का शाप दे दिया। नशे में व्यक्ति को यह ज्ञान ही नहीं रह जाता है कि वह किससे क्या कह रहा है। नहुष की यह मदोन्मत्तता ही उसके विनाश का कारण बनी।

वेन ने राजा होते ही सारे देश में यह आज्ञा प्रचारित की कि उसे छोड़कर अन्य कोई दूसरा ईश्वर नहीं है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति केवल उसकी पूजा करे। यज्ञ में आहुतियाँ उसके नाम से अर्पित की जाएँ। यह मात्सर्य वृत्ति की पराकाष्ठा थी। किसी को स्वयं से अधिक आगे बढ़ते देखकर जो विक्षोभ होता है, उसे ही 'मात्सर्य' का नाम दिया जाता है। व्यक्ति का व्यक्ति के विरुद्ध मात्सर्य तो देखने को प्राप्त होता ही रहता है, किन्तु बेन के मन में तो ईश्वर के विरुद्ध ही मात्सर्य-वृत्ति का उदय हो गया। उसे यह असह्य प्रतीत हुआ कि उसके राज्य की प्रजा उसकी तुलना में ईश्वर को अधिक सम्मान दे। इस मात्सर्य ने अन्त में उसे मृत्यु-मुख तक पहुँचा दिया।

सहस्रार्जुन भगवान् दत्तात्रेय का शिष्य था। उसने साधना के द्वारा अनेक चमत्कारिक सिद्धियाँ प्राप्त कीं। राक्षसराज रावण को परास्त कर वह अतुलनीय कीर्ति का भागी बना; किन्तु महर्षि जमदग्नि के आश्रम में कामधेनु को देखते ही उसके अन्तःकरण में प्रलोभन की वृत्ति इतनी प्रबल हुई कि महर्षि से छीनकर वह उस गाय को ले जाने लगा। अन्त में भगवान् परशुराम ने उसका संहार कर दिया।

देवराज इन्द्र का पद सर्वोत्कृष्ट पुण्यों का परिणाम माना जाता है। सौ अश्वमेध यज्ञों की पूर्ति के पश्चात् ही इन्द्र-पद पर प्रतिष्ठित होने का सौभाग्य प्राप्त होता है। किन्तु इस पद तक पहुँच जाने पर भी व्यक्ति अपनी दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त कर ले, यह आवश्यक नहीं है। इसीलिए आचार्य के रूप में त्वष्टा का वरण करने के बाद भी क्रोध में आकर वह उनका वध करने में संकोच का अनुभव नहीं करता। इस क्रोध का परिणाम उसे स्वर्ग से पलायित होकर भोगना पड़ता है।

त्रिशंकु सूर्य-वंश का उज्ज्वल नक्षत्र था। ब्रह्मर्षि वशिष्ठ-जैसा गुरु उसे उपलब्ध था। सत्कर्मों में उसकी अभिरुचि थी। किन्तु उसके हृदय में एक अद्‌भुत अभिलाषा का उदय हुआ। वह सोचने लगा, 'मरने के पश्चात् तो सभी पुण्यात्मा स्वर्ग जाते हैं; मुझे सशरीर स्वर्ग जाना है, जिससे लोग यह कह सकें कि मैं पुण्यात्माओं में सर्वथा अद्वितीय हूँ।' यही मोह उसे ले डूबा। मोह का तात्पर्य है—'जानकर भी न जानना।' त्रिशंकु को यह भली-भाँति ज्ञात था कि यह मृत्युलोक है और यहाँ प्रत्येक शरीर का विनाश अवश्यम्भावी है। किन्तु अनगिनत दृष्टान्तों के होते हुए भी सशरीर स्वर्ग जाने की इच्छा उसमें इतनी प्रबल हो गई कि गुरु वशिष्ठ की अवहेलना करने में भी उसे संकोच नहीं हुआ। महर्षि विश्वामित्र का आश्रय लेकर उसने अपने स्वप्न को साकार करना चाहा और इस प्रयास में वह न स्वर्ग में रह पाया, न मर्त्यलोक में ही। आकाश में सिर नीचे और पैर ऊपर किए हुए वह आज भी अपनी मोहमयी गाथा की स्मृति दिलाता रहता है।

श्रीलक्ष्मण ने जान-बूझकर इन छः व्यक्तियों के इतिहास का दृष्टान्त प्रस्तुत किया। वे यह बताना चाहते थे कि भरत इन छः से भी आगे निकल गए, क्योंकि इनमें से कोई भी ऐसा नहीं था, जिसने ईश्वर के विरुद्ध युद्ध करने और उन्हें हराने की कल्पना की हो। इन छः व्यक्तियों में से कोई भी ऐसा नहीं था, जिसे ईश्वर के सामीप्य का सुअवसर प्राप्त हुआ हो। प्रभु के स्नेह और अपनत्व का दुरुपयोग करने वाला श्रीभरत-जैसा कोई व्यक्ति विश्व के इतिहास में नहीं हुआ, ऐसी धारणा श्रीलक्ष्मण की थी। इसीलिए वे प्रभु से यह आदेश चाहते थे कि ऐसे व्यक्ति को दण्डित करने का भार उन्हें दिया जाए।

।। श्रीराम: शरणं मम ।।

कही तात तुम्ह नीति सुहाई।
सब तें कठिन राज-मदु भाई।।
जौं अँचवत नृप मातहिं तेई।
नाहिन साधु-सभा जेहिं सेई।।

अर्थ—"तात ! तुमने अत्यन्त सुहावनी नीति कही है कि राज-मद सबसे कठिन है। पर इस राज-मद (मदिरा) का आचमन करके वे ही राजा मतवाले हुआ करते हैं जिन्होंने कभी साधुजनों का सत्संग नहीं किया है।"

श्रीभरत के प्रति प्रागाढ़ प्रेम होते हुए भी प्रभु ने श्रीलक्ष्मण के उद्‌गारों के बीच कोई व्यवधान उपस्थित नहीं किया। वे अपना मत प्रकट करने के लिए उचित अवसर की खोज में थे। देवताओं की वाणी ने यह कार्य पूरा कर दिया। युद्धोन्मुख लक्ष्मण की वाणी से देवता भयभीत हो उठे। उन्हें आशंका होने लगी कि कहीं राम-रावण युद्ध के स्थान पर परिवार में ही संघर्ष का श्रीगणेश न हो जाए। अत: आकाशवाणी के माध्यम ने उन्होंने श्रीलक्ष्मण को उलाहना दिया, "आपका प्रताप और प्रभाव अद्वितीय है। उसे पूरी तरह न तो जाना जा सकता है और न तो उसका वर्णन ही किया जा सकता है; फिर भी उचित-अनुचित का विचार करके ही उनका सदुपयोग किया जाना चाहिए। जो लोग सहसा बल और विवेक का प्रयोग कर देते हैं, बाद में उन्हें पश्चात्ताप करना पड़ता है":

जगु भय मगन गगन भइ बानी।
लखन बाहुबलु बिपुल बखानी।।

तात प्रताप प्रभाउ तुम्हारा।
को कहि सकइ को जाननिहारा।।
अनुचित उचित काजु किछु होऊ।
समुझि करिअ भल कह सबु कोऊ।।
सहसा करि पाछें पछिताहीं।
कहहिं बेद बुध ते बुध नाहीं।।

श्रीलक्ष्मण के लिए इतना ही संकेत यथेष्ट था। उन्हें अपने उतावलेपन पर लज्जा आयी। किन्तु उनके संकोच को समाप्त करने के लिए प्रभु ने उन्हें अत्यन्त निकट बैठा लिया और बोले, "तुमने जो कुछ कहा है, वह राजनीति की दृष्टि से सर्वथा ठीक है। जो भी इस राजमद को पीता है, वही उन्मत्त हो जाता है। परन्तु सत्य केवल इतना ही नहीं है। यह कहना उचित नहीं है कि कोई भी व्यक्ति राजमद से अछूता नहीं रह सकता। मेरी मान्यता तो यह है कि साधु-सभा का सेवन करने वाला व्यक्ति कभी पद पाकर उन्मत्त नहीं होता। श्रीभरत तो ऐसे लोगों में हैं, जिन्हें सांसारिक वैभव का तो प्रश्न ही क्या, ब्रह्मा, विष्णु और शिव का पद पाकर भी कभी मद नहीं हो सकता" :

सुनहु लखन भल भरत सरीसा।
बिधि प्रपंच महँ सुना न दीसा।।
भरतहि होइ न राजमदु, बिधि-हरि-हर-पद पाइ।
कबहुँ कि काँजी सीकरनि, छीरसिंधु बिनसाइ।।

'पद' और 'मद' शब्द में बड़ा साम्य है। शब्द-लेखन में भी पद का मद बनाना अत्यन्त सरल है। पद के 'प' में जरा-सी घुंडी बढ़ाते ही वह मद बन जाताहै। यह भाषा-विनोद तो है ही, जीवन का यथार्थ सत्य भी है। पद पाते ही मद हो जाना इसी यथार्थ का दृष्टान्त है। सुरा आकाश से नहीं टपकती है। उसका निर्माण व्यक्ति के द्वारा ही होता है। जिन वस्तुओं के द्वारा सुरा निर्मित होती है उनमें सभी अपवित्र या त्याज्य हों, यह भी आवश्यक नहीं है। मधुर फल के रूप में उपवास में ग्राह्य पवित्र अंगूर भी सुरा के रूप में परिवर्तित कर लिया जाता है। ठीक राजपद की भी यही स्थिति है। राज-पद परम पवित्र है। प्राचीन काल में राजा को ईश्वर का अंश मानकर उसकी पूजा की जाती थी। किन्तु जैसे अंगूर सुरा के रूप में परिवर्तित होकर व्यक्ति को उन्मत्त बना देता है, उसी प्रकार राजा भी उन्मत्त होकर असुर बन जाता है।

सुरापान के पीछे मनुष्य के मन में किस प्रकार की प्रेरणा कार्य करती है,

इसके विश्लेषण की आवश्यकता है। जीवन का यथार्थ व्यक्ति को आकर्षक प्रतीत नहीं होता, वह विविध वस्तुओं से उस यथार्थ को परिवर्तित रूप देना चाहता है। जिन वस्तुओं में व्यक्ति को कुरूपता दिखायी देती है, उन्हें तो वह सुन्दर बनाना ही चाहता है। सुन्दर को भी वह आकर्षक रूप प्रदान करना चाहता है। किन्तु इतने से भी उसे सन्तोष नहीं होता है। वह अपनी दृष्टि में भी परिवर्तन चाहता है। दृष्टि-परिवर्तन की यह प्रक्रिया सर्वव्यापी है। ज्ञान और भक्ति के माध्यम से भी दृष्टि-परिवर्तन की यह प्रक्रिया सम्पन्न होती है। किन्तु कई लोगों को ज्ञान और भक्ति की प्रक्रिया बड़ी कठिन प्रतीत होती है। ऐसे लोग भौतिक साधनों के द्वारा दृष्टि-परिवर्तन की प्रक्रिया सम्पन्न करना चाहते हैं। सुरापान और उससे मिलते-जुलते नशे के साधन इसी वृत्ति से प्रेरित हैं।

नशे में वह न केवल संसार को, अपितु अपने-आप को भी बदला हुआ-सा अनुभव करता है। उसे सारी सृष्टि रंगीन दिखायी देती है। स्वयं में वह स्फूर्ति और चंचलता का अनुभव करता है। उसे ऐसा लगता है कि उसमें आनन्द के अनुभव की अधिक क्षमता आ गयी है। किन्तु यह नशा शीघ्र उतर भी जाता है। इसमें व्यक्ति बहक जाता है, और कभी उसे अनादर का पात्र भी बनना पड़ता है। इससे भी अधिक स्थायी नशे की खोज में लोग लगे रहते हैं।

वैभव और सत्ता की सुरा में स्थायित्व है। व्यक्ति और संसार, सब इस मद में बदले हुए दिखायी देते हैं। कल तक जो व्यक्ति छोटा-सा प्रतीत होता था, पद पर पहुँचते ही न जाने कितना बड़ा बन जाता है। लोकदृष्टि में वह कहाँ-का-कहाँ पहुँच जाता है। सुरा पीकर वह केवल स्वयं में बदलाव पाता था, पर सत्ता में पहुँचकर वह सबको बदला हुआ देखता है। यद्यपि सत्य यह है कि व्यक्ति पद पाकर भी उतना ही बड़ा रहता है जितना पहले था। किन्तु व्यक्ति सिंहासन और कुर्सी की ऊँचाई को भी अपनी ऊँचाई समझ लेता है। गणित की इस भ्रान्ति के कारण ही वह दूसरों को अपने से तुच्छ मानकर उनकी अवहेलना करता है। यद्यपि उसे लगता है कि जहाँ वह पहले अकेले था या थोड़े लोगों में रहता था, अब उसे भीड़ घेरे रहती है, किन्तु इस भीड़ के उद्देश्य से वह परिचित नहीं होता। इनमें से कुछ ऐसे होते हैं जो उसे प्रशंसा की सुरा पिलाकर पूरी तरह बेहोश कर देना चाहते हैं, जिससे वे राजा अथवा सत्ताधीश के नाम पर मनमानी कर सकें। कुछ सत्ताधीश के पास खड़े होकर दूर वाली भीड़ पर यह प्रदर्शित करना चाहते कि वे इस सामीप्य को देखकर उनसे भी भयभीत रहें व आदर दें। और कुछ जो अत्यन्त सन्निकट होते हैं उनका ध्यान इसी पर लगा रहता है कि कब इस सत्ताधीश को धकेलकर वे स्वयं उस सिंहासन पर आरूढ़ हो सकें; पर पद के मद में उन्मत्त व्यक्ति इस सच्चाई को देख नहीं पाता। वह स्वयं को अमर और सिंहासन

को अचल समझ बैठता है :

लघु जीवन संवत पंच दसा।
कलपान्त न नास गुमान असा ।।

किन्तु सभी व्यक्ति ऐसे नहीं होते। पद सदा मद ही नहीं बन जाया करता। यदि मद ही होता तो सभी सत्पुरुष उससे दूर रहते। पद जिनके लिए मद नहीं बन जाता वे वही होते हैं जो साधु-सभा का सेवन करते हैं। "साधु-सभा जिन सेई" में 'सेई' शब्द शब्द साहित्यिक श्लेष प्रकट करता है। नशे के लिए भी 'सेवन' शब्द का प्रयोग किया जाता है। "ये सुरा का सेवन करते हैं, ये विजया का सेवन करते हैं" आदि। 'साधु-सभा के सेवन' से गोस्वामीजी का तात्पर्य है कि कभी न उतरने वाली दिव्य सुरा का सेवन करने वालों को किसी अन्य सुरा के सेवन की आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

इस साधु-सभा के सेवन की विलक्षणता ही यह है कि यहाँ प्रतिक्षण वास्तविकता का परिचय प्राप्त होता है। अस्थिर सुरा का नशा सन्त के समीप पहुँचकर उतर जाता है। वहाँ जाते ही सन्त जब भूतकाल के राजाओं की गाथा, उनके वैभव और सामर्थ्य का परिचय देते हुए स्मरण दिलाते हैं कि राजन् ! तुम्हीं पहली वार सिंहासन पर नहीं बैठे हो, तुमसे भी पहले अनगिनत राजा हुए हैं। अतः उनकी अन्तिम परिणति को विस्मृत मत करो। परमहंस-शिरोमणि शुकदेव श्रीमद्भागवत के अन्त में परीक्षित् के माध्यम से प्रत्येक सत्ताधीश को स्मरण दिलाते हैं :

दृष्ट्वाऽऽत्मनि जये व्यग्रान् नृपान् हसति भूरियम्।
अहो मां विजिगीषन्ति मृत्योः क्रीडनका नृपाः ।।
काम एष नरेन्द्राणां मोघः स्याद् विदुषामपि।
येन फेनोपमे पिण्डे येऽतिविश्रम्भिता नृपाः ।।
पूर्वं निर्जित्य षड्वर्गं जेष्यामो राजमन्त्रिणः।
ततः सचिवपौराप्त - करीन्द्रानस्य कण्टकान् ।।
एवं क्रमेण जेष्यामः पृथ्वीं सागरमेखलाम्।
इत्याशा - बद्धहृदयाः न पश्यन्त्यन्तिकेऽन्तकम् ।।
समुद्रावरणां जित्वा मां विशन्त्यब्धिमोजसा।
कियदात्मजयस्यैतन्मुक्तिरात्मजये फलम् ।।
यां विसृज्यैव मनवस्तत्सुताश्च कुरुद्वह।
गता यथागतं युद्धे तां मां जेष्यन्त्यबुद्धयः ।।

मत्कृते पितृपुत्राणां भ्रातृणां चापि विग्रहः।
जायते ह्यसतां राज्ये ममताबद्ध - चेतसाम् ।।
ममैवेयं मही कृत्स्ना न ते मूढेति वादिनः।
स्पर्धमाना मिथो घ्नन्ति म्रियन्ते मत्कृते नृपाः ।।

× ×

हिरण्यकशिपुर्वृत्रो रावणो लोकरावणः।
नमुचिः शम्बरो भौमो हिरण्याक्षोऽथ तारकः ।।
अन्ये च बहवो दैत्या राजानो ये महेश्वराः।
सर्वे सर्वविदः शूराः सर्वे सर्वजितोऽजिताः ।।
ममतां मय्यवर्तन्त कृत्वोच्चै - मर्त्यधर्मिणः।
कथावशेषाः कालेन ह्यकृतार्थाः कृताः विभो ।।

"जब पृथ्वी देखती है कि राजा लोग मुझपर विजय प्राप्त करने के लिए उतावले हो रहे हैं तब वह हँसने लगती है, और कहती है—"कितने आश्चर्य की बात है कि ये राजा लोग स्वयं मौत के खिलौने हैं, पर मुझे जीतना चाहते हैं ! राजाओं से यह बात छिपी नहीं है कि वे एक-न-एक दिन मर जाएँगे, फिर भी व्यर्थ ही में मुझे जीतने की कामना करते हैं।" सचमुच इस कामना से अन्धे होने के कारण ही वे पानी के बुलबुले के समान क्षणभंगुर शरीर पर विश्वास कर बैठते हैं और धोखा खाते हैं। वे सोचते हैं कि—"हम पहले मन के सहित अपनी पाँचों इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करेंगे। अपने भीतरी शत्रुओं को वश में करेंगे, क्योंकि इनको जीते बिना बाहरी शत्रुओं को जीतना कठिन है। उसके बाद अपने शत्रुओं के मन्त्रियों, अमात्यों, नागरिकों, नेताओं और समस्त सेना को भी वश में कर लेंगे। जो भी हमारे विजय-मार्ग में काँटे बोयेगा, उसे हम अवश्य जीत लेंगे। इस प्रकार धीरे-धीरे क्रम से सारी पृथ्वी हमारे अधीन हो जाएगी, और फिर तो समुद्र ही हमारे राज्य की खाई का काम करेगा।" इस प्रकार वे अपने मन में अनेक आशाएँ बाँध लेते हैं और उन्हें यह बात बिल्कुल नहीं सूझती कि उनके सिर पर काल सवार है। यहीं तक नहीं, जब एक द्वीप उनके वश में हो जाता है तो वे दूसरे द्वीप पर विजय पाने के लिए बड़ी शक्ति और उत्साह के साथ समुद्र-यात्रा करते हैं।

अपने मन और इन्द्रियों को वश में करके लोग मुक्ति प्राप्त करते हैं परन्तु ये लोग उनको वश में करके भी थोड़ा-सा ही भू-भाग प्राप्त करते हैं। इतने परिश्रम और आत्म-संयम का कितना तुच्छ फल है! पृथ्वी कहती है कि बड़े-बड़े मनु और उनके वीर पुत्र मुझे ज्यों-की-त्यों छोड़कर जहाँ से आये थे, वहीं खाली हाथ लौट गये, मुझे अपने साथ न ले जा सके। अब ये मूर्ख राजा मुझे युद्ध में जीतकर वश में

करना चाहते हैं। जिनके चित्त में यह बात दृढ़मूल हो गयी है कि यह पृथ्वी मेरी है, उन दुष्टों के राज्य में मेरे लिए पिता-पुत्र और भाई-भाई भी आपस में लड़ते हैं। वे परस्पर इस प्रकार कहते हैं, कि ओ मूढ़ ! यह सारी पृथ्वी मेरी ही है, तेरी नहीं। इस प्रकार राजा लोग एक-दूसरे से स्पर्द्धा करते हैं, मेरे लिए एक-दूसरे को मारते हैं और स्वयं भी मर मिटते हैं।

हिरण्यकशिपु, वृत्रासुर, लोकद्रोही रावण, नमुचि, शम्बर, भौमासुर, हिरण्याक्ष और तारकासुर तथा और भी बहुत-से दैत्य एवं शक्तिशाली नरपति हो गए हैं। ये लोग सब-कुछ समझते थे, शूर थे, सभी ने दिग्विजय में दूसरों को हराया था, किंतु दूसरे लोग इन्हें न जीत सके थे, परन्तु वे सब-के-सब भी मृत्यु के ग्रास बन गए। राजन् ! उन्होंने अपने पूरे अन्तःकरण से मुझसे ममता की और समझा कि यह पृथ्वी मेरी है। परन्तु विकराल काल ने उनकी लालसा पूरी न होने दी। अब उनके बल, पौरुष और शरीर आदि का कुछ भी पता नहीं है। केवल उनकी कहानी मात्र ही शेष रह गयी है।"

इसी तरह की चेतावनी के स्वर गोस्वामीजी के ग्रन्थों में भी गूँज रहे हैं :

अवनीस अनेक भए अवनी जिनके डर ते सुर सोच सुखाहीं।
मानव-दानव-देब सतावन रावन घाटि रच्यो जग माहीं॥
ते मिलिये धरि धूरि सुयोधन जे चलते बहु छत्र की छाँहीं।
बेद-पुरान कहैं जगु जान, गुमान गोबिंदहि भावत नाहीं॥

× ×

मन पछितैहै अवसर बीते !
दुरलभ देह पाइ हरि-पद भजु, करम बचन अरु ही ते॥ १॥
सहसबाहु, दसबदन आदि नृप, बचे न काल बली ते।
हम-हम करि धन-धाम सँवारे, अन्त चले उठि रीते॥ २॥
सुत-बनितादि जानि स्वारथ-रत, न करु नेह सबही ते।
अंतहु तोहि तजेंगे पामर ! तू न तजै अबही ते॥ ३॥
अब नाथहिं अनुराग जागु जड़, त्यागु दुरासा जी ते।
बुझै न काम-अगिनि तुलसी कहुँ, बिषय-भोग बहु घी ते॥ ४॥

साधु-सभा का सेवन करने वालों की दृष्टि का भी परिवर्तन होता है, किन्तु यह परिवर्तन सर्वथा दूसरे प्रकार का होता है। सन्त वह दृष्टि देते हैं जिससे सारे संसार के प्राणी अपने ही प्रभु के रूप में दिखायी देने लगते । वहाँ किसी को तुच्छ समझने की प्रवृत्ति पूरी तरह समाप्त हो जाती है। ऐसे व्यक्ति के लिए पद मद हो ही नहीं सकता। वह पद का सही अर्थ जानता है। मनुष्य के शरीर में पद सबसे

नीचे हैं। पद को ऊँचा वही समझ सकता है जो सिर को नीचे डालकर पद को ऊपर को उठा ले। जिनका विवेक अधोगामी होता है, वे ही पद को सर्वोच्च स्थान देते हैं। पद का कार्य शरीर का भार उठाना है। यही कार्य राजा का भी है। वह सारी प्रजा के पालन और संरक्षण का भार उठाता है। यद्यपि जब हम किसी का आदर करते हैं तब उसका पद स्पर्श करते हैं; किन्तु पद इससे गर्वीला होकर दूसरों के सिर पर नहीं चढ़ता, वह निरन्तर सेवा ही करता रहता है। पद का कार्य व्यक्ति को गतिशील रखना है। इसके स्थान पर यदि वह अधिकार-प्रदर्शन और प्रहार के कार्य में प्रयुक्त होने लगे, तब वह उन्मत्तता का प्रतीक बन जाता है।

भगवान् राम ने लंका का राज-पद विभीषण को दे दिया। इसे कई दृष्टियों से देखा जाता है। कूटनीतिज्ञों की दृष्टि में यह राघवेन्द्र की राजनैतिक चातुरी है। भक्तों की दृष्टि में यह प्रभु की उदारता है। किन्तु न्याय की दृष्टि से भी प्रभु का कार्य राम-राज्य के दर्शन के अनुकूल है। रावण ने विभीषण के ऊपर पद का प्रहार किया। यह पद का सबसे बड़ा दुरुपयोग था। यह प्रहार भी मदोन्मत्तता का ही परिचायक था। शराबी के पग सही दिशा में नहीं उठते। विभीषण सच्चे साधु थे। उन्होंने रावण को कल्याण की दिशा में ले जाना चाहा था। उन्हें यह स्पष्ट दिखायी दे रहा था कि रावण मार्ग भूल गया है। इसीलिए उन्होंने चेतावनी देते हुए कहा :

काम क्रोध मद लोभ सब, नाथ, नरक के पंथ।
सब परिहरि रघुबीरहि, भजहु भजहिं जेहि संत ॥

किन्तु उसने साधु पर ही चरण-प्रहार करके अपनी असाध्य मदोन्मत्तता का प्रदर्शन किया। उस प्रहार के बाद भी विभीषण पर उसकी श्रेष्ठ प्रतिक्रिया हुई। उनके पद सही दिशा में उठे। प्रभु को लगा कि लंका के राज-पद का अधिकारी वही व्यक्ति हो सकता है जिसके पद न्याय और सत्य की दिशा में चल रहे हों।

राज-पद की मदोन्मत्तता और उससे बचने का उपाय बताने के बाद प्रभु ने श्रीभरत के विषय में अपनी धारणा का स्पष्टीकरण किया। जहाँ तक श्रीभरत का सम्बन्ध है, वह तो ब्रह्मा, विष्णु, शिव का पद पाकर भी उन्मत्त नहीं हो सकते। खटाई के द्वारा दूध में विकृति आ सकती है, पर इस सिद्धान्त को सत्य मानकर यदि कोई क्षीर-समुद्र में काँजी डाल दे तो उसका परिणाम क्या होगा ? सत्ता की तुलना काँजी से की गयी है; व्यक्ति का अन्तःकरण दुग्ध के समान है; उसमें सत्ता की खटास पड़ते ही विकृति आ जाती है। अन्तःकरण में सत्त्वगुण का निवास होने पर उसकी तुलना पवित्र दूध से की जा सकती है। किन्तु मुख्य प्रश्न तो मात्रा का है। सद्भाव, दया आदि की सत्प्रवृत्तियाँ प्रत्येक व्यक्ति में अल्प मात्रा में होती हैं।

और वह भी शुद्ध नहीं होतीं, उनमें रजोगुण का मिश्रण होते ही वह ऐसे दूध का रूप ग्रहण कर लेती हैं जिसमें जल मिश्रित कर दिया गया हो। यह दूध देखने में भी ठीक उसी रूप-रंग का होता है। बहुधा लोग उसे शुद्ध दूध के रूप में खरीद भीलेते हैं। व्यक्ति को यदि स्वयं ही दूध पीना हो, तो उसमें मिलावट क्यों करने लगा? किन्तु जब दुग्ध के साथ व्यापार की प्रवृत्ति आती है, तब लोभी व्यक्ति उसमें जल मिला देता है। ठीक इसी प्रकार जब सत्त्वगुण का उद्देश्य आत्म-सन्तोष होता है, तब व्यक्ति शुद्ध सत्त्व में निवास करता है। किन्तु जहाँ उसके बदले में लोक-सम्मान पाने की प्रवृत्ति का उदय हुआ कि उसमें रजोगुण के जल का मिश्रण हो जाता है। सम्मान पाने की वृत्ति को भी बहुधा समाज-सेवा की क्रिया के धोखे में खरीद लेता है। यहाँ तक अपराध उतना घातक नहीं है, पर तमोगुण के कीटाणुयुक्त जल का मिश्रण होते ही वह स्वस्थता के स्थान पर रोगोत्पादक हो जाता है। जब तक व्यक्ति केवल समाज से सम्मान चाहता है तब तक वह क्षम्य है; किन्तु जब निकृष्ट-से-निकृष्ट स्वार्थ की पूर्ति ही उद्देश्य बन जाय, तब ऐसा व्यक्ति समाज के लिए सर्वथा घातक बन जाता है। शुद्ध दूध भी काँजी से विकृत हो जाता है, फिर भला मिलावटी दूध का तो कहना ही क्या? भले लोग भी सत्ता पाकर बदल जाते हैं, फिर मलिन स्वभाव के लोगों में परिवर्तन आ जाना तो स्वाभाविक ही है।

किन्तु श्रीभरत का अन्तःकरण तो क्षीर-सागर के समान है। वहाँ केवल शुद्ध सत्त्व की स्थिति है—उसमें विकृति का तो कोई प्रश्न ही नहीं। साधारण राज-पद से विकृति की बात तो दूर, ब्रह्मा, विष्णु, शिव का पद भी उनमें परिवर्तन नहीं ला सकता है। त्रिदेव उद्भव, पालन और संहार के देवता माने जाते हैं। यदि कर्तृत्व की वृत्ति का उदय हो जाय तो इन देवताओं में भी विकृति का आभास होता है। पुराणों की अनेकों कथाओं में ऐसे संकेत प्राप्त होते हैं। यद्यपि वह होता तो क्षणिक ही है किन्तु यह भी कर्तृत्व और पद के द्वारा उत्पन्न समस्या की ओर इंगित करता है। ब्रह्मा को भी यदि अपने सृष्टि-रचयिता होने का गर्व होगा तो वे भी भूल किए बिना नहीं रह सकते। यही सिद्धान्त अन्य दोनों के लिए भी है। इसलिए अभिन्नता के प्रतिपादन के साथ-साथ इनमें परस्पर युद्ध का भी वर्णन प्राप्त होता है। इनमें कभी विष्णु की विजय का उल्लेख आता है तो कभी शिव विजयी होते हैं। चतुष्टय के रूप में मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार का वर्णन किया जाता है। तत्त्वतः एक होते हुए भी बहुधा इनमें टकराहट होती है। कभी बुद्धि पर अहं की विजय होती है तो कभी अहं और चित्त टकराते हैं। व्यष्टि-जीवन का यह सत्य समष्टि में भी चरितार्थ होता है। ब्रह्मा विराट् पुरुष की बुद्धि हैं, विष्णु चित्त और शंकर अहंकार :

अहंकार सिव बुद्धि अज, मन ससि चित्त महान।
मनुज बास सचराचर, रूप राम भगवान॥

अतः वहाँ भी टकराहट होती है। तब कोई-न-कोई आकर एकता का प्रतिपादन करता है और उससे संघर्ष का उपशमन होकर दोनों एक-दूसरे के गले मिलते हैं, परस्पर स्तुति करते हैं।

श्रीभरत के जीवन में इस प्रकार की विकृति की भी कोई सम्भावना नहीं है। उनका अन्तःकरण पूरी तरह प्रभु से एकाकार है। वे अन्तःकरण-शून्य होकर प्रभु की छाया बन गए हैं। इसी सत्य को दृष्टिगत रखकर प्रभु ने श्रीलक्ष्मण को उद्बोधन करते हुए बताया कि चाहे सारी प्रकृति में भी परिवर्तन आ जाए, किंतु श्रीभरत के जीवन में राज-मद नहीं आ सकता। प्रभु की वाणी सुनते ही श्रीलक्ष्मण अत्यन्त प्रसन्न हुए, क्योंकि श्रीभरत के जीवन में परिवर्तन की कल्पना ने ही उन्हें विक्षुब्ध बना दिया था।

॥ श्रीराम: शरणं मम ॥

बचन सप्रेम लखन पहिचाने ।
करत प्रनामु भरत जियँ जाने ॥
बंधु सनेह सरस एहि ओरा ।
उत साहिब सेवा बस झोरा ॥
× ×
कहत सप्रेम नाइ महि माथा ।
भरत प्रनामु करत रघुनाथा ॥
उठे राम सुनि प्रेम-अधीरा ।
कहुँ पट कहुँ निषंग धनु-तीरा ॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मण ने भरत के प्रेम-भरे वचन पहिचाने, तथा मन में यह समझा कि श्रीभरत प्रणाम कर रहे हैं। इधर भाई के प्रति सरस प्रेम उमड़ रहा था, उधर स्वामी की प्रबल सेवा थी।

श्रीलक्ष्मण ने प्रेम-सहित पृथ्वी पर सिर नवाकर कहा, "प्रभु ! श्रीभरत आपको प्रणाम कर रहे हैं।" यह सुनते ही श्रीराम प्रेम में अधीर होकर ऐसे हड़बड़ाकर उठे कि प्रभु का वस्त्र कहीं, तूणीर कहीं, धनुष कहीं और बाण कहीं गिरा। कृपा-निधान श्रीराम ने भरत को बलपूर्वक उठाकर छाती से लगा लिया। राम और भरत का यह मिलाप देखकर सब लोग अपनी सुध-बुध भूल गए।

चित्रकूट में प्रेममूर्ति भरत और सच्चिदानन्द-घन श्रीराम के मिलन का जो चित्र गोस्वामीजी ने प्रस्तुत किया है, वह भावनात्मक और तात्त्विक दोनों ही दृष्टियों से सर्वथा अनुपम है। श्रीराम और भरत का मिलन तो लंका की विजय के पश्चात् अवध की पावन भूमि में भी होता है किन्तु दोनों स्थानों का भाव-रस सर्वथा भिन्न प्रतीत होता है। व्यावहारिक दृष्टि से परिस्थिति की भिन्नता इसका कारण है, किन्तु यह बुद्धि और चित्त की भूमि में जीव और ईश्वर के मिलन के पार्थक्य को प्रकट करता है।

आध्यात्मिक अर्थों में अयोध्या बुद्धि की भूमिका सम्पन्न करती है, यह धर्म-राज्य है। चित्रकूट चित्त का प्रतीक है और भक्तों की दृष्टि में वह, शुद्ध प्रेम-राज्य है। अयोध्या व्यवहार की भूमिका सम्पन्न करती है। चित्रकूट की भूमि व्यवहार के स्थान पर परमार्थ के दिव्य तत्त्व को प्रकट करती है। यह निर्विकल्प समाधि की भूमिका है। रामचरितमानस की दृष्टि समन्वयमूलक है, इसीलिए इसमें व्यवहार और परमार्थ, धर्म और प्रेम के समन्वय के सूत्र प्रस्तुत किए गए हैं। अतः इन दोनों भूमियों में मिलन के तत्त्व का अधिक गम्भीरता से अध्ययन किया जाना चाहिए।

सन्तुलित व्यक्ति के जीवन में व्यवहार की आधार-भूमि बुद्धि ही होती है। जब किसी व्यक्ति के जीवन में बुद्धि का स्थान मन ले लेता है तब वह उच्छृंखल, उद्दण्ड और उन्मादी हो जाता है। मन प्रतिक्षण परिवर्तनशील है, अतः जिन व्यक्तियों के जीवन में व्यवहार का आधार मन होता है, उन्हें पागल कह सकते हैं। ऐसा नहीं है कि मन में सद्भावों का उदय न होता हो, किन्तु बुद्धि की दृढ़ आधार-भूमि के अभाव में यह वायु द्वारा सञ्चालित तिनके की तरह है। जैसे हवा के झोंके से उड़ने वाला तृण कब आकाश की ऊँचाइयों में विहार करेगा, कब देवमन्दिर के शिखर पर पहुँच जाएगा, और कब नाली के अपवित्र जल में पड़कर मलिनता से लिपट जाएगा—इसे कोई नहीं जानता है। इसीलिए मन-प्रेरित जीवन उन्मादी जीवन है, भले ही कुछ क्षणों के लिए उसमें उच्च-से-उच्चतर भावों की अभिव्यक्ति ही क्यों न हो। विनयपत्रिका के इस मार्मिक पद में तुलसी ने मन का बड़ा ही यथार्थवादी चित्र प्रस्तुत किया है :

दीनबंधु सुखसिंधु कृपाकर कारुनीक रघुराई।
सुनहु नाथ! मन जरत, त्रिबिध जुर करत फिरत बौराई ॥१॥
कबहुँ जोगरत, भोग-निरत सठ, हठ बियोग-बस होई।
कबहुँ मोहबस द्रोह करत बहु, कबहुँ दया अति सोई ॥२॥
कबहुँ दीन, मतिहीन, रंकतर, कबहुँ भूप अभिमानी।
कबहुँ मूढ़ पंडित बिडंब-रत, कबहुँ धर्म-रत ग्यानी ॥३॥
कबहुँ देव! जग धनमय रिपुमय, कबहुँ नारिमय भासै।
संसृति-संनिपात दारुन दुख, बिनु हरि-कृपाँ न नासै ॥४॥
संजम, जप, तप, नेम, धर्म, ब्रत, बहु भेषज-समुदाई।
तुलसिदास भव-रोग रामपद-प्रेम-हीन नहिं जाई ॥५॥

किन्तु बुद्धि की भूमि सर्वथा समस्या-मुक्त हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। मन का दण्डकारण्य समस्याओं से आक्रान्त है ही, किन्तु बुद्धि की भूमि अयोध्या

भी कभी-कभी विकट स्थिति में पड़ जाती है। क्योंकि उस बुद्धि में भी भ्रम की सम्भावना बनी रहती है। इसीलिए जब तक चित्त की भूमि में प्रविष्ट होकर व्यक्ति ईश्वर का साक्षात्कार नहीं कर लेता, जब तक उनसे मिलकर तात्त्विक और भावनात्मक एकता का सुख नहीं पा लेता, तब तक व्यवहार में भ्रान्ति और भूल की सम्भावना बनी रहेगी। बुद्धि की भूमि में ईश्वर को स्वीकार करने वाले अनगिनत लोग होते हैं। किन्तु बुद्धि के द्वारा जाना गया ईश्वर जब तक वास्तविक अनुभूति का विषय नहीं बन जाता है, तब तक आस्तिकता अधूरी ही रहेगी।

व्यवहार की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि राम-राज्य है, इसमें दो मत नहीं हो सकते। व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध और सर्वाङ्गीण विकास की चरम सार्थकता राम-राज्य में ही दिखायी देती है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति दरिद्रता, दीनता और अभावों से मुक्त है; सुखी, सच्चरित्र और सुन्दर है; जहाँ काल, कर्म, स्वभाव और गुण जीव को दुःख नहीं दे पाते हैं। इससे बढ़कर सामाजिक स्थिति का उत्कृष्ट दर्शन नहीं हो सकता है। मानस के राम-राज्य का वर्णन पढ़कर स्पष्ट हो जाता है :

दैहिक दैविक भौतिक तापा।
राम राज नहिं काहुहि ब्यापा।।
सब नर करहिं परसपर प्रीती।
चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती।।
चारिउ चरन धर्म जग माहीं।
पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं।।
राम भगति रत नर अरु नारी।
सकल परम गति के अधिकारी।।
अल्पमृत्यु नहिं कवनिउ पीरा।
सब सुन्दर सब बिरुज सरीरा।।
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना।
नहिं कोउ अबुध न लच्छनहीना।।
सब निर्दम्भ धर्मरत पुनी।
नर अरु नारि चतुर सब गुनी।।
सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी।
सब कृतग्य नहिं कपट सयानी।।
रामराज नभगेस सुनु, सचराचर जग माहिं।
काल कर्म सुभाव गुन-कृत दुख काहुहि नाहिं।।

ये सारे चमत्कार बुद्धि की ही भूमि में सम्पन्न होते हैं। किन्तु यह कब और कैसे हो, यही प्रश्न मुख्य है। महाराज श्रीदशरथ की धारणा थी कि राम-राज्य अयोध्या की भूमि पर तत्काल बनाया जा सकता है, किन्तु उनकी यह धारणा भ्रान्त सिद्ध हुई। उनकी सारी योजना अस्त-व्यस्त हो गयी। उनका यह संकल्प उनके जीवन में साकार नहीं हो सका। यह सब हुआ तो, परंतु चौदह वर्ष के अन्तराल को पार करने के पश्चात्। और इसके लिए भूगोल की भी एक लम्बी परिक्रमा करनी पड़ी। अयोध्या से चित्रकूट, फिर वहाँ से दण्डकारण्य और लंका होते हुए प्रभु के अयोध्या पधारने पर ही इस उत्कृष्ट राम-राज्य की स्थापना हो पायी।

बुद्धि-भूमि की क्या समस्याएँ हो सकती हैं, इसका परिचय अयोध्या-काण्ड के प्रारम्भ में प्राप्त होता है। किसी की बुद्धि में मंथरा के समान मंदता आ जाती है तो कहीं कैकेयी के सदृश बुद्धि भ्रमित हो जाती है। महाराज श्रीदशरथ के समान बुद्धि में किंकर्तव्यविमूढ़ता भी आ ही जाती है। ऐसी स्थिति में मंदता, भ्रान्ति और अनिर्णय के कारण राम-राज्य की स्थापना होते-होते रुक जाती है। बुद्धि के इन दोषों का निराकरण चित्रकूट की चित्तभूमि में ही होता है। इसीलिए चित्रकूट का यह दिव्य मिलन केवल दो भाइयों का मिलन-मात्र ही नहीं है, यह जीव और ब्रह्म का, भक्त और भगवान् का मिलन भी है। इस पृष्ठभूमि में विचार करने पर चित्रकूट के मिलन का रहस्य सच्चे अर्थों में हृदयङ्गम किया जा सकता है। और तब यह समझना भी कठिन नहीं रहता कि चित्रकूट और अयोध्या के मिलन में पार्थक्य क्यों है।

श्रीराम और भरत के रूप-साम्य की चर्चा मानस के अनेक प्रसङ्गों में की गयी है :

भरत राम हीं की अनुहारी।
सहसा लखि न सकहिं नर नारी ॥
लखन सत्रुसूदन एक रूपा।
नख सिख ते सब अंग अनूपा ॥

यह साम्य केवल वाह्य आकृति में ही नहीं था, दोनों का एक-दूसरे के प्रति अनिर्वचनीय प्रगाढ़ प्रेम भी था जिसे अनेक पंक्तियों में प्रकट किया गया है :

अवलोकनि बोलनि मिलनि, प्रीति परसपर हास।
भायप भलि चहु बंधु की, जल माधुरी सुबास ॥

किन्तु इस प्रीति में भेद उत्पन्न करने का प्रयास किया गया। अविद्या माया रूपा मंथरा के द्वारा कैकेयी में भेद-बुद्धि उत्पन्न करने का प्रयास हुआ। भेद-ग्रस्त बुद्धि न केवल ब्रह्म के स्थान पर जीव को प्रतिष्ठित करना चाहती है, अपितु देश और काल के व्यवधान के द्वारा दोनों को एक-दूसरे से सर्वथा दूर कर देना चाहती है। एक बार तो ऐसा प्रतीत हुआ कि वह अपने प्रयास में पूरी सफल रही। किन्तु देश, काल और परिस्थितियों का कोई व्यवधान जीव और ब्रह्म को एक-दूसरे से पृथक् नहीं बना सकता है। भेद-बुद्धि का यह प्रयास तभी सफल हो सकता है जब जीव ईश्वर से अपने वास्तविक सम्बन्ध को भूलकर स्वयं को देह मान बैठे। किन्तु श्रीभरत तो देहभाव से सर्वथा मुक्त हैं। इसीलिए शरीर के व्यावहारिक सम्बन्ध की स्वीकृति को भी छोड़ देने में उन्हें एक क्षण का समय नहीं लगा; श्रीभरत द्वारा कैकेयी के मातृत्व की अस्वीकृति का तात्पर्य यही है। यदि देह-बुद्धि जीव और ब्रह्म में व्यवधान उत्पन्न करने का प्रयास करे तो उसका सर्वतोभावेन परित्याग ही अपेक्षित है। अविद्या का खोटापन भी पूरी तरह इसी प्रसङ्ग में परिलक्षित होता है। मंथरा को दासी के रूप में अयोध्या के राज्य-महल में स्वीकार कर लिया गया था। यह भेद-बुद्धि की व्यावहारिक स्वीकृति-मात्र थी। व्यवहार में कुछ भेद तो स्वीकार करने ही पड़ते हैं, किन्तु जब यह व्यवहार के माध्यम से परमार्थ में भी प्रविष्ट होने की चेष्टा करे, तब इस पर कसकर प्रहार किया जाना चाहिए। श्रीशत्रुघ्न के द्वारा यही भूमिका सम्पन्न की गयी :

तेहि अवसर कुबरी तहँ आई।
बसन बिभूषन बिबिध बनाई॥
लखि रिस भरेउ लखन लघु भाई।
बरत अनल घृत आहुति पाई॥
हुमगि लात तकि कूबर मारा।
परि मुहँ भर महि करत पुकारा॥
कूबर टूटेउ फूट कपारू।
दलित दसन मुख रुधिर प्रचारू॥
आह दइअ मैं काह नसावा।
करत नीक फलु अनइस पावा॥
सुनि रिपुहन लखि नखसिख खोटी।
लगे घसीटन धरि-धरि झोंटी॥

शत्रुघ्न द्वारा उसके कूबर पर किया जाने वाला प्रहार उसकी कुटिलता की वृत्ति पर प्रहार है, जो दूसरों को लाभ का लोभ देकर भ्रान्त बनाती है। श्री-भरत न केवल कैकेयी से सम्बन्ध का त्याग कर देते हैं अपितु धर्म-सम्मत भोगों को भी अस्वीकार कर देते हैं। इस विषय में गुरु वशिष्ठ के भाषण से भी वे भ्रमित नहीं हुए। उन्हें यह ज्ञात था कि उनका परम कल्याण चित्रकूट जाकर प्रभु का साक्षात्कार करने में है। बहुधा जीव की बुद्धि भौतिक प्रलोभनों में फँसकर विषय और सत्ता के उपभोग में संलग्न हो जाती है। किन्तु जिनकी बुद्धि शुद्ध है, और जो लोभ और भय के हिरण्याक्ष का वध करने में समर्थ हैं, वही चित्त की दिशा में अभिमुख हो सकते हैं। ब्रह्म का वास्तविक साक्षात्कार संस्कार-रहित शुद्ध चित्त की भूमि में ही होता है। मन के द्वारा किया जाने वाला ईश्वर का ध्यान केवल क्षणिक रस की सृष्टि कर सकता है। बुद्धि के द्वारा किया गया ईश्वरीय विचार केवल भ्रान्तियों का ही निवारण करता है। किन्तु तर्क के द्वारा निष्कर्ष पर पहुँचने वाली बुद्धि विपरीत तर्कों के द्वारा विचलित भी हो सकती है। इसलिए तर्क के द्वारा राम के प्रेम का अनुभव करने वाली कैकेयी मंथरा के विपरीत तर्कों के द्वारा विचलित हो जाती है। मिठाई की मिठास की स्वीकृति जब तक तर्कों पर आधारित है तब तक तर्क के द्वारा उसमें कटुता का आरोप भी किया जा सकता है। जिस व्यक्ति को मिठाई की मिठास का अनुभव अपनी जिह्वा के द्वारा हो चुका है, उसे तर्क में पराजित तो किया जा सकता है, किन्तु उसकी अनुभूति को झुठलाया नहीं जा सकता। ठीक इसी तरह बुद्धि के द्वारा स्वीकृत ईश्वर का गौरव खण्डित हो सकता है, परन्तु चित्त की भूमि में अनुभूत गौरव के पश्चात् किसी प्रकार की भ्रान्ति उसे विचलित नहीं कर सकती। कैकेयी की भ्रान्ति का समग्र निवारण भी चित्रकूट की भूमि में ही हुआ।

यद्यपि श्रीभरत के द्वारा फटकारे जाने पर कैकेयी की आसक्ति कम हो गयी, श्रीभरत के प्रति उनका मिथ्या विमोह दूर हो गया, किन्तु यह आशंका तो बनी ही हुई थी कि मंथरा ने जब सूचना दी थी, तब भले ही श्रीराम में परिवर्तन न आया हो, किन्तु मेरे कटु व्यवहार से अब तो वे रुष्ट हो ही गए होंगे। इससे ही यह ज्ञात हो जाता है कि बुद्धि तर्क के द्वारा सही निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाती है। परन्तु चित्रकूट की यात्रा में कैकेयी की भ्रान्ति पूरी तरह मिट गयी। श्रीराम ने चित्रकूट में भी पहले के ही समान कैकेयी को सारी माताओं से अधिक आदर प्रदान किया। उनकी भूलों के लिए काल, कर्म और विधि को भागीदार बताया। तब कैकेयी को यह लगा कि राम के विषय में उनकी धारणा कितनी भ्रान्त थी :

प्रथम राम भेंटी कैकेयी।
सरल सुभायँ भगति मति भेई।।

पग परि कीन्ह प्रबोध बहोरी।
काल करम बिधि सिर धरि खोरी ।।

× ×

लखि सिय सहित सरल दोउ भाई।
कुटिल रानि पछितानि अघाई ।।

श्रीभरत की चित्रकूट-यात्रा योग की भाषा में निर्विकल्प समाधि की स्थिति में प्रवेश है। प्रभु से मिलन के पहले सांसारिक विकल्प न सही, किन्तु भावनात्मक विकल्प तो उठते ही हैं। ये विकल्प श्रीभरत के अन्तःकरण में भी आते हैं। यद्यपि वे विकल्प उनके निष्कर्ष को प्रभावित नहीं कर पाते हैं। विषयी व्यक्ति के जीवन में जो विकल्प होते हैं, उनमें और इनमें बड़ी भिन्नता है। विषयी व्यक्ति के विकल्प का केन्द्र भोग और त्याग में से एक के चुनाव का होता है; किन्तु भरत के जीवन में इस प्रकार का कोई विकल्प विद्यमान नहीं है। साधन-काल में ईश्वर की स्मृति को लेकर उनके मन में जो विकल्प आते हैं, उससे वे यह नहीं समझ पाते कि श्रीराम के द्वारा उन्हें स्नेह प्राप्त होगा अथवा तिरस्कार। किन्तु ये विकल्प भी उन्हें चित्रकूट-यात्रा से विरत नहीं कर पाते हैं। क्योंकि उनका यह दृढ़ निश्चय है कि प्रभु कैसा भी व्यवहार क्यों न करें, उनके अनन्याश्रय तो एकमात्र वे ही हैं :

समुझि मातु करतब सकुचाहीं।
करत कुतरक कोटि मन माहीं ।।
रामु लखनु सिय सुनि मम नाऊँ।
उठि जनि अनत जाहिं तजि ठाऊँ ।।
मातु मते महुँ मानि मोहि, जो कछु करहिं सो थोर।
अघ अवगुन छमि आदरहिं, समुझि आपनी ओर ।।
जौं परिहरहिं मलिन मनु जानी।
जौं सनमानहिं सेवकु मानी ।।
मोरें सरन रामहि की पनही।
राम सुस्वामि दोसु सब जनही ।।

समस्त विकल्पों को पार करते हुए श्रीभरत चित्रकूट में पहुँचते हैं। इस यात्रा में निषादराज ने ही आचार्य की भूमिका सम्पन्न की है। उन्हें राघवेन्द्र से अपने सम्बन्ध का पूर्ण बोध है। उनके जीवन का समस्त दैन्य मिट चुका है। इसलिए श्रीभरत के द्वारा कुशल-प्रश्न पूछे जाने पर आत्म-विश्वास और गौरव से भरे हुए स्वर में स्वयं के 'भुवन-भूषण' होने की उन्होंने स्वीकृति दी :

कपटी कायर कुमति कुजाती।
लोक बेद बाहेर सब भाँती।।
राम कीन्ह आपन जबही तें।
भयउँ भुअन भूषन तबही तें।।

इसका स्पष्ट तात्पर्य है कि देह से सम्वद्ध जाति-आदि की उपाधियों से ईश्वर के सम्वन्ध में कोई बाधा नहीं पड़ती है। निषादराज के हृदय में यह दृढ़ निश्चय विद्यमान है, इसीलिए श्रीभरत ने उनसे मार्ग-दर्शन का अनुरोध किया है। श्री-निषादराज के मार्ग-दर्शन में ही श्रीभरत चित्रकूट की यात्रा सम्पन्न करते हैं। चित्रकूट के आश्रम में प्रवेश के पहले ही निषादराज एक ऊँची पहाड़ी से श्रीभरत को उन वृक्षों का दर्शन कराते हैं जिनके नीचे प्रभु निवास करते हैं :

तब केवट ऊँचे चढ़ि धाई।
कहेउ भरत सन भुजा उठाई।।
नाथ देखिअहिं बिटप बिसाला।
पाकरि जंबु रसाल तमाला।।
जिन्ह तरुबरन्ह मध्य बटु सोहा।
मंजु बिसाल देखि मनु मोहा।।
नील सघन पल्लव फल लाला।
अबिरल छाहँ सुखद सब काला।।
मानहुँ तिमिर अरुनमय रासी।
बिरची बिधि सँकेलि सुषमा-सी।।
ए तरु सरित समीप गोसाईं।
रघुबर परनकुटी जहँ छाई।।
तुलसी तरुबर बिबिध सुहाए।
कहुँ-कहुँ सियँ कहुँ लखन लगाए।।
बट छायाँ बेदिका बनाई।
सियँ निज पानि सरोज सुहाई।।
जहाँ बैठि मुनि गन सहित, नित सिय राम सुजान।
सुनहिं कथा इतिहास सब, आगम निगम पुरान।।

निषादराज का दौड़ते हुए ऊपर चढ़ जाना उनकी सिद्ध स्थिति का परिचायक है। वे जब चाहें तभी व्यवहार की भूमि से ऊपर उठकर परमार्थ की पहाड़ी पर पहुँच सकते हैं और वहीं से वे उस आश्रम की ओर इंगित करते हैं जहाँ तक

भगवान् का दर्शन करने के लिए भक्त को चलकर जाना है। यात्रा की लम्बाई में बीच-बीच में ईश्वर के प्रभाव, स्वभाव या तत्त्व की झलक साधक को प्रोत्साहित करती रहती है। श्रीभरत के हृदय में तो सदैव अनुराग की प्रेरक वृत्ति विद्यमान है, किन्तु इस दर्शन से उनका उत्साह और अनुराग और भी अधिक बढ़ गया। अब तो उन्हें प्रतिक्षण भाव-राज्य में मिलन के रस की अनुभूति हो रही है :

सखा बचन सुन बिटप निहारी।
उमगे भरत बिलोचन बारी॥
करत प्रनामु चले दोउ भाई।
कहत प्रीति सारद सकुचाई॥
हरषहिं निरखि राम पद अंका।
मानहुँ पारसु पायउ रंका॥
रज सिर धरि हियँ नयनन्हि लावहिं।
रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं॥

इस सुखानुभूति को भी गोस्वामीजी ने कई स्तरों में विभाजित किया है। वे क्रमशः इस प्रकार हैं।

सर्वप्रथम श्रीभरत वन का दर्शन करते हैं। उस समय उन्हें जिस सुख की उपलब्धि होती है, उसका वर्णन गोस्वामीजी इस प्रकार करते हैं :

भरत दीख बन सैल समाजू।
मुदित छुधित जनु पाइ सुनाजू॥
ईति भीति जनु प्रजा दुखारी।
त्रिबिध ताप पीड़ित ग्रह मारी॥
जाइ सुराज सुदेस सुखारी।
होहिं भरत गति तेहि अनुहारी॥

उसके पश्चात् श्रीभरत को 'कामद गिरि' का दर्शन होता है। जहाँ प्रथम दर्शन में 'सुखी प्रजा' की मनोवृत्ति परिलक्षित होती है, वहाँ वे 'शैल-दर्शन' से तपस्वी के सुख-जैसी अनुभूति में प्रविष्ट होते हैं :

राम सैल सोभा निरखि, भरत हृदयँ अति पेमु।
तापस तप फल पाइ जिमि, सखी सिराने नेमु॥

इसके बाद वे उस आश्रम की सीमा में प्रविष्ट होते हैं जहाँ प्रभु का निवास

है। उस समय की उनकी मनःस्थिति की तुलना योगी से की गयी है। तपस्या में साधना का केन्द्र शरीर होता है, वहाँ योगी शरीर से ऊपर उठकर साधना का केन्द्र मन को बनाता है। शरीर सुख-दुःख की अनुभूति का माध्यम-मात्र है, वह अनुभूति तो वस्तुतः मन को ही होती है। इसलिए तप की अपेक्षा योग की साधना को उत्कृष्ट बताया गया है। इस समय श्रीभरत योगी की मनःस्थिति में हैं :

करत प्रबेस मिटे दुख दावा।
जनु जोगी परमारथु पावा॥

किन्तु अब भी सुख अवशिष्ट है। यह दुःख का विकल्प है। सुखानुभूति के शेष रहते हुए यह दावा नहीं किया जा सकता है कि दुःख पुनः लौटकर नहीं आएगा। सुख एक ऐसा विकल्प है जो दुःख को सदा अपने अन्तराल में छिपाये रहता है। इसलिए परमानन्द की उपलब्धि के लिए सुख-दुःख के द्वन्द्व से मुक्त होना होगा। श्रीभरत की यह स्थिति तब होती है जब वे वेदी पर विराजमान श्रीराघवेन्द्र का दर्शन करते हैं। इन क्षणों में वे द्वन्द्व से सर्वथा मुक्त हो गये :

बेदी पर मुनि साधु समाजू।
सीय सहित राजत रघुराजू॥
बलकल बसन जटिल तनु स्यामा।
जनु मुनि बेष कीन्ह रति-कामा॥
कर कमलनि धनु सायकु फेरत।
जिय का जरनि हरत हँसि हेरत॥
लसत मंजु मुनि मंडली, मध्य सीय रघुचंदु।
ग्यान सभा जनु तनु धरे, भगति सच्चिदानंदु॥
सानुज सखा समेत मगन मन।
बिसरे हरष सोक सुख दुख गन॥

किन्तु अभी तो प्रभु के मिलन से उत्पन्न स्थिति का आनन्द अवशिष्ट था। प्रारम्भिक तीन स्तरों में जिस सुख की अनुभूति उन्हें होती है, उसके लिए गोस्वामीजी कोई-न-कोई उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। पहले प्रजा, फिर तपस्वी, और उसके पश्चात् योगी की मनःस्थिति से उनकी तुलना की गयी। किन्तु चौथे स्तर के लिए वे कोई दृष्टान्त नहीं दे पाते। क्योंकि साधन-जगत् की भाषा में योगी ही सर्वोच्च माना जाता है। गीता में श्रीकृष्ण योगी को—ज्ञानी, तपस्वी एवं कर्मी की अपेक्षा भी—श्रेष्ठ बताते हुए अर्जुन को योगी होने का उपदेश देते हैं :

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ।।

गोस्वामीजी आश्रम-प्रवेश में ही योग-स्थिति की उपमा दे चुके थे, इसलिए वे चतुर्थ स्थिति में कोई उपमा नहीं दे पाते । श्रीकृष्ण योगियों में भी एक विशिष्ट योगी को मान्यता प्रदान करते हैं :

योगिनामपि सर्वेषां मद्गते नान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ।।

"सम्पूर्ण योगियों में भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगा हुआ अन्तरात्मा से मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ और मान्य है ।"

श्रीभरत की चौथी मनःस्थिति के लिए योगियों में भी श्रेष्ठ योगी के दृष्टान्त का प्रयोग किया जा सकता था । क्योंकि योगी से भिन्न कोई नाम नहीं लिया जा सकता था, इसलिए इस शब्द की पुनरुक्ति न करके गोस्वामीजी ने उस स्थिति का वर्णन-मात्र कर दिया । किन्तु मिलन की दिव्य स्थिति के विषय में वे पूरी तरह मौन साध लेते हैं, क्योंकि यह अनिर्वचनीय स्थिति है । यह एकत्व का वह क्षण है जब जीव और ईश्वर की उपाधियाँ मिट जाती हैं । इस स्थिति में पहुँचकर द्वैत पूरी तरह समाप्त हो जाता है । क्योंकि तब मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—इन चारों में से एक भी अवशिष्ट नहीं रह जाता । यही योगियों की निर्विकल्प समाधि और प्रेमियों का प्रेमाद्वैत है । ज्ञानी इसी को ब्रह्मात्मैक्य-बोध कहते हैं ।

वस्तुतः श्रीभरत साधक मात्र नहीं हैं, वे तो मानस के सिद्ध पात्र हैं। निषाद-राज अथवा किसी अन्य के आचार्यत्व में ब्रह्म की उपलब्धि का प्रश्न भी उनके सामने नहीं है । इसी तथ्य की ओर संकेत करने के लिए तुलसी ने चित्रकूट के सन्निकट श्रीनिषादराज के द्वारा मार्ग भूल जाने का वर्णन किया है । श्रीभरत की स्नेहमयी स्थिति को देखकर निषादराज भी प्रेम के कारण मार्ग भूल गए तब देवताओं ने पुष्पों की वर्षा करते हुए मार्ग का संकेत दिया :

देखि भरत गति अकथ अतीवा ।
प्रेम मगन मृग खग जड़ जीवा ।।
सखहि सनेह बिबस मग भूला ।
कहि सुपंथ सुर बरषहिं फूला ।।

श्रीभरत की स्थिति निषादराज की अपेक्षा कहीं आगे है । किन्तु श्रीभरत में इतनी निरभिमानिता है कि वे किसी को भी आचार्यत्व का सम्मान दे सकते हैं ।

उनके चरित्र के माध्यम से साधक को साधन-पथ का समग्र ज्ञान प्राप्त होता है। इसलिए वे, सिद्ध और साधक, दोनों के लिए समान रूप से प्रेरक हैं। यही संकेत गोस्वामीजी ने इन पंक्तियों में दिया है :

निरखि सिद्ध साधक अनुरागे।
सहज सनेहु सराहन लागे॥
होत न भूतल भाउ भरत को।
अचर सचर चर अचर करत को॥

चित्रकूट में श्रीभरत और भगवान् राम का मिलन आध्यात्मिक दृष्टि से तो अनुपम है ही, भावना और प्रेम की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति भी इसी प्रसंग में हुई है। इस दृष्टि से भी इस प्रसंग पर विचार किया जाना चाहिए।

"वट वृक्ष की छाया में विशाल वेदिका पर भगवती सीता के साथ कोसलेन्द्र विराजमान हैं। चारों ओर से मुनि-मंडली भी प्रभु को घेरे हुए बैठी है। श्री-लक्ष्मण प्रभु के समक्ष खड़े होकर अनुराग-भरे स्वर में वार्तालाप कर रहे हैं।" तुलसी इस अवसर का एक भाव-भरा शब्द-चित्र अंकित करते हैं :

देखे भरत लखन प्रभु आगे।
पूँछे बचन कहत अनुरागे॥
सीस जटा कटि मुनि पट बाँधे।
तून कसे कर सर धनु काँधे॥
बेदी पर मुनि साधु समाजू।
सीय सहित राजत रघुराजू॥
बलकल बसन जटिल तनु स्यामा।
जनु मुनि वेष कीन्ह रति-कामा॥
कर कमलनि धनु सायक फेरत।
जिय की जरनि हरत हँसि हेरत॥
लसत मंजु मुनि मंडली, मध्य सीय रघुचंदु।
ग्यान सभा जनु तनु धरे, भगति सच्चिदानंदु॥

श्रीभरत आश्रम में प्रभु के पृष्ठ-भाग से प्रविष्ट होते हैं। दैन्य के कारण वे प्रभु के समक्ष आने का साहस नहीं कर पाते हैं। उनकी आन्तरिक मनोभावना यह है कि प्रभु के सम्मुख जाने के लिए अन्तःकरण में जिस प्रकार की योग्यता होनी चाहिए, वैसी योग्यता मुझमें रंचमात्र नहीं है। प्रभु ने शरणागति और सम्मुख होने के लिए कुछ सूत्र दिए हैं। वे कहते हैं, "यद्यपि मेरी शरणागति का द्वार सब

के लिए खुला हुआ है, किन्तु दुष्ट हृदय वाला व्यक्ति मेरे सम्मुख आता ही नहीं है। यदि कोई व्यक्ति समस्त ब्रह्माण्ड का विरोधी होते हुए भी मद, मोह, कपट और छल का परित्याग कर मेरी शरण में आ जाए, तो मैं तत्काल उसे साधु के समान बना देता हूँ'' :

जौं पै दुष्ट हृदय सोइ होई।
मोरे सनमुख आव कि सोई।।
निर्मलमन जन सो मोहि पावा।
मोहि कपट-छल-छिद्र न भावा।।

× ×

जौं नर होइ चराचर द्रोही।
आवइ सभय सरन तकि मोही।।
तजि मद मोह कपट छल नाना।
करउँ सद्य तेहि साधु समाना।।

श्रीभरत को वे सारे दोष स्वयं में दिखायी देते हैं जिनके परित्याग का प्रभु ने आदेश दिया है। साथ ही उन्हें यह स्मृति भी व्यथित बना रही है कि मेरे ही कारण कष्ट उठाते हुए प्रभु को वनवासी बनना पड़ा है। मैं कौन-सा मुँह लेकर उनके सामने जाऊँ ? किन्तु प्रभु की करुणा पर अगाध विश्वास के कारण उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि जिनमें प्रभु के सम्मुख होने की योग्यता नहीं होती, प्रभु स्वयं ही उनके सम्मुख हो जाया करते हैं। जीव की सम्मुखता का महत्त्व ही क्या है ? वह सम्मुख होने के बाद भी विमुख हो सकता है; किन्तु प्रभु सम्मुख होने के बाद कभी जीव से विमुख होते ही नह । इसी विश्वास के आधार पर उन्होंने प्रभु को साष्टांग प्रणाम करते हुए दूर से ही पुकारा :

पाहि नाथ कहि पाहि गोसाईं।
भूतल परे लकुट की नाईं।।

श्रीभरत की प्रेम-भरी पुकार को श्रीलक्ष्मण ने पहिचाना। यहाँ पर सुनने के स्थान पर 'पहिचाना' शब्द का प्रयोग सांकेतिक है। इससे कुछ समय पहले ही लक्ष्मण ने भरत की कटु आलोचना की थी। देवताओं की आकाशवाणी और प्रभु की भाव-भरी प्रशंसा ने लक्ष्मण का सारा भ्रम दूर कर दिया था। किन्तु प्रभु ने लक्ष्मण का वह प्रेम और उलाहने से भरा हुआ वाक्य नहीं भुलाया था, जिसमें उन्होंने प्रभु की परख पर सन्देह प्रकट किया था। उनका कथन यह था कि आप इतने सहृदय, सरल और भोले हैं कि किसी पर भी विश्वास कर लेते हैं; और उसे

सर्वथा अपने समान सिद्ध करने का प्रयास करते हैं :

नाथ सुहृद सुठि सरल चित, सील सनेह निधान।
सब पर प्रीति प्रतीति जियँ, जानिअ आपु समान।।

इसलिए प्रभु ने श्रीभरत का स्वर सुनकर भी मौन साधकर बैठे रहना ही उचित समझा। उनका तात्पर्य यह था कि जब पारखी लक्ष्मण भरत को प्रेम का प्रमाण-पत्र दे देगा तभी मैं उनसे मिलूँगा। इसलिए गोस्वामीजी ने यह कहने के स्थान पर कि श्रीभरत की वाणी को लक्ष्मण ने सुना, यह कहना अधिक उपयुक्त माना कि श्रीभरत की प्रेम-रस-भरी वाणी को लक्ष्मण ने पहिचाना :

बचन सप्रेम लखन पहिचाने।
करत प्रनामु भरत जियँ जाने।।

केवल श्रीराम के प्रति स्नेहाधिक्य और सेना का नाम सुनकर वे भड़क उठे थे। इस प्रसंग के माध्यम से प्रभु लक्ष्मण के हृदय की सरलता को भी संसार के सामने प्रकट करना चाहते थे। कुछ समय पहले लक्ष्मण जिन भरत का वध करने के लिए प्रस्तुत हो गए थे, उन्हीं का स्वागत करने के लिए वे प्रभु की अपेक्षा अधिक उत्सुक हो उठे।

श्रीभरत की प्रेम-भरी वाणी ने उन्हें प्रारम्भ में ही इतना भाव-विह्वल बना दिया कि एक क्षण के लिए उनके मन में इच्छा हुई कि प्रभु को सूचना देने के पहले वे स्वयं श्रीभरत के चरणों में प्रणाम कर लें, पर अगले ही क्षण सेवा-धर्म की स्मृति ने उन्हें शान्त बना दिया :

बचन सप्रेम लखन पहिचाने।
करत प्रनामु भरत जियँ जाने।।
बंधु सनेह सरस एहि ओरा।
उत साहिब सेवा बस जोरा।।
मिलि न जाइ नहिं गुदरत बनई।
सुकबि लखन मन की गति भनई।।
रहे राखि सेवा पर भारू।
चढ़ी चंग जनु खैंच खेलारू।।

श्रीलक्ष्मण के चरित्र में यह पहला अवसर था जब उनके अन्तःकरण में विकल्प का उदय हुआ। वे तो सर्वथा निर्विकल्प थे। उनका निर्णय बड़ा स्पष्ट था। प्रभु को छोड़कर वे किसी सम्बन्ध को स्वीकार करते ही नहीं हैं। वे गुरु-

पिता-माता किसी को नहीं जानते। उनके सर्वस्व तो केवल श्रीराम हैं :

गुर पितु मातु न जानउँ काहू।
कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू।।
× ×
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी।
दीनबंधु उर अंतरजामी।।

यह केवल उनका वाणी-विलास नहीं था; उनके प्रत्येक क्रिया-कलाप में यह सत्य मुखर है। अभी कुछ समय पहले वे अपने सगे भाई शत्रुघ्न का वध करने के लिए व्यग्र थे। किन्तु आज इन क्षणों में वे बदले हुए-से प्रतीत होते हैं। 'भाई भरत का सरस सनेह' उन्हें ललचा रहा है। 'बंधु सनेह सरस एहि ओरा' की यह नन्हीं-सी पंक्ति इतने बड़े आश्चर्य की सूचना दे रही है कि उसकी कोई तुलना नहीं हो सकती। यह नया बंधुत्व का नाता उनमें कहाँ से आ गया ? सत्य तो यह है कि लक्ष्मण का अपना कोई बन्धु अब भी नहीं है, पर उनके सम्बन्धियों का एक भिन्न प्रकार का समूह है, जिसका सूत्र वह है जिसे वन-यात्रा से पहले सुमित्रा अम्बा ने दिया था—"संसार में पूज्य और प्रिय जो भी हैं, उन सबको राम के नाते से ही मानना चाहिए" :

पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते।
सब मानिअहिं राम के नाते।।

इसी सूत्र ने इस नये बन्धुत्व की सृष्टि की है। श्रीभरत के आगमन से पहले रामभद्र ने लक्ष्मण से कहा था, "लक्ष्मण ! मैं तुम्हारी शपथ और पिताजी की आन लेकर कह सकता हूँ कि भरत के समान पवित्र बन्धु कोई हुआ ही नहीं" :

लखन तुम्हार सपथ पितु आना।
सुचि सुबंधु नहिं भरत समाना।।

श्रीलक्ष्मण के स्थान पर अन्य कोई भाई होता, तो इस तरह का वाक्य सुनते ही रूठ जाता। उसे इसमें स्वयं के अपमान का बोध होता, किन्तु लक्ष्मण के हृदय की विशालता का इससे परिचय प्राप्त होता है, जो भरत की प्रशंसा से पुलकित हो उठा। बाल्यावस्था से ही श्रीलक्ष्मण प्रभु के चरणों के अनन्यानुरागी रहे हैं। उनका प्रतिक्षण श्रीराम के सान्निध्य में व्यतीत होता रहा है। अब भी वे सारा परिवार छोड़कर प्रभु की सेवा में संलग्न हैं। अतः स्वाभाविक तो यह था कि श्री-राम जहाँ जाते, वहाँ लक्ष्मण की सेवा के गुण गाते; किन्तु इसके विपरीत वे जहाँ

जाते हैं, दूर रहनेवाले भरत के गुण ही गाते रहते हैं, और आज तो उन्होंने लक्ष्मण के समक्ष तुलनात्मक भाषा का प्रयोग करते हुए श्रीभरत की श्रेष्ठता का भी प्रतिपादन किया। इसे सुनकर भी जिस भाई के मन में मात्सर्य का उदय नहीं हुआ, ऐसे भाई के विशाल हृदय की सराहना के लिए कोई दृष्टान्त या शब्द नहीं है। साधारणतया उनके स्वर से अभिमान का आभास होता है। पर इन क्षणों में आज यह सिद्ध हो गया कि वे कितने अहंकार-शून्य हैं। उन्हें कहीं प्रणत होने में संकोच नहीं है, केवल उस व्यक्ति में राम-प्रेम होना चाहिए। वे श्रीभरत के माध्यम से भी प्रभु के ही प्रेम का रस-पान करना चाहते हैं। प्रभु के प्रति श्रीभरत के प्रेम की सराहना ही लक्ष्मण के हृदय में उनके प्रति इतनी उत्सुकता उत्पन्न कर देती है कि एक बार उनका मन श्रीभरत से मिलने के लिए मचल उठा। पर अचानक लगा कि मैं तो प्रसाद का ही अधिकारी हूँ। श्रीरामभद्र पहले इस रस का पान कर लें, तभी मुझे प्रभु-प्रेम का दिव्य रस प्रसाद के रूप में प्राप्त होगा।

पृथ्वी पर सिर रखकर उन्होंने प्रभु को श्रीभरत के प्रणाम की सूचना दी। इस प्रणति में अपने अपराध के लिए क्षमा-याचना का भाव भी विद्यमान था। "अनजाने में ही मैंने प्रभु के अनन्यानुरागी के प्रति कटु शब्दों का प्रयोग किया है इसके लिए व्यवहार में तो श्रीभरत से क्षमा-याचना उचित है, पर वस्तुतः इस भूल में अपराध तो प्रभु का ही हुआ है, क्योंकि इनका स्वभाव अपने अपराध पर रुष्ट होना नहीं है। यह तो भक्तापराध को ही अपराध मानते हैं"—ऐसी ही कुछ कल्पना श्रीलक्ष्मण के मन में उठ रही होगी, जब उन्होंने अपना मस्तक भूमि पर रख दिया, 'आपके प्रति अपराध तो हुआ, किन्तु सूचना भी इतनी आनन्ददायी दे रहा हूँ कि जिसकी तुलना में कोई पुरस्कार आपके पास नहीं होगा। श्रीभरत आपको प्रणाम कर रहे हैं" :

कहत सप्रेम नाइ महि माथा।
भरत प्रनाम करत रघुनाथा॥

प्रभु ने यह समाचार सुना और उठ खड़े हुए। किन्तु प्रभु कितनी शीघ्रता से उठे, उसकी वर्णनात्मक अभिव्यक्ति को तुलसीदास शब्द-क्रम के माध्यम से प्रगट करते हैं :

उठे राम सुनि प्रेम अधीरा।
कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा॥

क्रम तो यह था कि 'प्रभु सुनकर उठे', किन्तु गोस्वामी जी पहले 'उठे' शब्द क प्रयोग करने के बाद 'सुनि' शब्द का प्रयोग करते हुए भावनात्मक त्वरा का दर्शना

कराते हैं। प्रभु इतनी शीघ्रता से उठे कि यह कहना कठिन था कि सुनने के बाद उठे कि उठने के बाद यह सूचना सुनी। फिर उठने के बाद भी चलने और दौड़ने की किसी क्रिया का उल्लेख नहीं किया गया। उठने के पश्चात् सीधे मिलन का वर्णन किया गया :

बरबस लिए उठाइ उर, लाए कृपानिधान।
भरत राम की मिलन लखि, बिसरे सबहि अपान।।

यहाँ कवि बड़ी भावनात्मक शैली का आश्रय लेता है। मार्ग में गिरे हुए धनुष, वाण, निषंग और दुपट्टे से ऐसा लगा कि प्रभु इसी मार्ग से गये होंगे। नहीं तो मैंने उठने के बाद उन्हें श्रीभरत को हृदय से लगाए हुए ही देखा। कवि की यह सांकेतिक अभिव्यक्ति है, जिससे वह प्रभु की भाव विह्वल दशा का चित्र प्रस्तुत करता है।

प्रभु की प्रस्तुत की गयी यह छवि हर दृष्टि से अप्रतिम है। सारे रामचरित-मानस में प्रभु की ऐसी भाव-विह्वलता का कोई अन्य चित्र उपलब्ध नहीं होता। श्रीराम का व्यक्तित्व गुणों का पुञ्ज है। धीरता उनका सहज स्वभाव है। उनकी धीरता का परिचय पग-पग पर प्राप्त होता है :

पुरुष सिंह दोउ बीर, हरषि चले मुनि-भय-हरन।
कृपासिंधु मतिधीर, अखिल विस्व कारन-करन।।

× ×

ठाढ़ भए उठि सहज सुभाए।
ठवनि युवा मृग लाज लजाए।।

× ×

सहजहिं चले सकल जग स्वामी।
मत्त मंजु बर कुंजर गामी।।

× ×

सभय बिलोके लोग सब, जानि जानकी भीरु।
हृदयँ न हरष बिषाद कछु, बोले श्री रघुबीरु।।

× ×

जौं नहि फिरहिं धीर दोउ भाई।
सत्यसंध दृढ़व्रत रघुराई।।

× ×

पितु आयसु भूषन बसन, तात तजे रघुबीर।
हृदयँ न हरष बिषाद कछु, पहिरे बलकल चीर।।

धीरता सद्गुण है, क्योंकि उसमें संतुलन है। अधीरता में असन्तुलन की अभिव्यक्ति होती है। उसे दुर्वलता ही कहेंगे। पर यह धीर राम का चित्र नहीं, 'अधीर' राम का चित्र है। अभी कुछ समय बाद गुरुदेव के दर्शन के लिए जाते हुए कोसलेन्द्र की धीरता का चित्र पुनः उभरने वाला है :

सीलसिन्धु सुनि गुरु - आगमनू।
सिय समीप राखेउ रिपुदमनू॥
चले सबेग राम तेहि काला।
धीर धरम धुर दीनदयाला॥

पर इस समय वे एक नये रूप में दर्शन देते हैं 'अधीर राम'; पर यह अधीरता भी प्रेम के कारण है। नदी में स्नान के लिए जाता हुआ व्यक्ति सन्तुलित गति से आगे बढ़ता है, क्योंकि ऊपर से जल की गहराई का ठीक पता नहीं चलता। पैर असावधानी से पड़ा कि जल में 'गुड़प्प' हुआ। तैरना न जाने तो गया ही समझें। किन्तु यह संसार तो सांसारिक नदियों के समान है जिनमें स्नान करने के लिए जाते हुए डूबने से सावधान रहना पड़ता है। परन्तु प्रेम-सरिता पार करने के लिए नहीं बनी है। वह तो डुवानेवाली नदी है। नदी भी कहना उपयुक्त नहीं होगा, यह तो प्रेम-पयोधि है। यहाँ तो डूबने में ही धन्यता है। इसमें तो न डूबने का दावा पशु ही कर सकते हैं। बिहारी ने तो प्रेम-समुद्र में 'गिरि ते ऊँचे रसिक' जनों को डूबते देखा। यह बात और है कि कुछ पशु-प्राणी इसमें नहीं डूब पाते :

गिरि ते ऊँचे रसिक मन, बूड़े जहाँ हजार।
उहै सदा पसु नरन को, पेमपयोधि पगार॥

प्रेम-पयोधि की महिमा उस समय पराकाष्ठा को पहुँच गयी जब पूर्ण ब्रह्म ही उसमें डूब गया। इसलिए यहाँ अधीरता ही सार्थक है। लंका के रणांगण में जिस धर्म-रथ का वर्णन प्रभु के द्वारा किया गया, उसमें शौर्य और धैर्य को रथ के दो चक्रों के रूप में वताया गया है। इस धर्म-रथ पर आरूढ़ होकर युद्ध करने वाला व्यक्ति कभी पराजित नहीं होता है। भगवान् राम के चरित्र में शौर्य और धैर्य का सन्तुलन सर्वत्र विद्यमान है, इसीलिए प्रभु को पराजित करने में कभी कोई शत्रु सफल नहीं हुआ। किन्तु यहाँ शौर्य और धैर्य के दोनों चक्र नहीं दिखाई दे रहे हैं। धैर्य का अभाव तो शब्द के माध्यम से ही प्रगट कर दिया गया है, परन्तु शौर्य का अभाव शस्त्र गिर जाने के प्रतीकात्मक संकेत से ग्रहण किया जा सकता है। प्रारम्भ में ही शौर्य और धैर्य का अभाव पराजय का परिचायक है। बाल्या-वस्था से ही प्रभु श्रीभरत के समक्ष पराजित होते रहे हैं। इस पराजय में ही उन्हें

परम प्रसन्नता का अनुभव होता था। आज भी शस्त्र-त्याग के माध्यम से प्रभु ने अपनी पराजय स्वीकार करली। इस विह्वल मनःस्थिति में प्रभु श्रीभरत को बलात् उठाकर हृदय से लगा लेते हैं। इस दिव्य मिलन में भक्त और भगवान् तो अपने को भूल ही जाते हैं, समस्त मुनि-मंडली भी अपने पृथक् व्यक्तित्व को भूल-कर इस रस से एकाकार हो जाती है। व्यक्तित्व की पृथक्ता और प्रत्येक व्यक्ति का अहं ही संसार में संघर्ष की सृष्टि करता है। किन्तु प्रेम का स्वभाव सदा द्वैत को मिटाकर अद्वैत की सृष्टि करना है। इस अद्वैत स्थिति में किसी प्रकार का भेद शेष नहीं रह जाता।

चित्रकूट का मिलन समग्र एकत्व का परिचायक है। परन्तु लंका-विजय के पश्चात् अयोध्या में सम्पन्न होनेवाला मिलन बुद्धि की व्यवहार-भूमि में होने के नाते किञ्चित् द्वैत से युक्त है। व्यवहार-निर्वाह के लिए द्वैत को स्वीकार करना ही पड़ता है। अयोध्या में गुरु वशिष्ठ-सहित सारा समाज एकत्र था। बुद्धि में स्थित रहकर ही वहाँ व्यवहार और मर्यादा का निर्वाह हो सकता था, इसलिए प्रभु ने वहाँ भरत के प्रेम-पयोधि में स्वयं को पूरी तरह डूबने नहीं दिया। वहाँ भरत को हृदय से लगाकर प्रभु कुशल-प्रश्न भी करते हैं। श्रीभरत गद्गद-कण्ठ से उत्तर देने की चेष्टा करते हैं :

राजीव लोचन स्रवत जल तन ललित पुलकावलि बनी।
अति प्रेम हृदय लगाइ अनुजहि मिले प्रभु त्रिभुवन धनी।।
प्रभु मिलत अनुजहि सोह मो पहि जाति नहिं उपमा कही।
जनु पेमु अरु सिंगारु तनु धरि मिले बर सुषमा लही।। १।।
बूझत कृपानिधि कुसल भरतहि बचन बेगि न आवई।
सुनु सिवा सो सुख बचन मन ते भिन्न जान जो पावई।।
अब कुसल कोसलनाथ आरत जानि जन दरसन दियो।
बूड़त बिरह बारीस कृपानिधान मोहि कर गहि लियो।। २।।

चित्रकूट में व्यवहार का सर्वथा अभाव है। यहाँ कुशल-प्रश्न और उसका उत्तर भी उपलब्ध नहीं है। आनन्द के अतिरेक से उत्पन्न होनेवाले अश्रुओं और रोमांच का भी यहाँ अभाव है। अयोध्या में अश्रुपात और रोमांच के माध्यम से दोनों की विह्वलता प्रकट हो रही है। किन्तु यहाँ तो आनन्द का अनुभविता मन भी शेष नहीं है। इसीलिए यहाँ अश्रु और रोमांच का भी अभाव है। बुद्धि की अनुपस्थिति में कुशल-प्रश्न की जिज्ञासा कहाँ उत्पन्न होती ? यहाँ न तो श्री-राम को अपने राम होने का भान है और न ही श्रीभरत को अपने भरतत्व का, इसलिए यहाँ द्वैतमूलक अहं का भी अभाव है। चित्त भी संस्कार-शून्यता की

स्थिति में पहुँचकर पूरी तरह निर्विकल्प हो चुका है। इस तरह जहाँ पर किसी बाह्य और आन्तरिक संकेत का अभाव है, वहाँ कवि केवल असमर्थता की अनुभूति ही कर सकता है। अतः गोस्वामीजी इस प्रसङ्ग में अपनी असमर्थता को ही अनेक पंक्तियों में व्यक्त करते हैं :

मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी।
कबिकुल अगम करम मन बानी॥
परम पेमु पूरन दोउ भाई।
मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥
कहहु सुपेम प्रगट को करई।
केहि छाया कबि मति अनुसरई॥
कबिहि अरथ आखर बलु साँचा।
अनुहरि ताल गतिहि नटु नाचा॥
अगम सनेह भरत रघुबर को।
जहँ न जाइ मनु बिधि हरि हर को॥
सो मैं कुमति कहौं केहि भाँती।
बाज सुराग कि गाँडर ताँती॥

।। श्रीरामः शरणं मम ।।

पग परि कीन्ह प्रबोधु बहोरी।
काल करम बिधि सिर धरि खोरी।।

"प्रभु ने कैकेयी अम्बा के चरणों पर गिरकर उन्हें सांत्वना दी कि यह सब तो काल, कर्म और विधाता का दोष है।"

रामभद्र द्वारा सम्मानित किए जाने पर भी कैकेयी ग्लानि-मुक्त नहीं हो सकीं, अपितु यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि राम के सद्व्यवहार से उनकी ग्लानि कुछ और अधिक ही बढ़ गयी। किसी के दुर्व्यवहार के बदले में दुर्व्यवहार कर देने पर बदला बराबरी में समाप्त हो जाता है; किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि बुरे व्यवहार के बदले में अच्छा व्यवहार सदा सद्भाव से ही प्रेरित हो।

यदि अपने सद्व्यवहार के द्वारा कोई व्यक्ति दूसरे को लज्जित करने का प्रयास करे, तो यह सद्व्यवहार सद्भावना से प्रेरित नहीं माना जा सकता है। क्योंकि उस समय भी सद्भाव प्रदर्शित करने वाले के अन्तःकरण में सामने वाले को नीचा दिखाने की वृत्ति कार्य करती रहती है। सच्ची सद्भावना का प्रमाण यह है कि व्यक्ति दूसरे के अन्तःकरण की ग्लानि और लज्जा को भी मिटाने का प्रयास करे। और यह तभी सम्भव है कि जब सामने वाले व्यक्ति को यह अनुभूति न हो कि उसके अपराध को क्षमा करके बदले में उदारता प्रदर्शित की जा रही है। अपितु उसके अन्तःकरण को इस प्रकार सन्तुष्ट किया जाय कि उसे यह लगने लगे कि उसने कोई अपराध ही नहीं किया है।

इसीलिए राघव कैकेयी को सम्मान देकर ही सन्तुष्ट नहीं हो गए, वे कैकेयी अम्बा के अन्तःकरण में यह बात पैठा देना चाहते थे कि अयोध्या में जो कुछ भी घटित हुआ है, उसमें उनका रञ्च-मात्र भी कोई अपराध नहीं है। इसके लिए उन्होंने काल-कर्म के दार्शनिक सिद्धान्त का आश्रय लिया। व्यक्ति की स्वतंत्रता और परतन्त्रता को लेकर अनेक बार विवाद उठ खड़ा होता है। क्योंकि कर्म-शास्त्र स्पष्ट यह प्रतिपादन करता है कि व्यक्ति को अपने कर्मों का परिणाम भोगना ही पड़ता है, "अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।" मानस में भी इस सिद्धान्त की पुष्टि की गयी है :

करम प्रधान बिस्व करि राखा।
जो जस करइ सो तस फल चाखा॥

किन्तु यह कह देने से भी मुक्ति नहीं मिल जाती। यह जिज्ञासा व्यक्ति के अन्तःकरण को बार-बार मथती रहती है कि सब-कुछ जानते हुए भी व्यक्ति बुराई क्यों करता है ? और कभी-कभी तो यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति बुराई से बचने का प्रयास करते हुए भी उसमें सफल नहीं हो पाता है। अर्जुन ने भी व्याकुल स्वर में श्रीकृष्ण से यही प्रश्न किया था, "किसके द्वारा प्रेरित होकर व्यक्ति पाप-कर्म में प्रवृत्त होता है ? इच्छा न होते हुए भी बलात् उस दिशा में व्यक्ति को प्रेरित करने वाला कौन है ?" :

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरूषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

श्रीकृष्ण ने उत्तर देते हुए कहा, "अर्जुन, ये असत् कर्म की ओर प्रेरित करने वाले काम और क्रोध हैं। ये जीव के महान् शत्रु हैं। तू इन शत्रुओं को परास्त कर !" :

काम एष क्रोध एष रजोगुण-समुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

प्रश्न का उत्तर एक सीमा तक यथार्थ होते हुए भी जिज्ञासा को पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं कर पाता है। यदि इनके प्रेरक काम और क्रोध हैं, तो काम और क्रोध को प्रेरणा और शक्ति देने वाला कौनहै ? तुलसी ने प्रभु पर ही व्यंग्य करते हुए कहा, "कहीं इनके प्रेरक तुम्हीं तो नहीं हो ! सन्तों के द्वारा उपदेश दिया जाता है, व्यक्ति स्वयं भी अनुभवों से इसे प्रत्यक्ष देखता है; फिर भी यदि वह विषयों की ओर जाता है तो यह शायद तुम्हारी ही प्रेरणा होगी" :

दोष निलय यह बिषय सोकप्रद कहत संत श्रुति टेरे।
जानत हूँ अनुराग तहाँ अति सो हरि तुम्हरेहि प्रेरे ।।

इससे भी अधिक स्पष्ट शब्दों में वे प्रभु को उलाहना देते हुए कहते हैं, "बताइये तो, इस हृदय-नगर के सारे समाचार किसको सुनाऊँ ? क्योंकि मुझे यह पता चला है कि, चोर और पहरेदार, दोनों ही आपके हाथ में हैं" :

समाचार साथ के अनाथ नाथ कासों कहौं।
नाथ ही के हाथ सब चोरऊ पहरुहे ।।

पर ईश्वर भी भला ऐसा क्यों करने लगा ? प्रश्नों का कोई अन्त नहीं है। किन्तु यह स्पष्ट दिखायी देता है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता का चाहे जितना प्रतिपादन किया जाए, उसकी परतन्त्रता अनुभव-सिद्ध है। इसकी स्वीकृति मानस में भी प्रदान की गयी है। व्यक्ति हथकड़ी और बेड़ी डालकर भले ही परतन्त्र न किया गया हो, किन्तु इसके बिना भी तो व्यक्ति पर घेरा डालकर उसे परतन्त्र बनाया जा सकता है। तुलसी के शब्दों में, "व्यक्ति के चारों ओर घेरा पड़ा हुआ है—और घेरा डालने वाले काल, कर्म, स्वभाव और गुण हैं :

फिरत सदा माया कर प्रेरा।
काल कर्म स्वभाव गुन घेरा ।।

वेचारा अकेला व्यक्ति करे भी तो क्या करे ? अकेला पथिक इन्हें कैसे परास्त कर सकता है ? तुलसी विनयपत्रिका में पुकार उठते हैं :

मैं एक अमित बटपारा।
मानहिं नहिं कहा हमारा ।।

किन्तु फिर भी इस उत्तर में व्यापकता है। एक तरह से तुलसीदास ने इनमें सभी प्रकार की मान्यताओं का समावेश कर दिया है। गीता में श्रीकृष्ण ने काम और क्रोध को पाप का प्रेरक बताया है। यहाँ 'स्वभाव' शब्द के द्वारा इस उत्तर को स्वीकार कर लिया गया है। इसका तात्पर्य है कि कई बार व्यक्ति अपने स्वभावगत दोष (काम और क्रोध) के कारण ही बुराई में प्रवृत्त होता है। पर सर्वदा ऐसा ही होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। तब दूसरी दिशा में खोज की जाती है। कभी-कभी अकारण ही व्यक्ति दूसरे के प्रति अपने मन में राग अथवा अरुचि का अनुभव करता है। किसी व्यक्ति को देखते ही, अपरिचित होने पर भी, हृदय उसकी ओर खिंचा चला जाता है, तो कभी बिना किसी भूल के

भी किसी-किसी व्यक्ति को देखकर शत्रुता की अनुभूति होती है। इसका कोई प्रत्यक्ष कारण न दिखायी देने पर कर्म-परम्परा का आश्रय लेना पड़ता है। भले ही वह व्यक्ति इस जन्म का परिचित न हो, किन्तु पिछले जन्म की अनुभूतियों के कारण ही हठात् उसके प्रति राग अथवा रोष उत्पन्न होता है।

कभी ऐसा भी होता है कि व्यक्ति के स्वभाव में कोई विकृति नहीं दिखायी देती है। किसी के प्रति सहज राग या रोष की अनुभूति भी नहीं होती, पर कुछ कार्य ऐसे हो जाते हैं जो न उचित ही हैं, न वह स्वयं ऐसा चाहता है। एक व्यक्ति बड़े उत्साह से कथा-श्रवण के लिए जाता है, किन्तु कथा में निद्रा ने आ घेरा। अब इसे किसका दोष माना जाय ? इसका उत्तर यही है कि शरीर-रचना में त्रिगुण के तत्त्व विद्यमान हैं। वे समय पाकर उभड़ आते हैं। कभी शरीर में स्फूर्ति का अनुभव होता है तो कभी आलस्य का उदय हो जाता है। इसे गुण का घेरा कह सकते हैं।

कभी यह देखा जाता है कि केवल व्यक्ति ही नहीं, पूरे समाज में सामूहिक रूप से सद्भाव या दुर्भाव का उदय हो जाता है। कभी समाज सत्कर्म की दिशा में अग्रसर होता है तो कभी उच्छृङ्खलता और अनाचार को सामूहिक समर्थन प्राप्त हो जाता है। ऐसी परिस्थितियों में स्वभाव, कर्म और गुण के द्वारा इस प्रश्न का समाधान प्राप्त नहीं होता है। इसे काल के मत्थे ही मढ़ना पड़ता है। समय मनुष्य को सामूहिक रूप से भलाई और बुराई में प्रवृत्त कर देता है। इसी मान्यता के आधार पर युगों का विभाजन किया गया है। सतयुग योग की प्रेरणा देता है; त्रेता यज्ञ की दिशा में प्रवृत करता है; द्वापर में कलह और पूजा की प्रवृत्ति का समान रूप से उदय होता है; कलियुग में विरोध, उच्छृङ्खलता और अनाचार की वृद्धि हो जाती है।

इस तरह काल, कर्म, स्वभाव और गुण से घिरे व्यक्ति की स्वतन्त्रता ही कहाँ रह जाती है ? इस सत्य को जान लेने वाला व्यक्ति दूसरों की बुराइयों के प्रति उतना असहिष्णु नहीं रह जाता। काल, कर्म, स्वभाव और गुण से घिरे हुए व्यक्ति के प्रति उसके मन में सहानुभूति का ही उदय होता है। यह औदार्य तो साधारण विचारक के जीवन में भी देखा जाता है, फिर भगवान् राम की उदारता का तो कहना ही क्या है।

देवर्षि नारद के अन्तःकरण में भी ग्लानि का उदय हुआ था। प्रभु को दुर्वचन कहने और शाप देने में उन्हें अपना घोर अपराध दिखायी दे रहा था। इसके लिए उन्होंने प्रभु से प्रायश्चित्त पूछा। किन्तु प्रभु ने यह कहकर पाप के प्रश्न को समप्त कर दिया कि यह सब मेरी इच्छा से हुआ है :

तब मुनि अति सभीत हरि चरना।
गहे पाहि प्रनतारति हरना॥
मृषा होउ मम साप कृपाला।
मम इच्छा कह दीनदयाला॥
मैं दुर्बचन कहे बहुतेरे।
कह मुनि पाप मिटिहिं किमि मेरे॥

कैकेयी अम्बा के समक्ष प्रभु ने 'मम इच्छा' के सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया, और यह सर्वथा उपयुक्त था। देवर्षि नारद विष्णु को भगवान् मानते थे, इसीलिए वे इस उत्तर को स्वीकार कर सकते थे। किन्तु कैकेयी अम्बा की दृष्टि में श्रीराम सद्‌गुणसम्पन्न राजकुमार-मात्र थे। अत: श्रीराघवेन्द्र ने उन्हें सन्तुष्ट करने के लिए भिन्न पद्धति का आश्रय लिया। वे उन्हें यह कहकर सन्तुष्ट करने का प्रयास करते हैं कि व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं है। काल, कर्म और गुण के द्वारा प्रेरित पोकर ही वह व्यवहार करता है। यहाँ बड़ी ही चतुराई से उन्होंने स्वभाव को हटा लिया। क्योंकि स्वभाव में व्यक्ति का अपना ही दोष माना जाता है। यदि प्रभु स्वभाव का नाम लेते तो अपने स्वभाव की स्मृति से कैकेयी की ग्लानि और अधिक बढ़ सकती थी। प्रभु के समक्ष मुख्य प्रश्न सिद्धान्त के प्रतिपादन का नहीं था। वे तो उस समय माँ के हृदय की पीड़ा दूर करना चाहते थे। उसे एक चिकित्सक के दृष्टान्त के माध्यम से समझा जा सकता है। एक योग्य चिकित्सक दो रूपों में हमारे समक्ष आता है। विद्यार्थियोंको चिकित्सा-शास्त्र की शिक्षा देते समय वह विस्तार से रोग, निदान और कारण आदि का विश्लेषण करता है। वह विद्यार्थियों को यह भी समझाता है कि रोगों को व्यक्ति अपनी ही भूलों से आमन्त्रित करता है। किन्तु उसी चिकित्सक के समक्ष जब कोई रोगी आ जाता है तब वह चिकित्साशास्त्र के सूक्ष्म विश्लेषण उसके समक्ष नहीं रखता है। उस समय उसका कर्त्तव्य रोगी की पीड़ा को कम करना और यदि वह निराश हो रहा हो तो उसे आशा देना होता है। कैकेयी अम्बा के समक्ष प्रभु का भी यही दूसरा रूप दिखायी देता है। उन्होंने काल, कर्म और गुण को दोषी बताकर उनके दु:ख-रूपी रोग को मिटाने का प्रयास किया। अथवा यों कहें कि यदि एक व्यक्ति के सिर पर इतना अधिक बोझ लद गया हो कि उसको उठाने में व्यक्ति की गर्दन टूटने का भय हो, तो सहृदय महापुरुष उसके बोझ को बाँटकर हल्का कर देता है। कैकेयी अम्बा के सिर पर अपराध का बहुत बड़ा बोझ था, उसे प्रभु ने उतारकर काल, कर्म और गुण में बाँट दिया। इसीलिए गोस्वामीजी ने "काल, कर्म विधि सिर धरि खोरी" वाक्य का प्रयोग किया है। इससे कैकेयी अम्बा के हृदय का बोझ हल्का हो गया।

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

सकुचउँ तात कहत एक बाता।
अरध तजहिं बुध सरबस जाता॥
× ×
कानन करउँ जनम भरि बासू।
एह ते अधिक न मोरि सुपासू॥

अर्थ—गुरु वशिष्ठ ने कहा, "भरत ! मैं एक बात कहते हुए हिचक रहा हूँ। बुद्धिमान् लोग यदि सर्वस्व जाते हुए देखते हैं तो आधे को छोड़ देते हैं।"

श्रीभरत ने कहा, "मैं जीवन-भर वन में रहूँगा, क्योंकि इससे अधिक मेरे लिए सुख की और कोई बात नहीं हो सकती है ?"

उपर्युक्त पंक्तियों में प्रथम गुरु वशिष्ठ ने प्रसिद्ध नीति-वाक्य का प्रयोग किया है—"सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डितः" (पण्डित जन सर्वनाश की स्थिति उत्पन्न होने पर आधे का परित्याग कर देते हैं)। व्यावहारिक जीवन में इस सूत्र को स्वीकार करने वाला अनेक उलझनों से बच जाता है। व्यक्ति समाज का एक अंग है। बहुधा एक व्यक्ति का स्वार्थ दूसरे से टकराता है; यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने ही स्वार्थ की सिद्धि में संलग्न रहे तो कोई भी सुख-चैन से नहीं रह सकता। इस लिए व्यवहार में समझौता स्वीकार करना ही पड़ता है। यदि दो व्यक्ति कोई वस्तु पूरी-की-पूरी स्वयं ही लेने का आग्रह करें, तो सम्भव है, वस्तु के संघर्ष में वे स्वयं की भी सत्ता समाप्त कर बैठें। महाभारत का सर्वनाशकारी युद्ध इस नीति-वाक्य को अस्वीकार करने के कारण ही हुआ था।

पाण्डव बुद्धिमान् थे, इसलिए वनवास की तिथि से लौटकर आने के बाद अपना पूरा राज्य पाने का आग्रह उन्होंने नहीं किया। उनका अनुरोध तो इतना

ही था कि राज्य का बँटवारा कर दिया जाए, जिससे कौरव और पाण्डव दोनों कुल ही सुखी रह सकें। वे इस सन्दर्भ में सर्वनाश रोकने के लिए आधे से भी अधिक भाग कौरवों को देने के लिए प्रस्तुत थे। वे केवल पाँच गाँवों की माँग कर रहे थे। श्रीकृष्ण शान्ति-दूत बनकर दुर्योधन की सभा में यही सन्देश लेकर गए थे। किन्तु दुर्योधन का हठ था कि आधे की तो बात ही क्या, मैं सुई के बराबर भूमि भी बिना युद्ध के देने के लिए प्रस्तुत नहीं हूँ—"सूच्यग्रं नैव दास्यामि बिना युद्धेन केशव !" इस हठ के पीछे उसकी क्या भावना थी ? वह स्वयं को बड़ा बुद्धिमान् समझता था। अधिकतर तो उसे यही विश्वास था कि इस चुनौती के बाद शान्तिवादी धर्म-भीरु युधिष्ठिर अपने-आप युद्ध से विरत हो जाएँगे। सम्भव है, वे पुनः वनवास का जीवन व्यतीत करने लगें। उसे प्रतीत हुआ कि जैसे पाण्डव पूरे से आधे और आधे से पाँच गाँव तक लेने के लिए प्रस्तुत हो गए हैं, उसी तरह युद्ध की चुनौती में वे पाँच गाँवों का आग्रह भी छोड़ देंगे और वे कदाचित् लड़ने के लिए भी प्रस्तुत हो जाएँ तो हम उन्हें युद्ध-क्षेत्र में पूरी तरह विनष्ट कर देंगे, और उसके पश्चात् निष्कण्टक राज्य का सुख भोग सकेंगे। परिणामस्वरूप वह अड़ गया। उसका यह दुराग्रह ही महाभारत के युद्ध में लक्ष-लक्ष राजाओं के विनाश का कारण बना।

व्यवहार में आग्रह का अतिरेक मूर्खता का सबसे बड़ा लक्षण है, इसीलिए 'बुद्धेः फलमनाग्रहं' कहकर यह स्पष्ट कर दिया गया कि बुद्धिमत्ता का यही चरम फल है कि व्यक्ति अनाग्रही हो जाए। मूर्ख विश्व में घटित होने वाली घटनाओं को देखने-सुनने का प्रयास ही नहीं करता है। वह तो अपने नेत्र की सीमाओं में रहकर ही घटनाओं का दर्शन करता है, और वहाँ भी अपनी ही दृष्टि आरोपित कर लेता है। बुद्धिमान् व्यक्ति प्रत्येक घटना को देश-काल के सन्दर्भ में देखता है और तब उनमें परस्पर ऐसा विरोधाभास दिखायी देता है कि उसे इस निष्कर्ष पर पहुँचने में देर नहीं लगती कि सभी मत स्वयंसिद्ध सत्य न होकर मान्यता-मात्र हैं। अतः आग्रह कैसा ? ऐसे व्यक्ति के लिए दूसरों से समझौता करना कठिन नहीं होता। वह आदान-प्रदान और बँटवारे के लिए सदा प्रस्तुत रहता है। भगवान् श्रीराम विविधता में भी समन्वय का सूत्र ढूँढ़ लेते हैं। इसीलिए उनके मित्र सर्वत्र विद्यमान थे। रावण और बालि अपने हठ के कारण ही सगे भाइयों को भी शत्रु बना लेते हैं :

खग मृग मीत पुनीत किय, बनहुँ राम नयपाल।
कुमति बालि दसकन्धधर, सुहृद बंधु कियो काल।।

कैकेयी के समक्ष भी 'अर्ध तजहिं बुध सरबस जाता' का सुअवसर था। महाराज श्रीदशरथ ने इसीलिए कैकेयी से अनुरोध किया था कि वह एक वरदान की

पूर्ति से सन्तुष्ट हो जाए। श्रीभरत को राज्य देने में उन्हें कोई कोई आपत्ति न थी, किन्तु उनका यह अनुरोध अवश्य था कि दूसरे वरदान का आग्रह उनके प्राण ही ले लेगा :

अवसि दूत मैं पठइब प्राता।
अइहहिं बेगि सुनत दोउ भ्राता॥
सुदिन सोधि सब साज बनाई।
देउँ भरत कहँ राज बजाई॥

× ×

रिस परिहरु अब मंगल साजू।
कछु दिन गए भरत जुबराजू॥
एकहिं बात मोहि दुख लागा।
बर दूसर असमंजस माँगा॥

× ×

कहउँ सुभाव न छल मन माँही।
जीवन मोर राम बिनु नाहीं॥

कैकेयी ने यदि यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया होता तो अयोध्या में सर्वनाश की यह स्थिति न आती। कैकेयी का हठ पूरा पाने का था, क्योंकि उसने मंथरा की बुद्धि पर भरोसा किया था। मंथरा को मानस में मन्दमति की उपाधि प्रदान की गयी है :

नाम मंथरा मंदमति, चेरी कैकइ केरि।
अजस पेटारी ताहि करि, गई गिरा मति फेरि॥

और इस आग्रह से उत्पन्न स्थिति का समाधान पाने के लिए चित्रकूट में उपाय की खोज की जा रही थी। गुरु वशिष्ठ ने एक उपाय सामने रखा और उसके प्रारम्भ में उपर्युक्त नीति-वाक्य का उद्धरण दिया, यद्यपि उनके बताए गए उपाय से नीति-वाक्य की कोई स्पष्ट संगति प्रतीत नहीं होती। उन्होंने श्रीभरत के समक्ष यह प्रस्ताव रखा कि वे दोनों भाई वन चले जाएँ और राम, लक्ष्मण तथा सीता अयोध्या लौट आएँ। श्रीभरत ने प्रभु के वन-गमन को सर्वनाश के रूप में देखा। गुरु वशिष्ठ सर्वनाश को बचाने के लिए श्रीभरत और श्रीशत्रुघ्न को वन में रुकने की सम्मति देते हैं, किन्तु भरत गुरु वशिष्ठ के नीतिवाक्य को नया अर्थ प्रदान करते हैं। उन्हें इस प्रस्ताव में 'अर्ध तजहिं' जैसी कोई बात नहीं दिखायी देती। उन्हें तो लगता है कि इससे बढ़कर उनके जीवन की कोई सार्थकता नहीं हो सकती है कि

उनके वन में रहने से प्रभु का राज्य अयोध्या में स्थापित हो सके। इसीलिए गुरुदेव का प्रस्ताव सुनते ही वे आनन्दमग्न हो गए। उन्हें यह विश्वास ही नहीं हो रहा था कि इस सरल उपाय से प्रभु अयोध्या लौट सकते हैं। एक क्षण के लिए उन्हें यह लगने लगा कि कहीं गुरुदेव ने उनसे विनोद तो नहीं किया है। इसीलिए उनके मुख से यह शब्द भी निकल पड़ा कि क्या आप सच कह रहे हैं ? उन्होंने अपना आनन्द, संशय और आश्चर्य इन वाक्यों में प्रकट किया :

सुनि सुबचन हरषे दोउ भ्राता।
भे प्रमोद परिपूरन गाता।।
मन प्रसन्न तन तेज बिराजा।
जनु जिय राउ राम भये राजा।।

× ×

कहहिं भरत मुनि कहा सो कीन्हे।
फल जग जीवन्ह अभिमत दीन्हे।।
कानन करउँ जनम भरि बासू।
एहि ते अधिक न मोर सुपासू।।

श्रीभरत का तात्पर्य यह था कि व्यावहारिक जीवन में आधे का परित्याग कर आधे को ग्रहण कर लेना बुद्धिमत्ता हो सकती है, किन्तु पारमार्थिक जीवन में इस प्रकार का कोई समझौता नहीं होता है। पारमार्थिक जीवन का तो मूल मन्त्र ही दूसरा है। उसे यों कह सकते हैं कि पारमार्थिक जीवन में पूर्ण के परित्याग से ही पूर्ण की उपलब्धि होती है। गुरु वशिष्ठ ने व्यावहारिक नीति-वाक्य को परमार्थ के क्षेत्र में भी प्रयोग करना चाहा। इसीलिए उन्होंने श्रीभरत से केवल चौदह वर्ष वन में रहने के लिए कहा था, किन्तु श्रीभरत ने उसमें एक संशोधन जोड़ दिया कि वे समग्र जीवन वन में निवास करेंगे। ईश्वर पूर्ण है, इसलिए उसकी उपलब्धि कभी अपूर्ण नहीं हो सकती है :

ओ३म् पूर्णमिदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

व्यावहारिक जीवन में भी अर्ध के परित्याग से व्यक्ति को यत्किञ्चित् दुःख तो होता ही है, किन्तु बाध्यता के कारण वह इसे स्वीकार कर लेता है। परन्तु ईश्वर की उपलब्धि का सुख कभी अपूर्ण नहीं हो सकता है और उसे पाने के लिए वह सब-कुछ छोड़ना पड़ता है, जिसे व्यक्ति ने मोह के कारण संगृहीत कर लिया है। इसीलिए महर्षि बाल्मीकि ने प्रभु से उस भक्त के हृदय में रहने के लिए अनु-

रोध किया, जिसने उनके लिए जाति-पाँति, कुल और बड़प्पन-आदि सब-कुछ छोड़ दिया है :

जाति पाँति धन धरम बड़ाई।
प्रिय परिवार सदन सुखदाई ॥
सब तजि तुम्हहि रहइ उर लाई।
तेहि के हृदय रहहु रघुराई ॥

गुरु वशिष्ठ के नीति-वाक्य की अपूर्णता को श्रीभरत की प्रीतिमयी भावना ने पूर्ण बना दिया।



॥ श्रीराम: शरणं मम ॥

भरत बिनय सादर सुनिअ, करिअ बिचार बहोरि ।
करब साधु-मत लोक-मत, नृप-नय निगम निचोरि ॥

अर्थ—मुनि वशिष्ठ ने कहा, "हे राम ! पहले भरत की विनती आदरपूर्वक सुन लीजिए, फिर उस पर विचार कीजिए। तब साधुमत, लोकमत, राजनीति और वेदों का निचोड़ (सार) निकालकर वैसा ही (उसी के अनुसार) कीजिए।"

चित्रकूट में जो समाज एकत्र हुआ था, उसमें सर्वाधिक विलक्षण स्थिति गुरु वशिष्ठ की थी। वे स्वयं अपनी भूमिका के विषय में आश्वस्त नहीं थे। एक ओर वे ब्रह्मा के पुत्र के रूप में देवताओं के मनोभाव से परिचित थे। उन्हें ज्ञात था कि यह वन-गमन देवताओं की प्रेरणा का परिणाम है। उन्हें देवताओं से सहानुभूति थी। मुनियों पर रावण के अत्याचार से वशिष्ठ का क्षुब्ध होना स्वाभाविक था। वे जानते थे कि इस वन-यात्रा से रावण-वध का कार्य सम्पन्न हो सकेगा, अत: वे राघवेन्द्र के अयोध्या लौटने के पक्ष में नहीं हो सकते थे। किन्तु, दूसरी ओर वे अयोध्या की प्रजा के मुखिया के रूप में उनके साथ वन में आए हुए थे। अयोध्या का प्रत्येक नागरिक श्रीराघवेन्द्र को लौटाने की तीव्र भावनासे प्रेरित होकर ही वन में आया था। इसलिए जन-भावना का आदर करते हुए उन्हें श्रीराम से अयोध्या लौटने का अनुरोध करने की आवश्यकता थी। फिर श्रीभरत ने जिस सद्भाव से प्रेरित होकर अपना विश्वास गुरुदेव के प्रति प्रगट किया था, उससे तो गुरुदेव का हृदय पूरी तरह द्रवित हो गया। वशिष्ठ ने बड़ी चतुराई से श्रीभरत से यह

जानना चाहा था कि श्रीराम को लौटाने के लिए उनके मन में कौन-सी योजना कार्य कर रही है। उन्होंने एक तरह से राघवेन्द्र के लौटने के विषय में अपना संशय प्रकट कर दिया था। जान-बूझकर उन्होंने श्रीराघवेन्द्र के लिए ऐसे विशेषणों का प्रयोग किया था, जिनसे राम को लौटाने का उत्साह श्रीभरत के हृदय में न रह जाय :

बोले मुनिबर समय समाना।
सुनहु सभासद भरत सुजाना॥
धरम धुरीन भानुकुल-भानू।
राजा राम स्वबस भगवानू॥
सत्यसंध पालक श्रुति-सेतू।
राम जनम जग मंगल हेतू॥
गुरु पितु मातु बचन अनुसारी।
खल दलु-दलन देव-हितकारी॥
नीति प्रीति परमारथ स्वारथु।
कोउ न राम सम जान जथारथु॥
बिधि हरि हरु ससि रबि दिसिपाला।
माया जीव करम कुलि काला॥
अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई।
जोग सिद्धि निगमागम गाई॥
करि बिचार जिय देखहु नीके।
राम रजाइ सीस सबही के॥
राखे राम रजाइ रुख, हम सब कर हित होइ।
समुझि सयाने करहु अब, सब मिलि सम्मत सोइ॥

इन विशेषणों में एक भी शब्द ऐसा नहीं है जिससे प्रभु के लौटने की रञ्चमात्र भी आशा बँधे। उनकी दृष्टि में राम 'धर्म-धुरीण' हैं, इसलिए धर्म का परित्याग नहीं करेंगे। श्रीराम 'भानुकुल-भानु' हैं, अतः चित्रकूट में रहकर हा विश्व को प्रकाशित करेंगे (उन्हें अयोध्या लौटाकर दीपक बनाने की चेष्टा क्यों की जाए)। प्रभु 'राजा राम' हैं, अवः यह सोचना कि वे अयोध्या लौटने पर राजा बनेंगे, सर्वथा अविवेक है। वे 'स्वबस-भगवान्' हैं इसलिए उन्हें परवश बनाने की चेष्टा नहीं की जानी चाहिए (भगवान् को किसी ऐश्वर्य की अपेक्षा नहीं है)। वे 'सत्य-संध' हैं, अतः उनसे सत्य के त्याग की आशा नहीं करनी चाहिए। राम 'श्रुति-सेतु-पालक' हैं, इसलिए श्रुति-मर्यादा का उल्लंघन नहीं करेंगे। 'राम-जनम

जग-मंगल-हेतू' है, इसलिए आप लोग केवल अयोध्या के मंगल की ही चिन्ता क्यों कर रहे हैं ? प्रभु 'गुरु पितु मातु बचन अनुसारी' हैं, अत: उनसे पिता की आज्ञा का उल्लंघन करने के लिए कहना सर्वथा अनुचित है। श्रीराम 'खल-दलु-दलन देव-हितकारी' हैं। युद्धकार्य पूर्ण किए बिना उनका वन-यात्रा से लौटना कैसे सम्भव हो सकता है ? वे नीति, प्रीति, परमार्थ और स्वार्थ के सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता हैं। क्या अब उन्हें हम लोग नीति-प्रीति की शिक्षा देंगे ? अन्त में ऐश्वर्य-सूचक विशेषणों का प्रयोग करते हुए वे स्पष्ट संकेत दे देते हैं कि हम लोगों को प्रभु की आज्ञा का पालन करना चाहिए। इतने लम्बे विशेषणों के साथ लोगों की भावना का ध्यान रखकर उन्होंने कुछ वाक्य प्रभु के लौटने के पक्ष में भी कह दिये। किन्तु यहाँ भी उन्होंने लोगों से उपाय पूछकर अपनी तटस्थता प्रकट करने का ही प्रयास किया है :

सब कहँ सुखद राम अभिसेकू।
मंगल मोद मूल मग एकू॥
केहि बिधिअवध चलहिं रघुराऊ।
कहहु समुझि सोइ करिअ उपाऊ॥

किन्तु भरत की भावभरी भाषा के समक्ष उन्हें पराजित होना पड़ा। उन्होंने कहा, "गुरुदेव ! मैं सदा से यही सुनता रहा हूँ कि सूर्यवंश में जब भी किसी के सामने कोई समस्या आयी, तब उसका समाधान आपकी कृपा से ही प्राप्त हुआ। आप उन लोगों में से हैं जो ब्रह्मा की गति को भी अवरुद्ध कर देते हैं। आप जिस विषय में निर्णय कर लें, उसे परिवर्तित करने का साहस किसमें है ? मैं तो यही सोचकर आश्वस्त था कि जब आप मुझ पर कृपालु हैं तब उपाय आप ही बतावेंगे। किन्तु आप भी जब मुझसे उपाय पूछते हैं, तब मैं अपने दुर्भाग्य की कल्पना कर पा रहा हूँ :

उतरु न आव लोग भये भोरे।
तब सिर नाइ भरत कर जोरे॥
भानुबंस भए भूप घनेरे।
अधिक एक ते एक बड़ेरे॥
जनम हेतु सब कहँ पितु माता।
करम सुभासुभ देइ बिधाता॥
दलि दुख सृजइ सकल कल्याना।
अस असीस राउरि जग जाना॥

सो गोसाईं बिधि गति जेहि छेंकी।
सकइ को टारि टेक जो टेकी॥
बूझिअ मोहि उपाउ अब, सो सब मोर अभाग।
सुनि सनेहमय बचन गुरु, उर उमगा अनुराग॥

श्रीभरत की स्नेहभरी वाणी ने गुरुदेव को पूरी तरह असमंजस में डाल दिया। ऐसी दुविधा-भरी मनःस्थिति में ही गुरुदेव सारे समाज के सहित श्रीरामभद्र के पास आए। प्रभु ने स्वागत करते हुए गुरुदेव को विराजने के लिए आसन प्रस्तुत किया। इसके पश्चात् गुरुदेव ने जो भाषण दिया, वह स्वयं में ही विरोधाभासों का पुञ्ज प्रतीत होता है। भाषण के प्रारम्भ में ही उन्होंने श्रीराघवेन्द्र की सर्वज्ञता की दुहाई दी—"सुनहु राम सर्बग्य सुजाना'।' इसका सांकेतिक तात्पर्य यह था कि मेरे भाषण के शब्दों पर ही ध्यान न देकर अपनी सर्वज्ञता के द्वारा सारी परिस्थिति समझकर निर्णय करना :

सुनहु राम सर्बग्य सुजाना।
धरम नीति गुन ग्यान निधाना॥
सबके उर अंतर बसहु, जानहु भाउ कुभाउ।
पुरजन जननी भरत हित, होइ सो कहिय उपाउ॥

उन्होंने कुछ कहने से भी बचना चाहा था। अयोध्यावासियों, श्रीभरत और स्वयं को आर्त्तों की श्रेणी में डालकर इन लोगों की बात पर अधिक ध्यान न देने का संकेत भी दे दिया :

आरत कहहि बिचार न काऊ।
सूझ जुआरिहि आपन दाऊ॥

किन्तु भगवान् राम ने श्रीभरत के ही मत का समर्थन किमा। उन्होंने कहा, "गुरुदेव, सारा उपाय तो आपके ही हाथ में है।" प्रभु श्रीवशिष्ठ के अन्तर्द्वन्द्व का आनन्द ले रहे थे। इसीलिए उन्होंने गुरुदेव के मौन को अस्वीकार करते हुए उनसे प्रार्थना की, "सर्वप्रथम आप मुझे जो आदेश दें, उसे मैं शिरोधार्य करूँगा। इसके पश्चात् आप जिसे जो आदेश देंगे, उसे स्वीकार करता हुआ वह उसके अनुकूल आचरण करेगा।" इसमें प्रभु ने न केवल अपनी ओर से, अपितु भरत की ओर से भी यह आश्वासन प्रदान किया। भरत की ओर से आश्वासन देकर श्रीरामभद्र ने उनके प्रति अपने प्रगाढ़ विश्वास का परिचय दिया :

सुनि मुनि बचन कहत रघुराऊ।
नाथ तुम्हारेहि हाथ उपाऊ॥
सब कर हित रुख राउरि राखे।
आयसु किएँ मुदित फुर भाखे॥
प्रथम जो आयसु मो कहुँ होई।
माथे मानि करौं सिख सोई॥
पुनि जेहि कहँ जस कहब गोसाईं।
सो सब भाँति घटिहि सेवकाई॥

गुरु वशिष्ठ को वास्तविकता स्वीकार करनी पड़ी। गुरु का आसन न्यायाधीश का आसन है। न्यायाधीश तटस्थ भाव से दोनों पक्षों का मत श्रवण करता है और अन्त में विचार कर निर्णय देता है। न्यायाधीश का न तो किसी से राग होना चाहिए और न द्वेष ही। किन्तु गुरुदेव को स्वीकार करना पड़ा कि वे इस समय तटस्थ नहीं हैं। श्रीभरत के स्नेह ने विचार को अवशिष्ट नहीं रहने दिया है :

कह मुनि राम सत्य तुम भाखा।
भरत सनेह बिचारु न राखा॥
तेहि तें कहउँ बहोरि बहोरी।
भरत भगति बस भइ मति मोरी॥

इन वाक्यों को दोनों अर्थों में लिया जा सकता है। एक ओर तो यह श्रीभरत के स्नेह की सराहना है कि उनका स्नेह इतना विलक्षण है कि मुझ-जैसे तटस्थ व्यक्ति का विचार भी समाप्त हो गया है। किन्तु इसमें छिपी हुई चेतावनी का स्वर भी है—"राम, तुम शास्त्र-मर्यादा का पालन करनेवाले हो, तुम मेरी आज्ञा का पालन करने के लिए प्रस्तुत हो। किन्तु यह ध्यान रखना कि इस समय मैं जो कुछ भी कहूँगा, वह मेरी वाणी से व्यक्त होगा, पर वह मेरा विचार नहीं होगा। मैं एक स्वतन्त्र व्यक्ति न होकर भक्त-पराधीन हो चुका हूँ। इसलिए मैं जो कुछ कहूँ, उसे मानने में कोई धार्मिक बाध्यता नहीं है। मेरी वाणी से जो कुछ निकलेगा, वह भरत के विचार होंगे। भरत की वाणी स्वीकार करने की बाध्यता तुम्हारे लिए नहीं है।" ऐसी सांकेतिक चेतावनी देने के बाद उन्होंने तत्काल यह कह दिया, "मैं तो समझता हूँ कि आप भरत की रुचि रखते हुए जो कुछ भी करेंगे, शंकर की साक्षी से वह शुभ ही होगा" :

मोरे जान भरत रुचि राखी।
जो कीजिअ सो सुभ सिव साखी॥

इस तरह 'मोरे जान' शब्द का प्रयोग करके अपनी सीमाओं का संकेत दे देते हैं। इसमें कोई दावा नहीं है। फिर इस सन्दर्भ में इसका महत्त्व और कम हो जाता है, जब गुरु वशिष्ठ पहले ही यह कह चुके हों—"भरत भगति बस भइ मति मोरी"। यह तो न्यायालय की दृष्टि से अनोखा शपथ-वाक्य है। न्यायालय में कुछ कहने के पहले शपथ ली जाती है—"मैं जो भी कहूँगा, सत्य कहूँगा, और सत्य के सिवा कुछ नहीं कहूँगा।" किन्तु गुरु वशिष्ठ प्रारम्भ में ही कह देते हैं, "भरत के स्नेह के वशीभूत होने के कारण जो कुछ यह कहलावेंगे, मैं वही कहूँगा।" इस प्रकार की शपथ के बाद आगे कुछ भी कहा जाय, उसका क्या महत्त्व रह जाता है। यद्यपि आगे चलकर गुरु वशिष्ठ ने शंकर की शपथ लेकर कहा है, पर यह शपथ भी श्रीभरत की भावना का प्रतिनिधित्व करने के लिए है। भरत शिव-भक्त हैं, अतः उनके पक्ष का समर्थन करने के लिए साखी के रूप में उन्हें स्मरण करके स्वयं वे भार से मुक्त होना चाहते हैं।

श्रीभरत की भावना को सम्मान देते हुए वे शिव की शपथ ले तो लेते हैं, किन्तु उन्हें पुनः भय लगा कि कहीं शिव की शपथ से प्रभावित होकर रामभद्र भरत की बात को स्वीकार न कर लें। इसलिए वे पुनः स्पष्टीकरण दे देते हैं—"आप भरत की प्रार्थना को आदरपूर्वक सुनिये (उनकी बात मेरे मुँह से सुनने में क्या लाभ ?) और फिर उस पर विचार कीजिए। करना तो वही चाहिए, जो साधु-मत, लोक-मत, राजनीति और वेद से समर्थित हो :

भरत बिनय सादर सुनिअ, करिअ बिचारबहोरि।
करब साधुमत, लोकमत, नृपनय निगम निचोरि।।

गुरु वशिष्ठ ने जान-बूझकर स्वीकृति के साथ इतने प्रतिबन्ध लगा दिये कि इसका तात्पर्य यही था कि "न नौ मन तेल होगा, और न मोहिनी नाचेगी।" साधुमत और लोकमत में, राजनीति और वेदमत में, इतना अधिक मतभेद है कि यह कल्पना ही नहीं की जा सकती थी कि किसी विषय में चारों एकमत होंगे। साधुमत परहित का समर्थन करता है, तो लोकमत को अपने ही हित की चिन्ता होती है। इसका सबसे बड़ा दृष्टान्त इस सभा के कुछ पहले मिला था। गुरु वशिष्ठ का प्रस्ताव था कि श्रीभरत और शत्रुघ्न वन में रुक जावें और राम, सीता तथा लक्ष्मण अयोध्या लौट जावें। इस प्रस्ताव की प्रतिक्रिया अलग-अलग हुई। सबसे विलक्षण भावना लोकमत में अभिव्यक्त हुई। उन लोगों ने इस प्रस्ताव का हृदय से स्वागत किया, क्योंकि उन्हें लग रहा था कि श्रीराम का तो लौटना इतना बड़ा लाभ है कि उसकी तुलना में श्रीभरत का वन-गमन अन्यन्त छोटी हानि है :

बहुत लाभ लोगन लघु हानी।
सम दुख सुख सब रोवहिं रानी ।।

यह लोकमत की स्वार्थपरता की पराकाष्ठा है। श्रीभरत की कृपा से ही उन्हें प्रभु का दर्शन और सामीप्य प्राप्त हुआ है। अयोध्या में चित्रकूट जाने की घोषणा से भरत जनता के प्राणप्रिय हो गये थे :

प्रातकाल लखि निरनउ नीके।
भरत प्रानप्रिय भे सबही के ।।

किन्तु जहाँ स्वार्थ की बात आयी कि वह कृतज्ञता एक ओर रखी रह गयी। श्रीराम को निकट पाने के लिए भरत को दूर करने में उन्हें कोई संकोच नहीं होता है। साधु का स्वभाव इससे सर्वथा भिन्न होता है। वह परहित के लिए बड़े-से-बड़ा त्याग करने को प्रस्तुत रहता है। महर्षि विश्वामित्र विवाह के पश्चात् अयोध्या के राजमहल में ठहराए गए, पर प्रातःकाल होते ही वे बिदा लेने के लिए उतावले हो गए। वे राम को साक्षात् ईश्वर मानते हैं। उनका सामीप्य उन्हें प्रिय है, फिर यह जाने का आग्रह क्यों :

बिस्वामित्र चलन नित चहहीं।
राम सप्रेम बिनय बस रहहीं ।।

कारण स्पष्ट है। श्रीराम निरन्तर गुरुदेव की सेवा में संलग्न रहते हैं। विश्वामित्र को यह असह्य लगा कि उनकी उपस्थिति के कारण परिणीता वधुएँ राजकुमारों के सामीप्य से वंचित रहें। उन्हें अवसर देने के लिए वे स्वयं वहाँ से चले जाने के लिए उत्सुक हैं। यही साधु का सच्चा स्वभाव है :

सन्त सहहिं दुख पर-हित लागी।
पर दुख हेतु असंत अभागी ।।

राजनीति और वेदमत की दूरी का तो कहना ही क्या है ? राजनीति को एकमात्र लोक की चिन्ता रहती है। वह तात्कालिक लाभ पर दृष्टि रखती है। किन्तु वेद इस लोक की अपेक्षा अधिक परलोक-परक है। वह मुक्ति को ही परम-पूज्य मानता है। प्रेय की तुलना में श्रेय ही वहाँ परम प्राप्तव्य है। इसलिए वह सत्य को ही सर्वश्रेष्ठ स्थान देता है। पर राजनीतिज्ञ की मुक्ति में कोई रुचि नहीं होती। उसके लिए अर्थ और काम ही मुख्य हैं। धर्म को भी वह उतनी ही दूर तक महत्त्व देता है, जिससे उसकी राजनीति में सहायता मिले। उसके लिए सत्य

ही सब-कुछ नहीं है। यदि वेदमत के प्रतिपादक भगवान् राम सत्य की रक्षा के लिए अयोध्या के राज्य का परित्याग कर देते हैं तो राजनीतिज्ञ अंगद रावण को वाक्युद्ध में परास्त करने के लिए असत्य का आश्रय लेने में संकोच नहीं करते। रावण ने भगवान् राम सहित प्रत्येक योद्धा की निन्दा की, पर अन्त में उसने श्रीहनुमानजी की सराहना कर डाली :

तब प्रभु नारि-बिरह बलहीना।
अनुज तासु दुख दुखी मलीना॥
तुम्ह सुग्रीव कूल द्रुम दोऊ।
अनुज हमार भीरु अति सोऊ॥
जामवंत मंत्री अति बूढ़ा।
सो कि होइ अब समरारूढ़ा॥
सिल्पि कर्म जानहिं नल नीला।
है कपि एक महा बलसीला॥
आवा प्रथम नगरु जेहि जारा।
सुनत बचन कह बालि कुमारा॥

अंगद ने रावण को नीचा दिखाने के लिए कह दिया, क्या सचमुच उस बन्दर ने बिना आज्ञा के ही लंका को जला डाला ? तभी डर के मारे सुग्रीव के पास नहीं लौटा। लगता है, कहीं छिप गया होगा। तुमने जिसके बल की इतनी सराहना की, वह तो सुग्रीव का एक अत्यन्त छोटा धावन-मात्र है। वह चलने में निपुण है, किन्तु वह वीर नहीं है। इसीलिए उसे हम लोगों ने समाचार लेने के लिए भेजा था :

रावन नगर अल्प कपि दहई।
सुनि अस बचन सत्य को कहई॥
जो अति सुभट सराहेहु रावन।
सो सुग्रीव केर लघु धावन॥
चलइ बहुत सो बीर न होई।
पठवा खबरि लेन हम सोई॥
सत्य नगर कपि जारेउ, बिन प्रभु आयसु पाइ।
फिरि न गयउ सुग्रीव पहिं, तेहि भय रहा लुकाइ॥

अंगद ने जो कुछ कहा है, उसमें एक भी वाक्य सत्य नहीं है, और न तो स्वयं वे इसे सत्य मानते हैं। किन्तु इससे रावण अपमानित होगा, इसलिए वे

असत्य का प्रयोग करने में संकुचित नहीं होते। आगे चलकर वे स्वयं हनुमानजी की सराहना करते हुए कहते हैं, "क्या तेरा नगर जलाने वाला हनुमान साधारण कपि हो सकता है !" यह राजनीतिज्ञ की तात्कालिक दृष्टि का बोधक है। वह एक क्षण में कुछ कहता है, दूसरे ही क्षण बदल जाता है :

सेन सहित तव मान मथि, बन उजारि पुर जारि।
कस रे सठ हनुमान कपि, गयउ जो तव सुत मारि।।

इस तरह गुरु वशिष्ठ के द्वारा जिन चार दृष्टियों से विचार करने का आदेश दिया गया, वे इतनी परस्पर-विरोधी थीं कि गुरु वशिष्ठ ने सोचा होगा कि इस तरह परस्पर संगति न मिल पाने के कारण श्रीभरत की बात अस्वीकृत हो जाएगी। किन्तु गुरु वशिष्ठ की धारणा यथार्थ नहीं थी, यह अगले ही प्रसंग में सिद्ध हो जाता है। परस्पर-विरुद्ध प्रतीत होने वाले दृष्टिकोणों में समन्वय कर लेना ही पूर्ण दर्शन का प्रतीक है। इस असम्भव कार्य को श्रीभरत और भगवान् राम अपने चरित्र के माध्यम से पूरा करने में समर्थ होते हैं।

स्वहित और परहित में, लोक तथा परलोक में परस्पर-विरोध तो अधूरी दृष्टि का परिणाम है। एक ही शरीर में अंगों की प्रकृति भी तो अलग-अलग प्रतीत होती है। हाथ और मुख का दृष्टान्त ले लें। मुख स्वाद लेता है, इसलिए उसे स्वार्थी कह सकते हैं। हाथ भोजन स्वयं न खाकर मुख को दे देता है, अतः वह परोपकारी प्रतीत होता है। किन्तु यह तो प्रतीत होनेवाला सत्य है। मुख स्वाद भले ही अनुभव करता हो, पर भोजन का प्रयोग वह केवल अपने लिए नहीं करता। भोजन के द्वारा सारे शरीर को पोषण प्राप्त होता है। परोपकारी प्रतीत होनेवाला हाथ भी इसका अपवाद नहीं है। वह भी भोजन के द्वारा पुष्टि प्राप्त करता है। गृहस्थ अन्न का उत्पादन करता है; अपने परिवार का पालन-पोषण करता है, अतः वह स्वार्थी प्रतीत होता है। संन्यासी परिवार का परित्याग कर देता है, वह स्वार्थ-रहित त्यागी प्रतीत होता है। किन्तु विचार-चिन्तन के लिए भी तो व्यक्ति के शरीर की रक्षा अपेक्षित है। वह कार्य गृहस्थ को ही करना पड़ता है। इस तरह उसका हित और स्वार्थ परहित तथा परमार्थ का पूरक है, विरोधी नहीं। इस दृष्टि से साधुमत और लोकमत भी एक-दूसरे के पूरक हो सकते हैं। यदि सन्यासी गार्हस्थ धर्म की निन्दा करता हुआ उसे स्वार्थी कहे और गृहस्थ संन्यासी को पाखण्डी या कामचोर कहे, तो संघर्ष अनिवार्य है। गृहस्थ संन्यासी के चरणों में उसे त्यागी समझकर नमन करे, और संन्यासी गृहस्थ को ही समस्त आश्रमों का आधार मानकर चले, तो परस्पर सद्भाव की वृद्धि होगी।

राजनीति की दृष्टि तात्कालिक है, वेद दूरदृष्टि से विचार करता है; किन्तु इन दोनों की ही समान रूप से आवश्यकता है। यदि व्यक्ति को किसी अन्य नगर के लिए जाना हो तो उसे लक्ष्य की दूरी का स्मरण तो रखना ही है। उसे ध्यान रखना पड़ता है कि कहीं वह मार्ग से भटक तो नहीं गया है। पर इसके साथ-साथ उसे चलते हुए दृष्टि को पैर के अत्यन्त निकट रखना पड़ता है। यदि कोई व्यक्ति केवल दूर ही देखता रहे तो लक्ष्य पर पहुँचने में अवरोध उत्पन्न होगा; इससे पैर में काँटे चुभेंगे, ठोकर लगेगी, फिसलेगा। दूसरी ओर, यदि लक्ष्य को ध्यान में रखे बिना ही वह केवल नीचे दृष्टि किए चलता जाए, तो काँटे-आदि से भले ही सुरक्षित रहे, किन्तु लक्ष्य से भटक जाने की स्पष्ट सम्भावना है। इसलिए दोनों दृष्टियों का सन्तुलित प्रयोग आवश्यक है। राजनीति तात्कालिक समस्याओं का समाधान देती है; वेदमत शाश्वत प्रश्नों का उत्तर देते हैं।

वेद परलोक की रक्षा के लिए भले ही दूर-दृष्टि से सम्पन्न हो, किन्तु वह भविष्य की चिन्ता अधिक करता है। पर भविष्य के ही समान वर्तमान भी तो यथार्थ है। यदि परलोक की चिन्ता में व्यक्ति लोक की उपेक्षा करता है, तो यह भी कम अनर्थकारी नहीं है। समाज यदि सुव्यवस्थित नहीं होगा तो वेद-मर्यादाओं का पालन कैसे सम्भव होगा? वेद जिन यज्ञों का विधान बताते हैं, उनकी पूर्ति भी तभी सम्भव है, जब शासन-तन्त्र अत्याचरियों से सत्कर्म की रक्षा करे। महामुनि विश्वामित्र को भी वैदिक विधि से सम्पन्न किए जानेवाले यज्ञ की रक्षा के लिए राजा दशरथ के पास जाना पड़ता है। उन्होंने वेद की मान्यताओं के आधार पर जीवन में अहिंसा-व्रत धारण किया था, क्योंकि वेद अहिंसा को सर्वश्रेष्ठ धर्म बताते हैं:

परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा।
पर निन्दा सम अघ न गिरिसा॥

राजनीति अहिंसा को कैसे स्वीकार कर सकती है? राजनीति के चार चरणों में दण्ड भी एक है। अस्त्र सत्ता का एक मुख्य साधन है। महर्षि विश्वामित्र को भी यज्ञ-रक्षा के लिए उसका आश्रय लेना पड़ा। यहाँ राजनीति और वेद-मत, एक-दूसरे के पूरक रूप में स्वीकार किये गए। भगवान् राम लक्ष्मण के साथ शस्त्र-सन्नद्ध होकर यज्ञ की रक्षा करने के लिए प्रस्तुत हुए, तभी राक्षसों का विनाश हुआ। वेद-प्रतिपादित यज्ञ पूर्ण हुआ।

भगवान् राम को गुरु वशिष्ठ ने भरत की प्रार्थना सुनकर विचार करने का आदेश दिया था। प्रभु ने सोचा, "जब भरत के अनुराग ने गुरु वशिष्ठ में विचार नहीं रहने दिया, तब मैं यदि विचार का दावा करूँ तो यह गुरुदेव का ही अपमान

माना जाएगा।" इसीलिए उन्होंने श्रीभरत की वाणी पर विचार करने की आवश्यकता का अनुभव नहीं किया। श्रीरामभद्र ने गुरुदेव से कहा, "ब्रह्मर्षि! जो गुरुदेव के चरणों में अनुराग करते हैं, वे लोक और वेद दोनों में ही भाग्यशाली माने जाते हैं, किन्तु यहाँ तो वात ही उल्टी हो गयी। आप-जैसा महापुरुष जब भरत-जैसे शिष्य से अनुराग करने लगा, तब भरत के सौभाग्य की सराहना कौन कर सकता है :

जे गुरु पद अम्बुज अनुरागी।
ते लोकहुँ बेदहुँ बड़भागी।।

पर विचार न करने का एक अंतरंग कारण और है। भगवान् राम का यह प्रगाढ़ विश्वास था कि यदि चारों का समन्वय कहीं एक ही व्यक्ति में हो सकता है तो वे एकमात्र श्रीभरत ही हैं। भरत-चरित्र के अध्ययन से यह सिद्ध हो जाता है कि प्रभु का विश्वास सर्वथा यथार्थ था।

साधुमत की दृष्टि से श्रीभरत की वाणी पर विचार करने की कोई आवश्यकता ही न थी, क्योंकि रामचरितमानस के सर्वश्रेष्ठ साधु श्रीभरत ही हैं। परम विरागी महर्षि भरद्वाज ने श्रीभरत को 'सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ साधु' स्वीकार किया :

तात भरत तुम्ह सब बिधि साधू।
राम चरन अनुराग अगाधू।।

लोकमत को समझने और उसे प्रभावित करने की जितनी क्षमता भरत में है, उतनी अन्य किसी पात्र में नहीं। गुरु वशिष्ठ ने अपनी समझ से जनमत को प्रभावित करने में सफलता पायी थी। उन्होंने श्रीभरत से राज्य लेने का प्रस्ताव किया, और जनमत की ओर से इसका कोई विरोध नहीं किया गया। श्रीराघवेन्द्र के वन-गमन के समय अधिकांश अयोध्या-वासी श्रीभरत के विरोधी बन गए थे। वे श्रीराम के साथ वन की दिशा में चल पड़े। किन्तु आज उन्होंने भरत के राज्य स्वीकार करने का विरोध नहीं किया। इसलिए गुरु वशिष्ठ का अपनी सफलता के प्रति आश्वस्त होना स्वाभाविक था। परन्तु श्रीभरत के भावना-भरे भाषण ने गुरुदेव की इस भ्रांति को दूर कर दिया। सारी जनता एक स्वर से वन-गमन का समर्थन करने लगी :

प्रातकाल लखि निरनउ नीके।
भरत प्रानप्रिय भे सबही के।।
अवसि चलिअ बन राम जहँ, भरत मंत्र भल कीन्ह।
सोक सिन्धु बूड़त सबहि, तुम्ह अवलम्बन दीन्ह।।

राजनीति के द्वारा राजा अपने राज्य की सुरक्षा करता है। राजनीति-ज्ञान-शून्य राजा की सत्ता नहीं टिक सकती है :

राजं कि रहइ नीति बिनु जाने।
अघ कि रहइ हरि-चरित बखाने।।

राजा को निरन्तर सजग रहना पड़ता है। श्रीभरत की सजगता दर्शनीय है। यद्यपि उन्होंने स्वयं को कभी अयोध्या का राजा स्वीकार नहीं किया, फिर भी वे अयोध्या के राज्य को प्रभु की थाती समझकर उसके संरक्षण में सर्वदा सन्नद्ध थे। उनकी राजनीति और श्रुतियों के प्रति आस्था एक-दूसरे की पूरक बनकर राम-राज्य के आदर्श को साकार कर रही थी। वे राज्य का स्वामित्व स्वीकार नहीं करते, यह उनकी श्रुति के प्रति आस्था का परिचायक है। श्रुतियों की दृष्टि में मनुष्य पृथ्वी का पुत्र है। वह उससे प्रसाद-ग्रहण का अधिकारी तो है, किन्तु पृथ्वी के वास्तविक पति एकमात्र ईश्वर ही हैं :

समुद्रवसने देवि ! पर्वतस्तन - मंडले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं, पादस्पर्शं क्षमस्व मे।।

इसलिए स्वयं को पृथ्वी के पुत्र के रूप में देखने वाले श्रीभरत अपने-आपको पृथ्वी का स्वामी कैसे स्वीकार कर लेते ? इसीलिए श्रीभरत ने अयोध्या में पुर-वासियों के समक्ष व्याकुलता-भरे स्वर में यह कहा—"यदि आप लोगों ने मुझे राजा बना दिया तो पृथ्वी रसातल को चली जाएगी" :

मोहि हठि राज देइअहु जबहीं।
रसा रसातल जाइहि तबहीं।।

किन्तु उनकी इस भावुकता ने उन्हें कर्त्तव्य-पथ से विरत नहीं बनाया। सिंहासन पर प्रभु की पादुका आरूढ़ करने के बाद वे पादुकाओं का वैदिक विधि से नित्य-पूजन करते हैं; साथ ही वे राज-काज का सारा संचालन भी नन्दिग्राम में रहते हुए ही करते हैं :

नित पूजत प्रभु पाँवरी, प्रीति न हृदयँ समाति।
मागि-मागि आयसु करत, राज-काज बहु भाँति।।

राज्य-संरक्षण में उनकी सजगता का साक्षात्कार उस समय होता है, जब श्रीहनुमान विशाल पर्वत लिये हुए अर्धरात्रि के समय अयोध्या के आकाश में दिखायी देते हैं। सारी प्रजा सो रही थी, किन्तु कोसलेश का सच्चा सेवक उस

समय भी सजग था। और यह सन्देह होते ही कि कोई राक्षस अयोध्या को विनष्ट करने आ रहा है, बिना फल के बाण से महावीर हनुमान को भूमि पर गिराकर वे अपने अद्वितीय शस्त्र-ज्ञान को भी प्रकट कर देते हैं :

देखा भरत विसाल अति, निसिचर मन अनुमानि।
बिनु फर सायक मारेउ, चाप श्रवन लगि तानि॥

श्रीभरत के विशाल व्यक्तित्व में साधु-मत, लोक-मत, राजनीति और वेद-मत एकाकार हो रहे हैं। भगवान् राम ने इसी विश्वास के आधार पर यह निर्णय दे दिया कि श्रीभरत जो कहें, वही करने में सबकी भलाई है :

भरत कहहि सोइ किए भलाई।
अस कहि राम रहे अरगाई॥

।। श्रीरामः शरणं मम ।।

राखेउ राउ सत्य मोहि त्यागी।
तनु परिहरेउ प्रेम-पनु लागी।।
तासु बचन मेटत मन सोचू।
तेहि ते अधिक तुम्हार सँकोचू।।

अर्थ—पिताजी ने मेरा त्याग करके सत्य की रक्षा की और प्रेम-प्रण की रक्षा के लिए शरीर का परित्याग कर दिया। उनका वचन मिटाने से मेरे मन में शोक होगा। किन्तु तुम्हारा संकोच उनसे अधिक है।"

महाराज श्रीदशरथ की प्रशंसा में प्रभु ने जो वाक्य कहे, वे उनके शील के सर्वथा अनुरूप हैं। साधारणतया मानवीय स्वभाव यह है कि जब भी किसी व्यक्ति के द्वारा उसे कष्ट प्राप्त होता है, अथवा स्वार्थ में हानि होती है, तब उसके प्रति मन में आक्रोश उमड़ता है, भले ही यह हानि किसी सिद्धान्त के आधार पर हो। कष्ट पाने वाले को तो वह सिद्धान्त ही झूठा प्रतीत होने लगता है। तर्क दुधारी तलवार की तरह दोनों ओर प्रहार करता है। इसीलिए किसी भी सिद्धान्त पर तर्क के द्वारा प्रहार करना अत्यन्त सरल है। दशरथ के द्वारा जो कुछ भी हुआ, वह वस्तुतः उचित था या नहीं, इस विषय में भिन्न मत हो सकते हैं। उस समय भी इस सम्बन्ध में भिन्न धारणाएँ विद्यमान थीं। लक्ष्मण दशरथ के कटु आलोचकों में अग्रगण्य हैं। उनकी आलोचना का विस्तृत पक्ष मानस में उपलब्ध नहीं है। प्रभु उनको अपना पक्ष रखने भी नहीं देते। उन्होंने कटु शब्दों में कुछ कहना प्रारम्भ किया ही कि प्रभु ने उन्हें आगे बोलने ही नहीं दिया :

पुनि कछु लखन कही कटु बानी ।
प्रभु बरजेउ बड़ अनुचित जानी ।।

न्यायाधीश दोनों पक्षों की बात सुनकर निर्णय देता है। पर जहाँ न्यायाधीश एक पक्ष में निर्णय ले चुका हो, वहाँ सबल प्रतिपक्ष को न बोलने देना ही उपयुक्त है। लक्ष्मण के तर्क सबल थे। उनका खण्डन सरल नहीं था। अत: प्रभु उन तर्कों को सामने ही नहीं आने देना चाहते, जिससे महाराज दशरथ के प्रति किसी भी प्रकार का असम्मान प्रकट होता हो। कुछ समालोचक लक्ष्मण द्वारा की गयी आलोचना को आवेशजन्य मानने की भूल कर बैठते हैं। यदि लक्ष्मण आवेश में होते तो उन्हें सबसे अधिक आलोचना या कटु शब्दों का प्रयोग कैकेयी के प्रति ही करना चाहिए था, किन्तु पूरे मानस में श्रीलक्ष्मण कैकेयी के प्रति कठोर शब्दों का प्रयोग एक बार भी नहीं करते हैं। इसके प्रतिकूल निषादराज के द्वारा कैकेयी की आलोचना को वे अस्वीकार करते हुए उसका खण्डन भी कर देते हैं। राघवेन्द्र को कुश-शय्या पर शयन करते देखकर व्यथित निषादराज के मुख से कैकेयी के लिए कटु शब्द निकले थे :

कैकय-नंदिनि मंदमति, कठिन कुटिल पन कीन्ह ।
जेहि रघुनंदन जानकिहि, सुख-अवसर दुख दीन्ह ।।

किन्तु लक्ष्मण ने उनकी धारणा का खण्डन करते हुए स्पष्ट शब्दों में घोषित किया कि कोई किसी को दुःख-सुख देने वाला नहीं है, व्यक्ति अपने ही कर्मों का परिणाम भोगता है :

कोउ न काहु दुख सुख कर दाता ।
निज कृत कर्म भोग सब भ्राता ।।
× ×
अस बिचारि नहिं कीजिअ रोषू ।
काहुहि बादि न देइअ दोषू ।।

श्रीलक्ष्मण ने महाराज दशरथ की आलोचना अयोध्या में नहीं की। सर्वप्रथम क्रोध तो उन्हें वहीं आना चाहिए था। इसका तात्पर्य यही है कि लक्ष्मण को वन-गमन के आदेश की तुलना में चार दिन में लौटा लाने का आदेश अधिक अप्रिय प्रतीत हुआ। और उन-जैसे दृढ़ चरित्र वाले के लिए यह अस्वाभाविक भी नहीं था। वन-गमन की आज्ञा में उन्हें पिताजी की सत्य-निष्ठा का परिचय प्राप्त हुआ था, भले ही वे स्वयं धर्मनिष्ठ न होकर प्रेमनिष्ठ हों। पर दूसरों

की निष्ठा पर वे आपत्ति नहीं करते हैं। अयोध्या में उनके मन में पिताजी के प्रति सहानुभूति की भावना थी। उन्होंने सोचा कि "पिताजी को अपनी सत्य-निष्ठा के कारण ही यह महान् त्याग करना पड़ रहा है।" किन्तु गंगा-तट पर उनके विश्वास की मूर्ति खण्डित हो गयी। उनके समक्ष दशरथ की जो नयी आकृति आयी, वह कायरता और किंकर्त्तव्य-विमूढ़ता का मिश्रण प्रतीत हो रही थी। यदि वे सत्य-निष्ठ हैं तो उन्हें महान्-से-महान् कष्ट उठाकर भी राम को वन जाने देना चाहिए था। और यदि वे श्रीराम से प्रेम करते हैं तो उन्हें साहस-पूर्वक कैकेयी से स्पष्ट शब्दों में कह देना चाहिए था कि मैं किसी तरह रामभद्र को वन नहीं जाने दूँगा। इससे बढ़कर कायरता क्या होगी कि कैकेयी के सामने तो मुँह न खोल सकें और उसके बाद एकान्त में आदेश दें कि "वन में घुमाकर और गंगा-स्नान कराकर राम को लौटा ले आया जाय":

रथ चढ़ाइ सुरसरि अन्हवाई।
आवेहु फेरि बेगि दोउ भाई।।

आदेश भी कैसा हास्यास्पद ! धर्म के साथ छल ! वन में घुमाकर लाने का तात्पर्य ही यही है कि वे सत्य का पालन न करते हुए भी उसका नकली प्रदर्शन करने की चेष्टा कर रहे हैं। अतः लक्ष्मण की दृष्टि में न तो वे धर्मनिष्ठ थे और न ही प्रेमनिष्ठ। एक दुर्बल किंकर्त्तव्य-विमूढ़ व्यक्ति उनकी श्रद्धा का पात्र हो ही कैसे सकता था ? इसी दृष्टि से उन्होंने दशरथ के प्रति कठोर शब्दों का प्रयोग करने में संकोच का अनुभव नहीं किया।

श्रीभरत भी महाराज श्रीदशरथ के दृष्टिकोण से सहमत नहीं थे। उन्हें भी लगा था कि पिताजी जीवन के अन्तिम दिनों में अपना विवेक खो बैठे थे। उन्होंने आक्रोश-भरे स्वर में कैकेयी के समक्ष यही तो कहा था कि पिताजी ने तुम्हारा विश्वास कैसे कर लिया ! लगता है, मृत्यु के सन्निकट होने के कारण ब्रह्मा ने उनकी बुद्धि को ही छीन लिया :

भूप प्रतीति तोर किमि कीन्ही।
मरन काल बिधि मति हरि लीन्ही।।

स्वयं महाराज दशरथ भी अपने कार्य के औचित्य के विषय में संदिग्ध थे। उन्हें रह-रह कर एक ही शूल चुभता था कि मैंने वनराज्य देने के लिए कहकर वन दे दिया, फिर भी राम ने इसका विरोध नहीं किया :

राज सुनाइ दीन्ह बनबासू।
सुनि मन भयउ न हरष हरासू।।

इसका तात्पर्य यही है कि उन्हें ज्ञात था कि राम यदि चाहते तो मेरे कार्य का विरोध कर सकते थे। वे कह सकते थे कि आप मुझे भी तो राज्य देने का वचन दे चुके हैं, उसे पूरा न करने पर आप असत्यवादी सिद्ध होंगे।" किन्तु रामभद्र तो उसे सहज भाव से स्वीकार कर लेते हैं। उनके मन में पिताजी के कार्य के औचित्य के प्रति कोई सन्देह नहीं था। वे तो कहते हैं कि "मैं सौभाग्य-शाली हूँ कि महाराजश्री-जैसा धर्म-निष्ठ पिता मुझे प्राप्त हुआ—जो सत्य के लिए मेरा भी त्याग कर सका।" भगवान् राम की इस दृष्टि में उनके शील का परिचय तो प्राप्त होता ही है; साथ ही धर्म की व्याख्या के लिए एक अनुपम सूत्र भी उपलब्ध होता है। श्रीलक्ष्मण, श्रीभरत और महाराज श्रीदशरथ के दृष्टिकोण में जो पार्थक्य प्रतीत होता है, उसका सम्यक् समाधान भी इसी सूत्र में निहित है।

धर्म के साथ 'स्व' अथवा 'निज' शब्द का प्रयोग ही इस सूत्र का मूल प्राण है। गीता में 'स्वधर्म' शब्द का प्रयोग किया गया है। रामचरितमानस में इसे 'स्व' और 'निज' दोनों ही नामों से स्मरण किया गया है:

सब नर करहिं परसपर प्रीती।
चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥

× ×

बरनाश्रम *निज-निज धरम,* **निरत बेद पथ लोग।**
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं, नहिं भय सोक न रोग॥

धर्म की ऐसी कोई सामान्य व्याख्या नहीं की जा सकती है जिसके लिए यह दावा किया जा सके कि वह समान रूप से सबके लिए उपयोगी है। देश, काल और व्यक्ति को दृष्टिगत रखकर धर्म की व्याख्या परिवर्तित होती रहती है।

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इसके आधार पर प्रत्येक व्यक्ति धर्म की मनमानी व्याख्या करने लगे। इस प्रकार के प्रयास से तो धर्म के क्षेत्र में उच्छृ-ङ्खलता का ऐसा प्रवेश होगा कि वह अधर्म की अपेक्षा और भी अधिक घातक सिद्ध हो सकता है। इसलिए धर्म का निर्णय शास्त्र से किया जाना चाहिए, ऐसा आदेश दिया गया है:

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्र - विधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

किन्तु शास्त्र को आधार मानकर धर्म की व्याख्या करने पर भी इसे अस्वी-कार नहीं किया जा सकता है कि शास्त्रों की व्याख्याएँ निरन्तर परिवर्तित होती

रहीं हैं। जो इसे स्वीकार नहीं करते हैं वे परम्पराओं के ही अन्ध भक्त हैं। इस प्रकार के लोग सत्य को कभी भी स्वीकार नहीं कर सकते। रामचरितमानस के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय भी धर्म की कोई सुनिश्चित व्याख्या नहीं थी। मूल सूत्रों को ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लेने पर भी उसकी की जाने वाली व्याख्या एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न थी।

गुरु वशिष्ठ शास्त्र के वचनों का उद्धरण देते हुए यह कहते हैं कि गुरुजनों की वाणी बिना विचार के ही मान ली जानी चाहिए :

अनुचित उचित बिचार तजि, जे पालहिं पितु बैन।
ते भाजन सुख सुजस के, बसहिं अमरपति-ऐन॥

श्रीभरत भी इस उद्धरण को ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लेते हैं :

गुरु पितु मातु स्वामि हित बानी।
सुनि मन मुदित करिअ भलि जानी॥
उचित कि अनुचित किए बिचारू।
धरम जाइ सिर पातक भारू॥

पर यह स्पष्ट है कि गुरु वशिष्ठ और श्रीभरत इसकी व्याख्या भिन्न-भिन्न रूपों में करते हैं। यदि ऐसा न होता तो श्रीभरत राज्य स्वीकार करने में संकोच न करते। गुरु वशिष्ठ जहाँ इस वाक्य का यह अर्थ लेते हैं कि पिता के वाक्य को अनुचित होते हुए भी स्वीकार कर लेना चाहिए, वहाँ श्रीभरत शास्त्र के तात्पर्य को भिन्न अर्थ में लेते हैं। शास्त्र का उद्देश्य केवल पुत्र को ही धर्म में आरूढ़ करना नहीं है। वह तो पिता, पुत्र अथवा समाज के प्रत्येक व्यक्ति को धर्म में स्थित देखना चाहता है। यदि शास्त्र यह आदेश देता है कि "पिता की आज्ञा में उचित-अनुचित का विचार नहीं करना चाहिए, तब ऐसा कहते हुए वह पिता से क्या आशा करता है? क्या इसके माध्यम से वह पिता को अनुचित आदेश देने की छूट दे देता है? निश्चित रूप से शास्त्र का यह तात्पर्य नहीं हो सकता। शास्त्र पिता से भी यह आशा रखता है कि वह कभी अपने पुत्र को अनुचित आदेश नहीं देगा। इस प्रसङ्ग में एक नीति-वाक्य का स्मरण आता है जिसमें यह बताया गया है कि "न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः"—अर्थात्, वह सभा ही नहीं है जहाँ पर वृद्ध न हों। किन्तु वृद्ध को गौरव देने के तत्काल बाद यह कह दिया गया कि वह वृद्ध नहीं है जो धर्म के अनुकूल वचन न बोले : "न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम्।" ठीक इसी तरह शास्त्र इस विषय में असंदिग्ध था कि कोई पिता यदि पुत्र को अनुचित आदेश देता है तो वह पिता कैसा? अथवा प्रश्न यह है कि यदि

आदेश का पालन करने पर आज्ञा देने वाले की ही हानि हो तो उस समय पुत्र का क्या कर्त्तव्य है ? विवेकी पुत्र स्वयं की भौतिक हानि सह सकता है, पर यदि उसमें पिता की ही हानि हो, तो उस समय इन शास्त्र-वचनों का अक्षरशः पालन धर्म होगा या अधर्म ? इस तरह कई प्रश्न इस सन्दर्भ में उठ खड़े होते हैं। अतः 'अनुचित-उचित' का विचार छोड़ने का तात्पर्य इतना ही है कि अहंकार के कारण गुरुजनों की आज्ञा का तिरस्कार नहीं किया जाना चाहिए। इतिहास में कुछ ऐसे पात्र हो सकते हैं जिन्होंने अक्षरशः इन पंक्तियों को स्वीकार किया हो, किन्तु वहाँ भी सामयिक और व्यक्तिगत सन्दर्भों को ध्यान में रखना होगा। गुरु वशिष्ठ ने परशुराम का दृष्टान्त दिया है जिन्होंने पिता की आज्ञा से माँ का वध कर दिया :

परसुराम पितु आग्या राखी।
मारी मातु लोक सब साखी॥

क्या इस दृष्टान्त के आधार पर आज कोई पिता पुत्र से ऐसी आशा कर सकता है कि पुत्र उसके आदेश से माँ का वध कर दे ? क्या पुत्र को ऐसा आदेश मानना चाहिए ? क्या इस कर्म से उसे लोक में सुख-सुयश और परलोक में सद्-गति मिलेगी जिसका आश्वासन वशिष्ठ ने भरत को दिया ? :

अनुचित उचित बिचार तजि, जे पालहिं पितु बैन।
ते भाजन सुख सुजस के, बसहिं अमरपति-ऐन॥

ऐसा करने से इस लोक में, उसे कलङ्क और मृत्युदण्ड अवश्य मिलेगा। मरने के वाद भी उसकी दुर्गति ही होगी। इस प्रसङ्ग में परशुराम की कथा भी विचारणीय है। कहा जाता है, महर्षि जमदग्नि ने किसी कारण से रुष्ट होकर अपने पुत्रों को रेणुका (महर्षि की धर्मपत्नी) के वध का आदेश दिया। अन्य पुत्रों ने इसे अस्वीकार कर दिया, अन्त में महर्षि ने परशुराम को आदेश दिया कि रेणुका-सहित अन्य भाइयों का शिर वे काट लें। परशुराम ने इस आदेश को पूरा कर दिया। प्रसन्न होकर महर्षि ने उनसे वरदान माँगने के लिए कहा। परशुराम ने प्रार्थना की कि उनकी माता रेणुका को सब भाइयों सहित पुनः जीवित कर दें, साथ ही यह भी कि उन लोगों को यह स्मरण भी न रहे कि मैंने उनका शिर काट लिया था। जमदग्नि ने 'तथास्तु' कहकर सबको जीवित कर दिया। परशुराम को यह ज्ञात था कि उनके अतुलनीय सामर्थ्य वाले पिता पुनः जीवन-दान दे सकते हैं। पर उन्हें यदि यह ज्ञात होता कि ऐसा करना सम्भव नहीं होगा, तो वे आज्ञा का पालन करते या नहीं ? संभवतः न करते। इसीलिए

शास्त्रों की प्रमाणिकता स्वीकार करते हुए भी देश, काल और व्यक्ति के सन्दर्भ में उसकी व्याख्या में परिवर्तन होता है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। किन्तु कुछ सूत्र ऐसे हैं जिनके आधार पर किया गया निर्णय धर्म की वास्तविकता के सन्निकट ले जाता है। इसमें सबसे मुख्य आधार है : स्वार्थ का त्याग। मुख्य प्रश्न यह है कि धर्म के पालन से व्यक्ति को त्याग, संयम और परोपकार की प्रेरणा प्राप्त होती है या स्वार्थ और भोग की वृत्तियों को समर्थन मिलता है?

रामचरितमानस में धर्म के निर्णय में यही कसौटी मुख्य रूप से कार्य कर रही है। भगवान् राम और श्रीभरत के धर्म-सम्बन्धी निर्णय में जो भिन्नता प्रतीत होती है, उसका रहस्य यही है। रामभद्र को पिता के कार्य में औचित्य दिखायी देता है—क्योंकि इससे उन्हें तप-त्याग की दिशा में प्रेरणा प्राप्त होती है। श्री-भरत को राज्य दिया गया है, परन्तु वे उस आज्ञा में औचित्य नहीं देख पाते। धर्म का यही स्वरूप राम-राज्य का मुख्य आधार है। इसी को वहाँ स्वधर्म और निजधर्म के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

भगवान् राम महाराज श्रीदशरथ को, सत्य और प्रेम, दोनों ही दृष्टियों से महान् सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। "उन्होंने सत्य के लिए मेरा त्याग कर दिया। मुझसे बढ़कर उनका स्नेह-पात्र कोई नहीं था, यह तो इसीसे सिद्ध हो गया कि उन्होंने मेरे विरह में प्राणों का ही परित्याग कर दिया।" प्रभु का संकेत था कि "उनकी तुलना में मेरा तो कोई त्याग हीनहीं है। अयोध्या के राज्य का त्याग इन दोनों त्यागों की तुलना में कोई अर्थ नहीं रखता। यहाँ भी मेरे साथ अनुराग-मयी सीता और सेवाव्रती लक्ष्मण हैं, अतः इसे तो त्याग कहना ही व्यर्थ है। मैंने तो धर्मात्मा की उपाधि सबसे कम मूल्य में प्राप्त कर ली। अब यदि मैं पिताजी के वचनों को मिटा दूँ तो इससे बढ़कर मेरे लिए शोक और लज्जा की कोई बात हो ही नहीं सकती है।"

किन्तु यह तो भूमिका थी। इसके बाद कोसल-किशोर स्पष्ट कह देते हैं कि "भरत ! ऐसे पिता की अपेक्षा भी तुम्हारा संकोच अधिक है।" महाराजश्री की तुलना में श्रीभरत का संकोच क्यों अधिक है, इसका कोई स्पष्टीकरण वे नहीं करते। यदि सम्बन्ध की दृष्टि से विचार करें तो भाई भरत की अपेक्षा पिता को संकोच अधिक होना चाहिए। महाराज की सत्यनिष्ठा और प्रेमनिष्ठा की तुलना में श्रीभरत में ऐसा क्या है जिसके कारण श्रीरामभद्र उन्हें पिताजी से भी अधिक सम्मान देते हैं, यह विचारणीय प्रश्न है।

महाराज दशरथ और श्रीभरत का पहला पार्थक्य है सत्य-निष्ठा और शील-निष्ठा को लेकर। दशरथ सत्यनिष्ठ हैं और भरत शीलनिष्ठ। सत्य और शील, दोनों ही धर्म के उत्कृष्ट अङ्ग हैं किन्तु मानस की दृष्टि में सत्य की तुलना में शील

ही श्रेष्ठ है। सत्य आत्मनिष्ठ है और शील लोकनिष्ठ। सत्यवादी यह जानता है कि सत्य के पालन से लोक में सम्मान और मृत्यु के पश्चात् सद्गति प्राप्त होती है। किन्तु शील का उद्देश्य क्या है ? यहाँ यह भी स्पष्ट समझ लिया जाना चाहिए कि शील का तात्पर्य वह मिथ्याचरण नहीं है जो बहुधा व्यवहार-कुशल लोग प्रयुक्त किया करते हैं। शील हृदय की वह कोमल वृत्ति है जो निरन्तर दूसरों की भावना का ध्यान रखती है। शीलवान में निरन्तर यह सजगता बनी रहती है कि उसके कारण कहीं किसी को रंच-मात्र भी कष्ट न हो। सत्यनिष्ठ व्यक्ति दूसरों की भावना का ध्यान नहीं रखता है। वह कभी-कभी अपने सत्य के द्वारा दूसरों को कष्ट भी पहुँचाता है। इसीलिए शील की तुलना में सत्य अधिक स्वार्थ-परायण सिद्ध होता है।

महाराज दशरथ ने बड़े गर्व से कैकेयी के समक्ष स्वयं के सत्यनिष्ठ होने की घोषणा की थी। सत्य की सराहना में उन्होंने मनु का उद्धरण दिया। उन्हें अपनी सत्यनिष्ठा पर इतना विश्वास था कि वे उसकी पुष्टि के लिए राम की शपथ भी ले चुके थे :

रघुकुल रीति सदा चलि आई।
प्रान जाहु बरु बचन न जाई।।
नहिं असत्य सम पातक पुंजा।
गिरि सम होहिं कि कोटिक गुंजा।।
सत्य मूल सब सुकृत सुहाए।
बेद पुरान बिदित मनु गाए।।
ता पर राम सपथ करि आई।
सुकृत सनेह अवधि रघुराई।।

सत्यनिष्ठ व्यक्ति में इस प्रकार का गर्व स्वाभाविक रूप से देखा जाता है। यह गर्व ही उसे अपनी निष्ठा पर दृढ़ रहने की प्रेरणा प्रदान करता है। उसे भय रहता है कि कहीं उसका गर्व-दीप्त मस्तक झुक न जाए, या, लोकदृष्टि में उसका सम्मान समाप्त न हो जाए। महाराज दशरथ को भी अपने गर्व का बहुत बड़ा मूल्य चुकाना पड़ा। उन्होंने वेदों और पुराणों की जो साक्षी दी थी वह कैकेयी के द्वारा उन्हीं के विरुद्ध प्रयुक्त की गयी। कैकेयी ने जब दशरथ के समक्ष अपने दो वरदान रक्खे, तब उनका वह सारा अतिरेक-भरा उत्साह समाप्त हो गया जो उन्होंने कैकेयी के समक्ष प्रारम्भ में प्रकट किया था, "दो वरदान की तो बात ही क्या है, चार माँग लो" :

जानेउँ मरम राउ हँसि कहई ।
तुम्हहि कोहाब परमप्रिय अहई ।।
थाती राखि न माँगिहु काऊ ।
बिसरि गयउ मोहि भोर सुभाऊ ।।
झूठेहु हमहि दोष जनि देहू ।
दुइ कै चारि माँगि मकु लेहू ।।

अब तो व्याकुल स्वर में वे कैकेयी से दूसरा वरदान वापस लेने का अनुरोध करने लगे। उस समय कैकेयी ने उन पर जो व्यंग-वाण छोड़े, वे महाराज श्रीदशरथ के ही तरकश के तीर थे। उनका अस्त्र उन्हीं के विरुद्ध प्रयुक्त किया गया—"सत्य की सराहना करते हुए मुझसे वरदान माँगने के लिए कहते समय क्या आपने सोचा था कि मैं भुने हुए चने माँगने जा रही हूँ ? आप तो स्वयं के ही शब्दों में रघुवंश-शिरोमणि हैं। जिस वंश में लोग सत्य के लिए बड़े-से-बड़ा त्याग करते रहे हैं, उस वंश के होकर क्या आपका यह आचरण शोभनीय है ? बन्द कीजिए यह स्त्रियों-जैसा आँसू बहाना !" कैकेयी के इन वाक्यों ने महाराज को बींध कर रख दिया :

जो सुनि सर अस लाग तुम्हारे ।
काहे न बोलहु बचन सँभारे ।।
देहु उतर अन करहु कि नाहीं ।
सत्यसंध तुम्ह रघुकुल माहीं ।।
देन कहेहु अब जनि बर देहू ।
तजहु सत्य जग अपजस लेहू ।।
सत्य सराहि कहेहु बर देना ।
जानेहु लेइहि माँगि चबेना ।।
सिबि दधीचि बलि जो कछु भाखा ।
तन धनु तजेउ बचन पनु राखा ।।

वे श्रीराम को किसी भी तरह वन नहीं भेजना चाहते थे। किन्तु उनमें इतना साहस ही नहीं था कि वे असत्य का कलङ्क ले सकें। यद्यपि वे मन-ही-मन यह सब-कुछ सहने के लिए प्रस्तुत दिखायी देते हैं। यही प्रार्थना कर रहे हैं कि "भले ही मुझे अपयश प्राप्त हो, मैं नरक में चला जाऊँ, किन्तु राम मेरी आँखों से ओट न हों" :

अजस होउ जग सुजस नसाऊ।
नरक परौं बरु सुरपुर जाऊ।।
सब दुख दुसह सहावहु मोही।
लोचन ओट राम जनि होंही।।

किन्तु वे स्वयं इस संकल्प को वाणी देने में असमर्थ हैं। इसके लिए वे भगवान् शङ्कर से प्रार्थना करते हैं—आशुतोष अवढरदानी हे शिव! आप ही श्रीराम को ऐसी बुद्धि दीजिए कि वे मेरी आज्ञा का उल्लंघन कर दें" :

सुमिरि महेसहिं कहइ निहोरी।
बिनती सुनहु सदा सिव मोरी।।
आसुतोष तुम्ह अवढर दानी।
आरति हरहु दीन जन जानी।।
तुम्ह प्रेरक सबके हृदय, सो मति रामहि देहु।
बचन मोर तज रहहिं घर, परिहरि सील सनेहु।।

किन्तु यह प्रार्थना करते समय वे भूल गए कि यदि राम ने उनकी आज्ञा का उल्लंघन किया तो इससे उन्हें कितना अधिक कलङ्क मिलेगा। वे हृदय से कुछ भी कहें, कलङ्क से उन्हें भय लगता है।

रघुवंश की परम्परा के प्रति उनकी आसक्ति उनके अन्तःकरण के संकल्प को साकार बनने नहीं देती। इसके लिए वे अनजाने में ही श्रीराम के यश को धूमिल बनाने की प्रार्थना करते दिखायी देते हैं। किन्तु शील-निष्ठ श्रीभरत का दर्शन सर्वथा भिन्न है। उनमें व्यक्तिगत सुख की आकांक्षा का सर्वथा अभाव है। सत्यनिष्ठ में जो गर्व होता है वह शील-निष्ठ में सम्भव ही नहीं है। गर्व और शील एक-दूसरे के सर्वथा विरोधी हैं। गर्व आत्मनिष्ठ होता है। शील तो सर्वदा दूसरों के सुख-दुःख की चिन्ता में संलग्न है। श्रीभरत तो कभी यह कल्पना भी नहीं कर सकते हैं कि वे स्वसुख के लिए या स्वयश के लिए प्रभु के यश को धूमिल बनावें। महाराज श्रीदशरथ अपने अन्तःकरण में उठते हुए मनोभावों को लोक-भय के कारण साकार नहीं कर पाते। किन्तु श्रीभरत उसे साकार करके दिखा देते हैं। वे तो त्रिवेणी से यह वरदान भी माँगते हैं कि चाहे श्रीराम मुझे कुटिल समझें, लोक-दृष्टि में मैं स्वामिद्रोही माना जाऊँ, किन्तु मेरे अन्तःकरण में श्रीसीताराम के चरणों में निरन्तर प्रेम बढ़ता रहे :

जानउ राम कुटिल करि मोही।
लोग कहउ गुरु साहिब द्रोही।।

सीताराम चरन रति मोरे।
अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरे।।

केवल प्रभु का सुख, उनका यश ही भरत के जीवन का लक्ष्य है। महाराज दशरथ श्रीराम का त्याग करते हैं सत्य के लिए। श्रीभरत भी प्रभु के सान्निध्य का सुख छोड़ते हैं, उनसे स्वयं दूर चले जाते हैं, किन्तु उनके इस कार्य के पीछे शील ही प्रेरक है। मेरे कारण प्रभु को संकोच न हो, यही भावना है। क्योंकि उनका यह दृढ़ निश्चय है कि जो सेवक स्वामी को संकोच में डालता है, वह क्षुद्र-बुद्धि है :

जो सेवक साहिबहि सँकोची।
निज हित चहइ तासु मति पोची ।।

दशरथ जहाँ प्रभु के विरह में प्राण-त्याग कर देते हैं वहाँ श्रीभरत वियोग होने पर भी शरीर विनष्ट नहीं होने देते। बहिरंग दृष्टि से देखने पर दशरथ का त्याग महान् दिखायी देता है, क्योंकि व्यक्ति को प्राणों से बढ़कर कोई वस्तु प्रिय नहीं होती। किन्तु आन्तर दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीभरत का त्याग दशरथ की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट है। तुलसी ने दोहावली में पति के साथ सती होने के लिए प्रस्तुत एक देवी से कहा, "देवी, पति के साथ अग्नि में जल जाना ही सतीत्व की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं है। कुछ क्षणों में शरीर को अग्नि में जला देने की अपेक्षा प्रियतम की विरहाग्नि में जीवन-भर जलते रहना अधिक कठिन है :

नाहक सीस उघारेउ, बरजि रहे प्रिय लोग।
घरहीं सती कहावतीं, जरतीं नाह बियोग ।।

प्रियतम के वियोग में जीवन-भर जलते रहकर निरन्तर प्रिय की स्मृति में संलग्न रहना, विषय के समीप रहकर भी उसके प्रलोभनों में न फँसना बड़ा कठिन कार्य है। विरह की अग्नि में ही प्रेम-स्वर्ण की सच्ची परीक्षा होती है। अग्नि में जलने वाली सती की परीक्षा केवल कुछ क्षणों की होती है। कुछ क्षणों के साहस में ही सती स्त्री लोक-दृष्टि में पूज्य बन जाती है। किन्तु विरहाग्नि में जलने वाली सती का तो पूरा जीवन ही परीक्षा है। महाराज दशरथ ने प्राणों का परित्याग कर प्रथम प्रकार के सतीत्व का परिचय दिया। किन्तु प्रतिक्षण विर-हाग्नि में जलते हुए भी विषय-विमुख श्रीभरत उनसे कहीं अधिक आगे हैं। न केवल वे जीवित रहे, अपितु अयोध्या के वैभव और भोगों में उनका मन कभी

नहीं रमा। वे तो अयोध्या के चंपक वन में भ्रमर के समान निवास करते हैं। किन्तु उनका यह वैराग्य केवल स्वसुख के अभाव का परिचायक है। प्रजा के पालन में वे, उसे प्रभु की थाती समझकर निरन्तर उसकी रक्षा में संलग्न रहते हैं :

नित पूजत प्रभु पाँवरी, प्रीति न हृदयँ समाति।
मागि मागि आयसु करत, राज काज बहु भाँति।।

भगवान् राम ने जब यह कहा कि "भरत कहहि सोइ किए भलाई", तब उनके इस साहस के पीछे भरत के शील के प्रति उनका अविचल विश्वास झलक रहा था। उन्होंने जान-बूझकर 'संकोच' शब्द का प्रयोग किया था। उन्हें यह ज्ञात था कि भरत कभी भी उन्हें संकोच में नहीं डाल सकते। इसलिए महाराज-श्री की तुलना में श्रीभरत को अधिक महत्त्व देकर प्रभु ने सर्वथा औचित्य का ही कार्य किया है।



॥ श्रीराम: शरणं मम ॥

भरत अवधि सनेह ममता की।
जद्यपि राम सीम समता की॥

अर्थ—"यद्यपि भगवान् राम समता की सीमा हैं। किन्तु भरत भी स्नेह और ममत्व की मर्यादा हैं।"

चित्रकूट के अस्थायी शिविर में महाराज श्रीजनक और महारानी सुनयना के मध्य वार्त्तालाप चल रहा है—वार्त्तालाप के विषय हैं श्रीभरत। विदेह का हृदय भरत की भावनाओं से अभिभूत है। उधर सुनयना महारानी कौसल्या के निकट से लौटकर आयी हैं। कौसल्या ने सुनयना के द्वारा राजर्षि के पास एक प्रस्ताव भेजा है। क्योंकि उन्हें भी यह लग रहा था कि चित्रकूट में मुख्य निर्णायक की भूमिका महाराज जनक के द्वारा ही सम्पन्न होगी। श्रीभरत के प्रति सदा से ही कौसल्या अम्बा का पक्षपात था। वे भरत के मूक प्रेम से परिचित थीं। भरत के मौन से माँ भयभीत हैं। उन्हें लगता है कि कहीं भरत का चुप रहना ही उनके लिए घाटे का सौदा न हो जाय। श्रीलक्ष्मण का असीम प्रेम उन्हें ज्ञात न हो ऐसा नहीं है। पर वे जानती हैं कि लक्ष्मण अपने हृदय की बात वाणी तक ला सकते हैं। वे स्वयं अपना संकल्प पूर्ण करने की क्षमता रखते हैं। अत: माँ के हृदय में अपने गूँगे बालक भरत की चिन्ता स्वाभाविक थी। उन्हें ऐसा लग रहा था कि राम तो वन में रहेंगे ही, अब प्रश्न केवल इतना है कि राम की सेवा में कौन रहेगा ? लक्ष्मण सेवाव्रती हैं, आग्रहपूर्वक राम के साथ आये हैं। अतः स्वभावतः

वे ही पास रहने के अधिकारी मान लिए जाएँगे। भरत अपने हृदय की भावनाओं को वाणी के द्वारा अभिव्यक्ति नहीं दे सकेंगे। उन्हें अयोध्या लौटकर जाना ही होगा। उस समय भरत के कष्ट की सीमा नहीं रहेगी। जो अपनी पीड़ा को वाणी से न कह सके, उसका दुःख अत्यन्त घातक होता है। अतः माँ चाहती हैं कि लक्ष्मण को अयोध्या लौटा दिया जाय। उनके स्थान पर भरत राम के निकट रहें :

कौसल्या कह धीर धरि, सुनहु देवि मिथिलेसि।
को बिबेक-निधि-बल्लभहि, तुम्हहि सकइ उपदेसि॥
रानि राय सन अवसरु पाई।
आपनि भाँति कहब समुझाई॥
रखिअहिं लखन भरत गवनहिं बन।
जौं यह मत मानइ महीप मन॥
तौ भल जतन करब सुबिचारी।
मोरे सोच भरत कर भारी॥

सुनयना ने महाराज जनक के समक्ष कौसल्या का प्रस्ताव रखा। प्रस्ताव में निहित भावना की राजर्षि जनक सराहना करते हैं, किन्तु उन्हें ऐसा लगता है कि यह होने वाला नहीं है। कौसल्या अम्बा के प्रस्ताव के उत्तर में महाराजश्री ने जो वाक्य कहे, उनमें दो बातों का स्पष्टीकरण है। प्रथम यह कि उन्हें इस प्रसंग में जो महत्त्व दिया जा रहा है वह यथार्थ नहीं है। गुरु वशिष्ठ और कौसल्या अम्बा दोनों की यह धारणा थी कि राजर्षि के द्वारा ही इस उलझी हुई समस्या का समाधान होगा। जनक ने स्पष्ट कर दिया कि "मेरी बुद्धि धर्म, राजनीति और ब्रह्म-विचार में कार्य करती है, किन्तु वही बुद्धि भरत की महिमा की छाया का स्पर्श छलपूर्वक भी नहीं कर पाती :"

धरम राज नय ब्रह्म बिचारू।
इहाँ जथामति मोर प्रचारू॥
सो मति मोरि भरत महिमाहीं।
कहइ काह छल छुअति न छाहीं॥

ईश्वर के द्वारा व्यक्ति को जो सर्वश्रेष्ठ देन मिली है, वह है 'बुद्धि'। नश्वर शरीर में रहने वाला व्यक्ति इस बुद्धि के द्वारा ही ब्रह्माण्ड की दूरियों को नाप लेता है। सृष्टि के रहस्यों का उद्घाटन करता है। व्यवहार का नियमन करता है। स्वार्थ-परमार्थ सर्वत्र ही इसकी उपयोगिता है। किन्तु जहाँ इसकी रंच-मात्र उपयोगिता नहीं है वह है, 'प्रेम'। बुद्धि का मुख्य कार्य है कार्य-कारण की संगति

का निश्चय करना। जब तक वह किसी कार्य के कारण का पता नहीं लगा लेती, तब तक उसे संतोष नहीं होता है। प्रेम कारण-रहित होता है। देवर्षि नारद प्रेम की व्याख्या करते हुए प्रारम्भ में ही उसकी अनिर्वचनीयता का प्रतिपादन करते हैं। इस अनिर्वचनीयता का रहस्य ही यह है कि वहाँ सृष्टि-विधान से सर्वथा विपरीत स्थिति रहती है। सृष्टि गुणमयी है, कामना ही इसके विस्तार में मुख्य हेतु है। यहाँ प्रत्येक वस्तु घटने-बढ़ने वाली है, विनाशी है, स्थूल है और दृष्टि को ही यहाँ विशेष महत्त्व प्राप्त है। इसके विपरीत प्रेम गुण-रहित है, कामना का उसमें लेश भी नहीं है, उसमें वृद्धि और ह्रास का क्रम ही नहीं है। वह निरन्तर वर्धमान है और दृष्टि के स्थान पर केवल अनुभव का विषय है :

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणं वर्धमान-
मविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम् ॥

बुद्धि ने सृष्टि के विषय में जो सिद्धान्त स्थिर किए हैं, यदि उस आधार पर वह प्रेम को समझने का प्रयास करे, तो उससे असफलता ही हाथ लगेगी। प्रेमी भी सृष्टि में ही रहता है। इसलिए बुद्धि के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह सृष्टि-सम्बन्धी कार्य-कारण भाव प्रेम में आरोपित न करे। यही बाध्यता उसे प्रेम-रस में डूबने नहीं देती है। इसीलिए बुद्धि की सीमाओं को जानने वाला व्यक्ति प्रेम में उसका प्रयोग नहीं करता है। महाराज श्रीजनक सुनयना के समक्ष इसी सत्य को स्वीकार करते हैं।

महाराज श्रीजनक ने इस सन्दर्भ में अपनी असमर्थता के लिए बड़ा सार्थक दृष्टान्त दिया : "मछली जल में तैर रही थी, वह जल के अगाध प्रवाह में सीधे, उल्टे, ऊपर, नीचे सर्वत्र अव्याहत गति से क्रीड़ा कर रही थी। किसी व्यक्ति के अन्तःकरण में ऐसा विचार उत्पन्न हुआ कि प्रवाह-युक्त तरंगायित जल में जब वह इतनी अद्‌भुत कला का प्रदर्शन कर रही है, तब स्थिर पृथ्वी पर जहाँ किसी प्रकार का प्रवाह-जन्य अवरोध नहीं है, वहाँ तो इसकी गति देखने योग्य होगी। उसने मछली को जल से बाहर निकाल दिया।" सुनयना की ओर व्यंग-भरी दृष्टि से देखकर महाराजश्री ने मानो जानना चाहा कि उस मछली की क्या स्थिति होगी? सुनयना या मछली की प्रकृति को जानने वाला कोई भी व्यक्ति यही उत्तर देगा कि क्षण-भर में उसकी मृत्यु हो जाएगी। जनक कहते हैं, "मैं ही क्या, ब्रह्मा, गणेश, शिव और शारदा आदि के लिए भी भरत की महिमा का गायन उसी प्रकार कठिन है, जैसे जल-शून्य स्थल पर मछली का चलना" :

बिधि गनपति अहिपति सिव सारद।
कवि कोबिद बुध बुद्धि बिसारद ॥

भरत चरित कीरत करतूती।
धरम सील गुन बिमल बिभूती॥
समुझत सुनत सुखद सब काहू।
सुचि सुरसरि रुचि निदर सुधाहू॥
निरवधि गुन निरुपम पुरुष, भरत भरत-सम जानि।
कहिअ सुमेरु कि सेर सम कबिकुल-मति सकुचानि॥
अगम सबहि बरनत बर बरनी।
जिमि जलहीन मीन गमु धरनी॥

बुद्धि मछली है। सृष्टि के विविध रहस्य जल के समान हैं। धर्म, राजनीति और ब्रह्म-विचार आदि नदी के तीव्र प्रवाह के सदृश हैं। बुद्धि अपने कौशल के द्वारा इस प्रवाहमयी नदी में क्रीड़ा करती रहती है। जनक का तात्पर्य यह था कि धर्म, राजनीति और वेदान्त आदि में मेरे बुद्धि-कौशल को देखकर लोग उसी तरह प्रभावित हैं, जैसे जल में मछली की तैराकी देखकर। किन्तु श्रीभरत की महिमा पृथ्वी की तरह है, जहाँ जाते ही बुद्धि-रूपा मछली की मृत्यु अवश्यम्भावी है। ठीक इसी तरह जो लोग यह कल्पना करते हैं कि जनक-जैसा बुद्धिमान् इस समस्या का समाधान ढूंढ़ लेगा, वे मछली को पृथ्वी पर चलाने की चेष्टा कर रहे हैं। उनके भाषण का दूसरा भाग और भी अनोखा है। बहाँ वे यह बताते हैं कि कौसल्या अम्बा का प्रस्ताव क्रियान्वित क्यों नहीं किया जा सकता है। उनके शब्दों में श्रीराम समत्व की सीमा हैं। सम ब्रह्म का न तो किसी के प्रति राग ही होता है और न द्वेष ही। उसकी समता अथवा विषमता हृदय के पार्थक्य के कारण प्रतीत होती है :

जद्यपि सम नहिं राग न रोषू।
गहइ न पाप पुन्य गुन दोषू॥
तदपि करहिं सम बिषम बिहारा।
भगत अभगत हृदय अनुसारा॥

श्रीराघवेन्द्र का लक्ष्मण अथवा भरत में से किसी के प्रति पक्षपात नहीं हो सकता। यदि रामभद्र लक्ष्मण को पास रखते हैं तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि वे श्रीलक्ष्मण के प्रति अधिक स्नेह करते हैं। भरत और लक्ष्मण के स्वभाव की भिन्नता के कारण ही प्रभु के व्यवहार में पार्थक्य प्रतीत होता है। महाराज श्रीजनक का तात्पर्य यह था कि लक्ष्मण और भरत के भाव में भिन्नता है। श्रीलक्ष्मण सामीप्य के अभिलाषी हैं और भरत दूरी में अधिक सामीप्य का

अनुभव करते हैं। इसलिए श्रीराम दोनों को पृथक् स्थान देकर भी सामीप्य की समान रूप से अनुभूति करा रहे हैं।

दूसरी ओर श्रीभरत स्नेह और ममता की सीमा हैं। जहाँ स्नेह और ममता होती है वहाँ व्यक्ति को अपने प्रियतम में कोई दोष नहीं दिखायी देता। उसे तो अपने प्रिय की प्रत्येक क्रिया में गुण का ही दर्शन होता है। तुलसीदास से किसी ने पूछा कि संसार को उदारता से जल का वितरण करने वाला मेघ अनन्यानुरागी चातक के प्रति निष्ठुरता का जो व्यवहार करता है, क्या इसे देखकर चातक को कष्ट नहीं होता होगा? तुलसी ने उत्तर देते हुए कहा कि चातक को इसमें भी मेघ का अपनत्व ही दिखायी देता है। उसे लगता है कि मेघ सारे संसार को पराया मानता है इसीलिए वह सबके समक्ष औदार्य का व्यवहार करता है; अपनत्व के कारण वह मेरी ओर से निश्चिन्त है। यही भावना तो प्रेम-समुद्र की अगाधता को प्रकट करती है :

चढ़त न चातक चित कबहुँ, प्रिय पयोधि के दोष।
तुलसी पेम पयोधि की, ताते नाप न जोष॥

"श्रीभरत को साथ न ले जाने में कौसल्या अम्बा या मुझे भले ही राम की निष्ठुरता प्रतीत हो, पर भरत का स्नेह और ममत्व उसमें भी गुण ही देखेगा।" राजर्षि की यह धारणा यथार्थ सिद्ध हुई। श्रीलक्ष्मण प्रभु के साथ रह गए। श्रीभरत कोही लौटना पड़ा। किन्तु श्रीभरत को एक क्षण के लिए भी यह प्रतीत नहीं हुआ कि रामभद्र ने उनकी भावना का तिरस्कार किया, या उनके साथ अन्याय हुआ है। इसके प्रतिकूल उन्हें यह प्रतीत हुआ कि मैंने ही वन में आकर धृष्टता का परिचय दिया था। ईश्वर-सहित समस्त गुरुजनों की आज्ञा का तिरस्कार करने वाला मैं वस्तुतः दण्ड का अधिकारी था। किन्तु मेरे द्वारा की गयी अवज्ञा को भी प्रभु ने मेरा स्नेह मान लिया :

प्रभु पितु मातु सुहृद गुरु स्वामी।
पूज्य परम हित अंतरजामी॥
सरल सुसाहिब सील-निधानू।
प्रनत-पाल सर्बग्य सुजान॥
गुन गाहक अवगुन अघ हारी।
समरथ सरनागत हितकारी।
स्वामि गोसाइँहि सरिस गोसाईं।
मोहि समान मैं साइँ दोहाई॥

प्रभु पितु-बचन मोहबस पेली।
आयउँ इहाँ समाज सकेली॥
जग भल पोच ऊँच अरु नीचू।
अमिअ अमर पद माहुर मीचू॥
राम रजाइ मेट मन माहीं।
देखा सुना कतहुँ कोउ नाहीं॥
सो मैं सब बिधि कीन्ह ढिठाई।
प्रभु मानी सनेह सेवकाई॥
कृपा भलाई आपनी, नाथ कीन्ह भल मोर।
दूषन भे भूषन सरिस, सुजस चारु चहुँ ओर॥



।। श्रीरामः शरणं मम ।।

ग्यान-निधान सुजान सुचि, धरम-धीर नरपाल।
तुम्ह बिन असमंजस-समन, को समरथ एहि काल ॥

अर्थ—गुरु वशिष्ठ ने राजर्षि जनक से कहा—"राजन् ! आप ज्ञान के भण्डार तो हैं ही, साथ ही अत्यन्त बुद्धिमान, पवित्र, धर्मनिष्ठ और धैर्यशाली प्रजा-पालक हैं। आपको छोड़कर इस समय और कोई दूसरा ऐसा नहीं दिखायी देता है, जो इस उलझन को सुलझा सके।"

महाराज श्रीजनक की प्रशंसा में प्रयुक्त किए गए उपर्युक्त विशेषण तात्कालिक समाज में उनके गौरवपूर्ण व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति देते हैं। विदेह न तो उस समय बहुत बड़े देश के राजा थे, और न उनके बलवान होने की ही विश्व में कोई ख्याति थी, फिर भी जनक अतुलनीय थे। लोक में उन्हें अद्वितीय सम्मान उपलब्ध था, और यह सम्मान उन्हें अपनी अद्वितीय ज्ञान-निष्ठा के कारण प्राप्त था। अनेक ऋषि-मुनियों के होते हुए भी इस विषय में वे अप्रतिम माने जाते थे। वेदान्त की शिक्षा प्राप्त करने के लिए उनके पास मुनि भी आते ही रहते थे। इन पंक्तियों में इसी तथ्य का वर्णन किया गया है—जिनके ज्ञान-सूर्य से संसार-रूपी रात्रि का विनाश हो जाता है, और जिनके वचन-रूपी किरणों से मुनि-कमल विकसित होते हैं :

जासु ग्यान रबि भव निसि नासा।
बचन-किरन मुनि कमल बिकासा ।।

ज्ञान का अर्थ है, 'जानना'। जानने की इच्छा भी मानव-बुद्धि का एक सहज स्वभाव है। किन्तु इस जिज्ञासा को दो भागों में बाँटा जा सकता है। कुछ लोग प्रकृति के किसी एक भाग या एक पदार्थ का रहस्य जानने के लिए व्यग्र हो उठते हैं। प्रकृति का प्रत्येक क्रिया-कलाप इतना रहस्यपूर्ण है कि उसके रहस्य को जानने की इच्छा बुद्धिजीवी को उत्तेजित करती है। फिर प्रकृति से ही मनुष्य का सारा जीवन सम्बद्ध है। उसकी अनगिनत समस्याओं का समाधान प्रकृति के पास है। जीवन का कोई ऐसा क्षण नहीं होता, जब वह स्वयं को प्रकृति से सम्बद्ध न पाता हो। स्वयं उसका शरीर ही प्रकृति की देन है। उसका श्वास-प्रश्वास किस नियम से सम्बद्ध है? जीवन का यह मुख्य चिह्न किस आधार पर चलता है? इसमें अवरोध कैसे आ जाता है? मृत्यु क्या है? क्यों होती है? क्या यही जीवन की चरम समाप्ति है? फिर यह विराट् ब्रह्माण्ड, पृथ्वी, पर्वत, समुद्र, आकाश, ग्रह, नक्षत्र, इन सबों में क्या है? व्यक्ति के पास अनगिनत प्रश्न हैं, अनन्त प्रसंग हैं। इनमें से एक ही प्रश्न सारे मानव-जीवन को उलझाने के लिए यथेष्ट है। भौतिक विज्ञान की जिज्ञासा का क्षेत्र यही है। अनादिकाल से व्यक्ति इस शोध में संलग्न है। प्रकृति के जाने कितने रहस्यों का उसने उद्‌घाटन किया है। उन नियमों के द्वारा उसने जीवन को अधिक सुखी बनाने का प्रयास किया है। यह कभी न समाप्त होनेवाली जिज्ञासा है। व्यक्ति अपने शोध पर गर्व करता है। किन्तु उसका यह अभिमान तब टूटता है, जब उसकी दृष्टि अपने अज्ञान पर जाती है! वह जानकर भी कितना कम जानता है!

जिज्ञासा का दूसरा रूप वह है, जिसका सम्बन्ध सृष्टि के मूल कारण से है। कार्य अनगिनत हैं, पर इनके मूल में जो कारण है, वह तो एक ही है। उस मूल तत्त्व की खोज अध्यात्म-विज्ञान का विषय है। जनक इसी अध्यात्म-विज्ञान के सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता माने जाते थे। क्षत्रिय वर्ण में जन्म लेने के कारण यद्यपि वे राजर्षि-पद के ही अधिकारी थे।

तत्कालीन समाज-व्यवस्था में ब्राह्मण-वर्ण में जन्म लेनेवाला ऋषि ही ब्रह्मर्षि की उपाधि से विभूषित किया जाता था। ब्रह्मर्षि राजर्षि की तुलना में श्रेष्ठ माना जाता था। किन्तु जनक के प्रसंग में यह अद्‌भुत विरोधाभास था कि राजर्षि जनक से शिक्षा ग्रहण करने के लिए ब्रह्मर्षि भी आया करते थे। इस विपरीत क्रम के रहस्य पर विचार करने पर तत्त्व-ज्ञान की समग्रता का सच्चा स्वरूप ज्ञात होता है।

तत्त्व-ज्ञान की व्याख्या सारे उपनिषदों में बड़े विस्तार से की गयी है। उपनिषदों के मन्त्र-द्रष्टा ऋषि ही थे। सभी ब्रह्मर्षि तत्त्व-वेत्ता भी थे। किन्तु जनक के तत्त्व-ज्ञान में एक विशेषता थी, ज्ञान और कर्म का समन्वय। साधारणतया

कर्म और ज्ञान में कोई साहचर्य प्रतीत नहीं होता। ज्ञान कर्म का प्रेरक नहीं बन सकता। कर्म के परिणाम में आसक्ति होने पर ही व्यक्ति के अन्तःकरण में कर्म करने की प्रवृत्ति जाग्रत हो सकती है। इसलिए तत्त्व-ज्ञान के द्वारा सृष्टि के मिथ्यात्व का निश्चय हो जाने पर कर्म की प्रेरणा भी समाप्त हो जाती है। रामचरितमानस में भी 'कर्म कि होहिं स्वरूपहिं चीन्हे' कहकर इसी तथ्य को अंगीकार किया गया है। दूसरी ओर बाह्य जीवन में व्यक्ति एक क्षण के लिए भी कर्म किए बिना नहीं रह सकता है। कर्मासक्त व्यक्ति बहुधा ज्ञान-शून्य देखे जाते हैं, और ज्ञानियों के जीवन में कर्म का अभाव देखा जाता है। जड़ भरत, ऋषभदेव, रैक्व आदि इसी के दृष्टान्त हैं। तत्त्वज्ञ जनक इन सब में सर्वथा अपवाद के रूप में सामने आते हैं। उनमें कर्म और ज्ञान दोनों समान रूप से सुप्रतिष्ठित थे, इसीलिए वे कर्मयोगी और ज्ञानयोगी दोनों के लिए ही आदर्श थे। ब्रह्मर्षि भी इन्हीं तत्त्व-वेत्ता राजर्षि के दर्शनों के लिए आते थे, जो समग्र राज्य-कार्य का संचालन करते हुए भी निरन्तर ब्रह्म में स्थित रहते थे। निमि-वंश में उत्पन्न होनेवाले सारे राजा जनक के नाम से ही पुकारे जाते थे, और सबमें कर्मयोग और ज्ञानयोग की समग्रता विद्यमान थी। किन्तु जिन जनक की रामचरितमानस में चर्चा की गयी है, उनमें जनक-परम्परा से बढ़कर एक वस्तु और थी, और वह थी भक्तियोग में उनकी स्थिति। प्रारम्भ में वे योगी अथवा भोगी के रूप में ही दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु श्रीराम के आगमन पर यह ज्ञात हुआ कि वे तो प्रभु के अनन्यानुरागी हैं। गोस्वामीजी ने जनक की वन्दना करते हुए इसी सत्य की ओर संकेत किया है :

प्रनवउँ परिजन सहित बिदेहू।
जाहि राम पद गूढ़ सनेहू।।
जोग भोग महँ राखेउ गोई।
राम बिलोकत प्रगटेउ सोई।।

इस तरह जनक के चरित्र में कर्म, ज्ञान और भक्ति का अद्भुत समन्वय दिखायी देता है। इसीलिए उनके अन्तःकरण की तुलना प्रयाग से की गयी है :

उर उमगेउ अंबुधि अनुरागू।
भयउ भूप-मन मनहुँ प्रयागू।।

साक्षात् भक्ति-स्वरूपा श्रीसीता ने जन्म लेकर इनके गौरव को और भी अधिक बढ़ा दिया। भगवान् राम जिनके नगर में पधार कर सीता का पाणि-ग्रहण करते हैं, उन जनक के सौभाग्य की तुलना किसी अन्य व्यक्ति से हो ही नहीं

सकती। इसलिए ऐसे महापुरुष के चित्रकूट-आगमन से यह आशा बँधनी स्वाभाविक थी कि वहाँ उपस्थित जटिल समस्या का कोई-न-कोई समाधान निकल ही आवेगा। किन्तु चित्रकूट में जो समस्या उपस्थित हुई थी, वह बड़ी विलक्षण थी। कोई भी पात्र निर्णायक बनने के लिए प्रस्तुत नहीं था। गुरु वशिष्ठ स्वयं की बुद्धि को स्वतन्त्र नहीं पा रहे थे। वह भरत की भक्ति के अधीन हो चुकी थी :

तातें कहउँ बहोरि बहोरी।
भरत भगति बस भै मति मोरी।।

भगवान् राम का यह दृढ़ निश्चय था कि भरत जो भी निर्णय देंगे, उसे वे स्वीकार कर लेंगे। किन्तु श्रीभरत को यह धृष्टता जान पड़ रही थी कि वे निर्णायक बनकर कोई निर्णय दें। वे स्वयं को प्रभु का एकनन्हा सेवक-मात्र मानते थे, अत: निर्णायक बनकर निर्णय देने की धृष्टता वे कैसे करते ? वे तो प्रभु के आदेश की ही प्रतीक्षा में थे। असमंजस की ऐसी स्थिति में महाराज श्रीजनक के आगमन का समाचार प्राप्त हुआ। सारे अयोध्यावासी उनके आगमन के समाचार से अत्यन्त प्रसन्न हुए। एकमात्र प्रभु ही इस समाचार को सुनकर संकुचित हो उठे :

सुनत जनक-आगमन सब, हरषेउ अवध-समाज।
रघुनंदनहि सकोच बड़, सोच-बिबस सुरराज।।

वयोवृद्ध महाराजश्री का सारे समाज-सहित कष्ट उठाकर आना, शील-सिन्धु रामभद्र को संकुचित बना दे, यह स्वाभाविक था, किन्तु उनके आगमन से सर्वाधिक संतोष गुरु वशिष्ठ को प्राप्त हुआ। क्योंकि न चाहने पर भी निर्णय का गुरुतर भार उन पर ही था। गुरु होने के नाते शिष्यों में उत्पन्न समस्या का समाधान करने का भार वे अस्वीकार कैसे कर सकते थे ? इसीलिए जनक के आने का समाचार सुनकर उन्होंने सुख की साँस ली। उन्हें यह प्रतीत हो रहा था कि इस समस्या को सुलझाने के लिए महाराज श्रीजनक से बढ़कर कोई उपयुक्त पात्र नहीं होगा। अवसर पाते ही महाराज श्रीजनक के समक्ष उन्होंने अपना यह विचार प्रकट कर ही दिया। उस समय उन्होंने महाराज श्रीजनक के लिए जिन विशेषणों का प्रयोग किया, उनका तात्पर्य यही था कि इस सारे समाज में आपको छोड़कर कोई अन्य ऐसा व्यक्ति नहीं है, जो इस असमंजस का समाधान कर सके। असमंजस शब्द असामंजस्य का प्रकृत रूप है। दो वस्तुओं में समन्वय न हो पाना ही असामंजस्य है। यहाँ भी धर्म और प्रेम में सामंजस्य की समस्या उत्पन्न हो गई है। यदि राघवेन्द्र वन में रहते हैं तो यह धर्म के अनुकूल होगा, किन्तु इससे भरत की भावना का तिरस्कार होगा। और यदि भरत के प्रेम को

स्वीकार कर राघवेन्द्र लौट जाते हैं, तो यह धर्म की उपेक्षा होगी। आपने ज्ञान और कर्म में सामंजस्य के द्वारा असम्भव को सम्भव कर दिखाया है, इसलिए आज प्रेम और धर्म में सामंजस्य का कार्य भी आप ही पूरा करें।

'ज्ञान-निधान' होने के नाते आपसे बढ़कर श्रीराम को समझने वाला और कौन हो सकता है ! क्योंकि श्रीराम अखंड ज्ञान-घन हैं :

ग्यान अखंड एक सीताबर।
माया बस्य जीव सचराचर।।

"किन्तु आप शुष्क ज्ञानी मात्र नहीं हैं। बहुधा ज्ञानी वैराग्य से युक्त होता है, और दूसरे की भावना को समझ पाना उसके लिए अत्यधिक कठिन होता है। किन्तु आप तो सुजान भी हैं। श्रीभरत की भावना को समझ पाना भी आपके लिए सम्भव होगा।" सुजान शब्द के साथ-साथ गुरु वशिष्ठ ने 'शुचि' शब्द का भी प्रयोग किया। सुजानता बहुधा रागी और आसक्त पुरुषों में भी देखी जाती है, किन्तु आसक्ति के कारण यह सुजानता उचित निर्णय कर पाने में असमर्थ हो जाती है। जहाँ पर सुजानता के साथ आसक्ति का अभाव होगा, वही व्यक्ति उचित निर्णय करने में समर्थ होगा। गुरु वशिष्ठ ने 'सुजान' के साथ 'शुचि' शब्द का प्रयोग कर इसी की ओर इंगित किया। समुचित निर्णय के लिए निर्णायक में असीम धैर्य होना चाहिए। धैर्य भी महाराज श्रीजनक में विद्यमान है। निर्णायक के लिए यह भी आवश्यक है कि वह धर्म की जटिलता से पूरी तरह परिचित हो। क्योंकि धर्म का निर्णय करने में बड़े-से-बड़े विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं। किन्तु महाराज श्रीजनक धर्म के ज्ञाता हैं। सुस्थिर विवेक के द्वारा वे सही निर्णय देने में समर्थ हो सकते हैं। किन्तु कभी-कभी दूरगामी परिणाम को दृष्टि में रखकर धर्मज्ञ वर्तमान की उपेक्षा कर देते हैं। धर्म की दृष्टि में इस लोक की अपेक्षा परलोक अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसलिए वह पारलौकिक सुख के लिए लौकिक सुखों का परित्याग करने में संकोच का अनुभव नहीं करता है। किन्तु समाज के संरक्षण के लिए यह आवश्यक है कि लौकिक सुखों की उपेक्षा न की जाय, क्योंकि साधारण व्यक्ति भविष्य की आशा में वर्तमान की उपेक्षा नहीं कर सकता। वर्तमान के संरक्षण का मुख्य भार राजनीति पर है। महाराज श्रीजनक के लिए 'नरपाल' शब्द का प्रयोग करते हुए गुरु वशिष्ठ के अन्तःकरण में यही भावना विद्यमान थी। ज्ञान, धर्म, भावना और राजनीति का अद्‌भुत सामंजस्य राजर्षि जनक के जीवन में विद्यमान था। इसलिए गुरु वशिष्ठ को यह विश्वास था कि वर्तमान समस्या पर चारों दृष्टियों से विचार करके महाराज श्रीजनक इनका समाधान दे सकेंगे।

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

मुखिया मुख सों चाहिए, खान पान कहँ एक।
पालइ पोषइ सकल अँग, तुलसी सहित बिबेक॥
राज धरम सरबस इतनोई।
जिमि मन माहँ मनोरथ जोई॥

अर्थ—"मुखिया तो मुख के समान होना चाहिए जो खाता तो अकेले है पर विवेकपूर्वक सारे अंगों का पालन-पोषण करता है। जिस प्रकार मन में अनेक मनोरथ छिपे रहते हैं, वैसे ही सारे राजधर्म का भी तत्त्व गोपनीयता ही समझो (सब कुछ मन में छिपाए रखना ही राजनीति है।)"

श्रीभरत को चित्रकूट से विदा करते हुए कोसलेन्द्र ने उन्हें राजधर्म और राजनीति का सारा तत्त्व केवल दो पंक्तियों में बता दिया। राजनीति पर भारतीय वाङ्मय में अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। शुक्र और बृहस्पति राजनीति के आदि-प्रणेता माने जाते हैं। शुक्र दैत्य-गुरु हैं और वृहस्पति देव-गुरु। देवों और दैत्यों का शाश्वत संघर्ष चलता ही रहता है। दोनों जातियाँ अपने- अपने आचार्यों की राजनीति का अनुगमन करती हैं। सत्ता के इस संघर्ष में कभी देवता जीतते हैं तो कभी दैत्य। महाभारत में भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर को बड़े विस्तार से राजनीति का स्वरूप बतलाया था। किन्तु भगवान् राम की राजनीति परम्परागत राजनीति से सर्वथा भिन्न है। वे श्रीभरत को राजनीति का उपदेश देते हुए शुक्र या बृहस्पति किसी का स्मरण नहीं करते हैं। उन्होंने अपने राजनैतिक दर्शन के स्पष्टीकरण के लिए शरीर को ही राजनीति का सुयोग्यतम आचार्य बताया।

राजा मुख है और प्रजा शरीर के अन्य अंगों के समान है। इस दृष्टान्त के द्वारा भगवान् राम राजा और प्रजा के सम्बन्ध को शासक और शासित के स्थान पर एक-दूसरे से अभिन्न मानते हैं। जब राजा स्वयं को प्रजा से भिन्न अनुभव करता है, तब उसकी दृष्टि निरन्तर सत्ता को सुस्थिर बनाये रखने की ओर ही लगी रहती है। उसे निरंतर यह आशंका बनी रहती है कि कहीं कुछ लोग उसकी सलाह के विरुद्ध षड्यन्त्र न रच रहे हों। इसलिए निकट-से-निकट व्यक्ति पर भी वह विश्वास नहीं कर पाता। ऐसी स्थिति में राजा के द्वारा किया जाने वाला सद्व्यवहार भी सत्ता को सुस्थिर बनाने वाली नीति का एक अंग-मात्र होता है। रामभद्र को यह राजनीति अभीष्ट नहीं है। उनकी दृष्टि में समग्र विराट् विश्व एक इकाई है। वह देश, जाति अथवा व्यक्ति के रूप में विभाजित नहीं किया जा सकता। जब तक यह भावना दृढ़तापूर्वक घनीभूत नहीं हो जाती है, तब तक राजनीति का मुख्य परिणाम संघर्ष ही होगा। सारे पुराण सृष्टि के मूल में एक ही तत्त्व स्वीकार करते हैं। यहाँ तक कि जो देवता और दैत्य परस्पर एक-दूसरे को अपना स्वाभाविक शत्रु मानते हैं, उनके भी पिता महर्षि कश्यप ही हैं। किन्तु देवता और दैत्य दोनों की दृष्टि इस एकत्व पर नहीं जाती। वे तो माताओं की भिन्नता को ही निरन्तर सामने रखते हुए एक-दूसरे को मिटाने की चेष्टा करते रहते हैं। यह कश्यप वस्तुत: आत्म-तत्त्व ही है। नैरुक्त व्युत्पत्ति के अनुकूल 'कश्यप' का तात्पर्य है 'पश्यक'। 'पश्यको एव कश्यप:'—पश्यक का अर्थ है देखने वाला। आत्मा द्रष्टा है किन्तु एक ही आत्म-तत्त्व शरीर के भेद से भिन्न प्रतीत होता हुआ कहीं महात्मा तो कहीं दुरात्मा के नाम से सम्बोधित किया जाता है। दिति और अदिति के संघर्ष में यही भेद-बुद्धि कार्य करती है। इसलिए जब तक एक जाति दूसरी जाति को पराजित करने की दृष्टि से राजनीति को स्वीकार करेगी, तब तक भले ही कुछ समय के लिए एक की विजय हो जाय, किन्तु यह संघर्ष का चक्र अनवरत चलता ही रहेगा। देवता स्वर्ग पर अपना अधिकार रखता हुआ दैत्यों की समृद्धि पर भी अधिकार कर लेना चाहता है—और यही प्रयास दैत्यों का भी रहता है।

भगवान् श्रीराम यदि इस राजनैतिक दर्शन को स्वीकार करते तो लंका-विजय के पश्चात् वे उस राज्य पर किसी देवता को प्रतिष्ठित कर देते। किन्तु एक राक्षस को ही लंका के सिंहासन पर बैठाकर भगवान् राम ने जातीय राजनीति के दर्शन को अस्वीकार कर दिया। रावण के विरुद्ध उनका संघर्ष ठीक इसी प्रकार का था जैसे आवश्यक होने पर मुख चिकित्सक से किसी अंग-विशेष के उच्छेद का भी आग्रह कर सकता है। किन्तु उस समय भी उसके अन्त:करण में उस अंग के प्रति विद्वेष नहीं होता। ठीक यही भावना उनके अन्त:करण में रावण

के प्रति विद्यमान थी। उनकी राजनीति अपने-पराए के भेद से प्रेरित नहीं है। इसीलिए वे श्रीभरत को उपदेश देते हुए उनसे यह आग्रह करते हैं कि राजा मुख के समान है और प्रजा शरीर के अन्य अंगों के समान और वे परस्पर एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। भोजन करते समय ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे सारा सुस्वादु व्यंजन अकेले मुख को ही दिया जा रहा है किन्तु यह तो प्रतीति-मात्र है। मुख भोजन करते हुए एक कण भी स्वयं के लिए बचाना नहीं चाहता। यदि दाँत में अन्न का कहीं एक भी कण छिपकर रह जाए, तो वह जिह्वा को प्रेरित करता है कि उस कण को निकाल बाहर करे। राजा भी जब कोष संगृहीत करता है, दूसरों से कर लेता है, तब ऐसा जान पड़ता है कि जैसे सारा धन उसने स्वयं अपने लिए ही एकत्र कर लिया है। किन्तु योग्य राजा वह सारा कोष प्रजा की सेवा में लगा देता है। यहां दाँतों की तुलना राज्य-कर्मचारियों से की जा सकती है। इन्हीं की सहायता से राजा सत्ता का संचालन करता है। किन्तु उसे सजग रहना चाहिए कि कहीं राज्याधिकारी कोष को अपने स्वार्थ के लिए संगृहीत न कर सकें। यह तो दाँतों का मिथ्या मोह ही होगा यदि वे यह समझते हों कि संगृहीत अन्न-कण उन्होंने अपने लिए अलग से सुरक्षित कर लिया है। यदि अन्न-कण न निकाला जाए तो वह, दाँत और शरीर, दोनों के लिए घातक सिद्ध होगा। अन्त में दाँत में सड़न उत्पन्न हो जाएगी, और वे खोखले हो जाएँगे। ठीक इसी प्रकार राजकोष को चुराने वाला अधिकारी भी स्वयं अपने और राष्ट्र के लिए समस्या उत्पन्न करता है। मुख में कठोरता और कोमलता का अद्भुत समन्वय है। दाँत कठोर हैं और जिह्वा कोमल। दोनों के द्वारा शरीर को तुष्टि और पुष्टि प्राप्त होती है। जिह्वा अपनी रसग्राहिता के कारण भोजन के स्वाद की अनुभूति करती हुई त्याज्य और ग्राह्य का निर्णय करती है। उसके पश्चात् जिह्वा द्वारा ग्रहण किए गए भोजन को पीसकर दाँत इस योग्य बनाता है कि वह उदर के लिए सुपाच्य हो सके। इससे शरीर को शक्ति प्राप्त होती है। राजा का भी कर्त्तव्य है कि वह अपनी नीति को कोमलता और कठोरता दोनों के समन्वय से संयुक्त रखे। एक ओर वह अपनी कोमलता के द्वारा यदि प्रजा में शील और रस की सृष्टि करता है, तो दूसरी ओर कठोरता से लोगों को आत्मसंयम और अनुशासन की प्रेरणा भी देता है।

कठोरता और कोमलता के इस सन्तुलन के लिए रामभद्र ने शरद ऋतु को एक सार्थक प्रतीक चुना। वर्षा ऋतु में सड़क पर कीचड़-ही-कीचड़ हो जाता है। प्रतिक्षण वस्त्र और पैर को सँभालकर ही व्यक्ति मार्ग पर चल पाता है। उसे निरन्तर फिसलने और वस्त्र खराब होने का भय बना रहता है। दूसरी ओर ग्रीष्म ऋतु में सड़क धूल से भर जाती है और हवा के झकोरों से यह धूल उड़कर सिर और आँख में प्रविष्ट हो जाती है। व्यक्ति को आँधी में कुछ दिखायी ही नहीं

देता। किन्तु शरद्-ऋतु में मार्ग कीचड़ और धूल से मुक्त होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति के लिए सुखद होता है। शरद्-ऋतु के मार्ग को ही भगवान् राम राजनीति का सर्वोत्कृष्ट प्रतीक मानते हैं। यदि राजा वर्षा के समान अत्यन्त गीला (कोमल) बन जाय तो प्रजा उच्छृङ्खल हो जाती है और पाप-पंक में लिपट जाती है। यदि ग्रीष्म-ऋतु के समान राजा अत्यन्त कठोर बन जाए तो भयभीत प्रजा उसे देखना भी नहीं चाहती। अतः राजा का कर्तव्य है कि वह शरद्-ऋतु के समान अपने व्यवहार को इतना सन्तुलित रखे कि प्रजा निश्चिन्त और निर्भय होकर सन्मार्ग पर चलती रहे :

पंक न रेनु सोह असि धरनी।
नीति निपुन नृप की जस करनी॥

राजा की तुलना मुख से करते हुए रामभद्र ने उसके द्वारा समस्त अंग-रूप प्रजा का पालन करने का उपदेश देने के साथ-साथ उसमें एक वाक्य और जोड़ दिया कि राजा को मुख के समान विवेक-सहित सारी प्रजा का पालन करना चाहिए। 'तुलसी सहित विवेक' यह वाक्य बड़े ही महत्त्व का है। मुख के द्वारा भोजन कर लेने से ही सारे अंगों को स्वस्थता प्राप्त नहीं हो जाती। बहुधा सारे शरीर को अस्वस्थ बना देने का कार्य भी मुख के द्वारा ही होता है। जब जिह्वा भोजन करते समय केवल स्वाद की दृष्टि से ही उसे ग्रहण करती है; तब वह कुपथ्य सेवन करती हुई सारे शरीर को रोग-ग्रस्त बना देती है। भोजन करते समय जिह्वा की दृष्टि केवल क्षणिक स्वाद पर नहीं होनी चाहिए। ईश्वर ने मुख के ऊपर मस्तिष्क का निर्माण किया है। मुख और मस्तिष्क के बीच में नासिका और नेत्रों का भी निवास है। नासिका गन्ध के माध्यम से भोजन के विषय में सूचना देती है। नेत्र सजग रहकर अन्न के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं (कंकड़ आदि) को अलग कर देने की प्रेरणा देते हैं और इन सबके ऊपर मस्तिष्क स्वास्थ्य-सम्बन्धी नियमों के ज्ञान के माध्यम से ऐसा भोजन करने की प्रेरणा देता है, जो न केवल स्वादिष्ट हो अपितु स्वास्थ्यवर्धक भी हो। अतः मुख मस्तिष्क के द्वारा नियन्त्रित होकर ही शरीर को स्वस्थ रख सकता है। राजा भी जब वासना-लौल्य के कारण क्षणिक सुख की ओर दृष्टि डालता है, तब उसके द्वारा प्रजा में भी भोग-वासना का प्राबल्य होता है। और तब सारी प्रजा चरित्र-भ्रष्ट होकर विनष्ट हो जाती है। विवेक के द्वारा नियन्त्रित राजा ही समाज को स्वस्थ, सच्चरित्र और सुखी बना पाता है।

रावण भी अपनी प्रजा के पालन-पोषण के लिए मुख के समान ही तत्पर था। लंका-विजय के पश्चात् वह उस समृद्धि का अकेले उपभोग नहीं करता है,

अपितु सारे राक्षसों में सुख-सुविधा का वितरण करता है। गोस्वामीजी इन पंक्तियों में रावण के इसी स्वभाव का परिचय देते हैं :

दसमुख कतहुँ खबर असि पाई।
सेन साजि गढ़ घेरेसि जाई॥
देखि बिकट भट बड़ि कटकाई।
जच्छ जीव लेइ गयउ पराई॥
फिरि सब नगर दसानन देखा।
गयउ सोच सुख भयउ बिसेखा॥
सुन्दर सहज अगम अनुमानी।
कीन्ह तहाँ रावन रजधानी॥
जेहि जस जोग बाँटि गृह दीन्हे।
सुखी सकल रजनीचर कीन्हे॥

किन्तु इस प्रकार समृद्धि का वितरण करने वाला रावण भी अन्त में सारी निशाचर जाति के विनाश का कारण बना। क्योंकि 'पालइ पोषइ सकल अँग' के साथ-साथ 'सहित बिबेक' का उसने पालन नहीं किया। वह अपनी असंयत और भोग-रत प्रवृत्ति के कारण प्रजा को भी विनाश के गर्त में धकेल देता है।

राजा के धर्म की व्याख्या करने के बाद भगवान् राम ने श्रीभरत के समक्ष राजनीति का तत्त्व केवल एक नन्हे-से वाक्य में वता दिया :

राज धरम सरबस इतनोई।
जिमि मन माहँ मनोरथ गोई॥

"राजनीति का सर्वस्व गोपन है।" इसके लिए कोसलेन्द्र ने मन का दृष्टान्त दिया। मन में अनेक संकल्प-विकल्प उठते रहते हैं किन्तु उनकी कोई आकृति नहीं होती। सुस्थिर बुद्धि से व्यक्ति यह निर्णय करता है कि उनमें से किन संकल्पों को पूरा करना सम्भव है और इस निर्णय के पश्चात् वह उन्हें साकार करने की चेष्टा करता है। इस प्रकार संकल्प से लेकर पूर्ति तककिया जाने वाला प्रयास ही विवेकी व्यक्ति का लक्षण है। किन्तु यदि मन में उठने वाला प्रत्येक संकल्प वाणी के द्वारा बिना सोचे-समझे प्रकट कर दिया जाए तो उसका परिणाम अनेक दृष्टियों से दुःखदायी सिद्ध होता है। संकल्प श्रेष्ठ होते हुए भी यदि उसे पूरा कर सकना सम्भव न हो, तो उसे दूसरों को बताकर व्यक्ति उनकी दृष्टि में उपहास का पात्र बन जाता है। ऐसे व्यक्ति को लोग दिवा-स्वप्न देखने वाला कहकर उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। और यदि वह संकल्प निकृष्ट कोटि का हो तो उसे जानकर लोग

निन्दा करते हैं। कभी ऐसे भी संकल्प जाग्रत होते हैं जिन्हें प्रकट कर देने से सामने वाले का अन्तःकरण व्यथित हो जाता है। यदि व्यक्ति किसी संकल्प को पूर्ण करने से पहले ही उसका विज्ञापन करने लगे, तो उसकी पूर्णता के बाद भी उसे मध्यम कोटि का ही व्यक्ति स्वीकार किया जाएगा। क्योंकि नीति की दृष्टि से वाणी से बिना कुछ कहे ही कर देने वाले व्यक्ति को ही श्रेष्ठ माना जाता है। भगवान् श्रीराम ने लंका के रणांगण में रावण की बकवास सुनकर उससे यही कहा था, "बकवाद के द्वारा अपने सुयश को नष्ट न करो, धैर्यपूर्वक नीति का श्रवण करो !" संसार में तीन प्रकार के व्यक्ति होते हैं, उनकी तुलना गुलाब, आम और कटहल से की जा सकती है। गुलाब में पुष्प तो बड़े सुन्दर खिलते हैं जिन्हें देखकर यह आशा बँधती है कि इसमें न जाने कितना श्रेष्ठ फल लगेगा। किन्तु अन्त में निराशा ही हाथ लगती है। इसी प्रकार अधम कोटि के व्यक्ति भी वाणी के द्वारा न जाने कितनी ऊँची बात कहते हैं, किन्तु उन्हें पूरा कर सकने की क्षमता उनमें नहीं होती। आम्र के विशाल वृक्ष में पहले बौर आता है और फिर समय पाकर फल भी लगता है। यद्यपि उसमें यह आशंका तो होती ही है कि आँधी आदि के कारण बौर कहीं नष्ट न हो जाए। ऐसी स्थिति में लोगों को बड़ी निराशा होती है। ठीक उसी तरह मध्यम कोटि के व्यक्ति वाणी द्वारा जो प्रकट करते हैं उसे साकार बनाने की चेष्टा भी करते हैं। किन्तु कभी-कभी प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण उनके संकल्प फलीभूत नहीं हो पाते। उस परिस्थिति में वह लोक में निन्दा का पात्र भले ही न बने, किन्तु लोगों को उससे निराशा तो होती ही है। कटहल का वृक्ष पुष्पित हुए बिना ही विशाल फल की सृष्टि करता है। ठीक इसी तरह उत्तम कोटि का व्यक्ति वाणी से प्रचार किए बिना ही अपने संकल्पों को साकार कर डालता है :

जनि जल्पना करि सुजस नासहु नीति सुनहु करहु छमा।
संसार महँ पूरुष त्रिबिध पाटल रसाल पनस समा।।
एक सुमनप्रद एक सुमनफल एक फलइ केवल लागहीं।
एक कहहिं कहहिंकरहिं अपर एक करहिं कहत न बागहीं।।

ऐसी स्थिति में बुद्धिमान् व्यक्ति अपने मन में उठने वाले भावों को वाणी के द्वारा अभिव्यक्त नहीं होने देता है। जो लोग मन के भावों को वाणी से बिना सोचे-समझे प्रकट करते रहते हैं, वे बहुधा उपहास, उपेक्षा, निन्दा और घृणा के पात्र बन जाते हैं। मन में संकल्प-विकल्पों को न रोक पाना अन्त में पागलपन का लक्षण बन जाता है और तब पागल की अच्छी और सही बात पर भी किसी को भरोसा नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति यह सोचकर पागल से भयभीत रहता है कि

यह न जाने कब क्या कर बैठे।

योग्य राजा अपने संकल्पों को कभी प्रकट नहीं होने देता है। विशेष रूप से वह जिह्वा के सदृश लोगों से सावधान रहता है। जिह्वा अत्यन्त लोभी प्रकृति की है। सुस्वाद व्यंजन देखते ही यह ललचा उठती है और उसे पाने के लिए उसका बोल पड़ना स्वाभाविक है। इसी प्रकार यदि राजा अपने मन का संकल्प भूल से भी किसी लोभपरायण व्यक्ति के सामने प्रकट कर दे, तो उसका भेद खुल जाना अवश्यम्भावी है। मन के संकल्प को केवल बुद्धि के समक्ष ही प्रकट किया जाना चाहिए। बुद्धि भी तभी विश्वस्त है जबकि वह वासना-शून्य हो। राजा भी अपने मन में उठने वाले संकल्प को विश्वस्त मंत्री के समक्ष प्रकट करके उसकी सम्मति लेता है और तब योग्य मन्त्री राजा को यह सम्मति देता है कि वह संकल्प साकार करने योग्य है अथवा नहीं। विश्वस्त और योग्य मन्त्री उसे पूर्ण करने की पद्धति का भी निर्देश देता है।

राजनीति की गोपनीयता के सर्वश्रेष्ठ दृष्टान्त स्वयं भगवान् राम हैं। रावण-वध की उन्होंने जो योजना बनायी, उसे श्रीसीता को छोड़कर कभी किसी ने जाना ही नहीं। गोस्वामीजी ने इस योजना का चित्र अरण्य-काण्ड में प्रस्तुत किया है। श्रीलक्ष्मण जब वन में कन्द-मूल-फल लेने के लिए जाते हैं, तब एकान्त पाकर भगवान् राम ने श्रीसीताजी से मधुर वाणी में अपनी योजना बतायी, "प्रिये! मैंने एक ललित नर-लीला का संकल्प किया है। जब तक मैं निशाचरों का विनाश करूँ, तब तक आप अग्नि में निवास कीजिए" :

लछिमन गये बनहिं जब, लेन मूल फल कन्द।
जनक-सुता सन बोलेउ, बिहँसि कृपा-सुख-बृन्द॥
सुनहु प्रिया ब्रत रुचिर सुसीला।
मैं कछु करब ललित नर-लीला॥
तुम्ह पावक महँ करहु निवासा।
जब लगि करउँ निसाचर-नासा॥
जबहिं राम सब कहा बखानी।
प्रभु-पद धरि हियँ अनल समानी॥
निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता।
तैसइ रूप सील सुबिनीता॥
लछिमन हू यह मरमु न जाना।
जो कछु चरित रचा भगवाना॥

लक्ष्मण को भी रहस्य से अपरिचित रखना योग्यता के सिद्धान्त की पराकाष्ठा

थी। लक्ष्मण से बढ़कर प्रभु का कोई विश्वास-पात्र सृष्टि में हो ही नहीं सकता था। किन्तु अनेक दृष्टियों से प्रभु ने यह रहस्य उनके समक्ष भी प्रकट नहीं होने दिया। लक्ष्मण की तेजस्वी प्रकृति से प्रभु परिचित थे। राघवेन्द्र का सुख ही उनके जीवन का चरम लक्ष्य था। निशाचरों के नाश में उन्हें कोई आपत्ति न थी। पर इसे पूरा करने के लिए जो योजना प्रभु के मन में थी, उसे स्वीकार कर पाना लक्ष्मण के लिए सम्भव न था। यदि उनसे सम्मति ली जाती तो वे तत्काल यही कहते कि "मैं अभी लंकाधिपति को चुनौती देकर उसे विनष्ट कर देता हूँ।" उनमें यह सामर्थ्य थी। प्रभु भी इससेपूरी तरह परिचित थे। उन्होंने स्वयंअपना विश्वास इन पक्तियों में प्रकट भी किया। सुग्रीव विभीषण से भयभीत थे। यह कहीं शत्रु का भेदिया तो नहीं है। प्रभु ने कहा, "यदि यह भेद लेने के लिए आया है तो भी कोई चिन्ता और भय की वात नहीं है, क्योंकि सारी निशाचर जाति के वध के लिए अकेले लक्ष्मण ही यथेष्ट हैं :

भेद लेन पठवा दससीसा।
तबहुँ न कछु भय हानि कपीसा।।
जग महँ सखा निसाचर जेते।
लछिमन हनइँ निमिष महँ तेते।।

किन्तु राम का उद्देश्य केवल रावण की पराजय और निशाचरों का संहार ही तो नहीं था। उनका राजनैतिक दृष्टिकोण इस सन्दर्भ में दूसरा था। वे इस संघर्ष को व्यक्तिगत स्तर पर नहीं लड़ना चाहते थे। रावण को व्यक्तिगत संघर्ष में हराने वाले व्यक्ति तो श्रीराम से भी पहले हुए ही थे। रामभद्र इस युद्ध को एक व्यक्ति की अन्याय और अनाचारपूर्ण प्रवृत्ति के विरुद्ध सारी मानव जाति का संघर्ष वनाना चाहते थे। श्रीसीता का हरण इसके लिए आवश्यक था। रावण इसके पहले भी अत्याचार में संलग्न था। किन्तु उसके अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करने का सामूहिक संकल्प कभी समाज में उदित ही नहीं हुआ। लोग उसके द्वारा हुए अत्याचारों के मूक द्रष्टा बन गए थे। यदि सहानुभूति का क्षणिक उदय हुआ भी तो वह सामर्थ्य के अभाव में समाप्त हो गया। सीता के अपहरण से सभी का धैर्य समाप्त हो गया। उसके विरुद्ध बूढ़े गीध जटायु का संघर्ष इसका प्रतीक था कि अब उसके अन्याय को सहते रहने की क्षमता समाप्त हो गयी। अब सृष्टि का प्रत्येक व्यक्ति, भले ही वह मनुष्य न हो, रावण के विनाश के लिए कटिबद्ध है। श्रीसीता के व्याकुलता-भरे विलाप को सुनकर चेतन और जड़ सभी प्राणियों का दुःखी हो जाना इसी दिशा में एक संकेत था :

सीता कर बिलाप सुनि भारी ।
भए चराचर जीव दुखारी ॥

रावण ने जिन अगणित स्त्रियों का अपहरण किया था, उनके प्रति लोगों के के अन्तःकरण में करुणा का वह उदय होना सम्भव नहीं था, जो श्रीसीता के विलाप से हुआ । उन स्त्रियों ने क्षणिक व्याकुलता के बाद रावण को स्वीकार कर लिया था । वे लंका के वैभव और राग-रंग में डूब गयी थीं । अतः उनके लिए संघर्ष करने की बात किसके मन में आ सकती थी ? वह तो श्रीसीता थीं, जिन्होंने प्रति-क्षण रावण की उपेक्षा की । उनका अन्तःकरण श्रीराम की स्मृति में तल्लीन था । उनके प्रति किए जाने वाले अत्याचार से अन्यत्र तो क्या, स्वयं लंका में भी रावण के विरुद्ध विद्रोह की भावना जाग्रत हुई, जिसकी अन्तिम परिणति विद्रोही विभी-षण की राम की शरणागति के रूप में सामने आयी । भगवान् राम की योजना समग्र अर्थों में साकार हुई ।

इसीलिए वीरव्रती श्रीलक्ष्मण को प्रभु ने अपनी योजना में सम्मिलित नहीं किया । राजनीति की गोप्यता का यह सर्वोत्तम दृष्टान्त है । कहने के लिए तो रावण भी राजनीति की इस गोप्यता के सिद्धान्त का पालन करता है—सीता-हरण की योजना बनाने पर वह भी मारीच के पास सर्वथा अकेले जाता है :

चला अकेल जान चढ़ि तहवाँ ।
बस मारीच सिंधु-तट जहवाँ ॥

किन्तु उसने अपने षड्यन्त्र में ऐसे व्यक्ति को सम्मिलित करने की चेष्टा की जो उसकी पूरी योजना का ही विरोधी था । उसने रावण को उसके संकल्प के विरुद्ध चेतावनी दी, अपना अनुभव सुनाया । किन्तु विवेकी मारीच की सम्मति की रावण ने उपेक्षा कर दी, और उसे मृत्यु-दंड की धमकी देकर योजना में सम्मि-लित होने के लिए बाध्य किया । मारीच शरीर से योजना में सम्मिलित होते हुए भी मन से श्रीराम का शरणागत हो चुका था । आगे उसने जो कुछ किया, वह राघवेन्द्र की योजना की पूर्ति के लिए आवश्यक था । इस तरह रावण ने राजनीति की गोप्यता के सिद्धान्त का ऐसे रूप में उपयोग किया कि वह उसके लिए ही घातक बन बैठा । भगवान् राम ने अपनी योजना को संकल्प की पूर्ति के बाद भी प्रकट नहीं होने दिया । उन्होंने अग्नि में स्थापित की गयी सीता को पुनः लौटाने के लिए अग्नि-परीक्षा का ऐसा नाट्य रचा कि उस रहस्य को तत्कालीन कोई व्यक्ति नहीं समझ पाया । प्रतिबिम्ब-रूपा सीता अग्नि में समा जाती हैं, और वास्तविक सीता प्रभु के पास आ जाती हैं । गोस्वामीजी कहते हैं कि इस सारे रहस्य को देवता और

सिद्ध मुनियों ने भी नहीं जाना :

प्रतिबिम्ब अरु लौकिक कलंक प्रचण्ड पावक महँ जरे,
प्रभु-चरित काहु न लखे नभ, सुर सिद्ध मुनि देखहिं खरे ।
धरि रूप पावक पानि गहि, श्री सत्य श्रुति जग बिदित जो,
जिमि छीर सागर इन्दिरा, रामहिं समर्पी आनि सो ।।

गोप्यता का यही दर्शन राजनीति का प्राण है। भगवान् राम ने श्रीभरत को राजनीति और राजधर्म का उपदेश देकर धन्य बनाया।

।। श्रीरामः शरणं मम ।।

बंधु प्रबोध कीन्ह बहु भाँती।
बिनु अधार मन तोष न शांती ॥
× ×
प्रभू करि कृपा पाँवरी दीन्हीं।
सादर भरत सीस धरि लीन्हीं ॥

अर्थ—"यद्यपि भगवान् श्रीराम ने भाई (भरत) को अनेक प्रकार से समझाया, पर बिना किसी अवलम्ब के उनके मन को संतोष और शान्ति नहीं मिल रही है। अन्त में प्रभु ने कृपा करके उन्हें अपनी खड़ाऊँ दीं तथा श्रीभरत ने उन्हें आदरपूर्वक सिर पर रख लिया।"

चित्रकूट से श्रीभरत की विदा की बेला आ पहुँची। प्रभु ने विकेकमयी वाणी से श्रीभरत के समक्ष व्यवहार के अनेक अनुपम सूत्र प्रस्तुत किए। किन्तु प्रेम-मूर्ति को स्थूल प्रताक की आवश्यकता का अनुभव हो रहा था। उनकी मुखाकृति पर असन्तोष और व्यग्रता के चिह्न विद्यमान थे। श्रीराघवेन्द्र बड़ी कठिनाई का अनुभव कर रहे थे, क्योंकि, श्रीभरत की जो भावना थी, उसे पूर्ण करने में वे मर्यादा का यत्किंचित् हनन-सा देख रहे थे। भरत की दृष्टि पादुकाओं पर थी। गुरुजनों के समक्ष उसे देना रामभद्र को धृष्टता प्रतीत हो रही थी। किन्तु स्नेह की विजय हुई। पादुकाएँ प्रदान की गयीं।

बहुधा यह कहा जाता है कि स्थूल प्रतीक के माध्यम से की जानेवाली उपासना साधारण कोटि की है। विवेक की उत्कृष्ट स्थिति में इसकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है। जब तत्वज्ञ को सर्वत्र ब्रह्म का साक्षात्कार होने लगता है, तब उसे एक मूर्ति अथवा प्रतीक में स्थूल उपकरणों से पूजा की कोई अपेक्षा नहीं

रहती। उस तत्त्वविद् की प्रत्येक क्रिया ही पूजा है। वह मस्ती में पुकार उठता है, "हे सदाशिव, आप ही आत्मा हैं। पार्वती बुद्धि हैं। प्राण आपके सहचर हैं। यह शरीर ही आपका मंदिर है। विविध प्रकार के उपभोग के पदार्थ ही पूजा के उपकरण हैं। मेरा चलना ही परिक्रमा है। मुख से निकलने वाली प्रत्येक वाणी ही स्तोत्र का पाठ है। निद्रा ही समाधि की स्थिति है। इस तरह जितने भी कर्म मैं करता हूँ, सब आपकी आराधना हैं":

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः।
संचारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो
यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो ! तवाराधनम् ।।

गोस्वामीजी इससे कुछ भिन्न रूप में भावनात्मक पूजा और आरती का वर्णन करते हैं। उसका भी श्रीगणेश इसी भावना से होता है। समस्त जड़ और चेतन विश्व प्रभु का ही रूप है—अन्तःकरण की यही भावना सच्ची 'धूप' है:

ऐसी आरती राम रघुबीर की करहि मन।
हरन दुःख द्वन्द गोविन्द आनन्दघन ।।
अचरचर रूप हरि, सरनगत, सरबदा बसत, इति बासना धूप दीजै।
दीप निजबोधगत-कोह-मद-मोह-तम, प्रौढ़ अभिमान चित बृत्ति छीजै ।।
भाव अतिसय बिसद प्रवर नैवेद्य सुभ श्रीरमन परम संतोषकारी।
प्रेम-ताम्बूल गत सूल संसय सकल, बिपुल भव-बासना-बीज-हारी ।।
असुभ-सुभ कर्म-घृतपूर्ण दश वर्तिका, त्याग पावक, सतोगुण प्रकासम्।
भक्ति-बैराग्य-बिग्यान दीपावली, अर्पि नीराजनं जग-निवासम् ।।
बिमल हृदि-भवन कृत सान्ति-पर्यंक सुभ, सयन बिश्राम श्रीरामराया।
छमा-करुना प्रमुख तत्र परिचारिका, यत्र हरि तत्र नहिं भेदमाया ।।
एहि आरती निरत सनकादि श्रुति, सेष, सिव देवरिषि, अखिल मुनि तत्त्वदरसी।
करै सोइ तरै, परिहरै कामादि मल, वदति इति अमल-मति दास तुलसी ।।

अर्थात्, हे मन ! रघुकुल-वीर श्रीरामचन्द्रजी की इस प्रकार आरती कर। वे रागद्वेष आदि द्वन्द्वों तथा दुःखों के नाशक, इन्द्रियों का नियंत्रण करनेवाले तथा आनन्द की वर्षा करनेवाले हैं। जड़ चेतन, सब जगत् हरि का रूप है, वे सर्वव्यापी और नित्य हैं। इस वासना (सुगन्ध) की उनकी धूप कर। इससे तेरी भेदरूपी दुर्गन्ध मिट जाएगी। धूप के बाद दीप दिखाना चाहिए; आत्मज्ञान का स्वयं प्रकाशमय दीपक जलाकर उससे क्रोध, मद और मोह के अन्धकार का नाश

कर दे। इस ज्ञान-प्रकाश से अभिमान-भरी चित्त-वृत्तियाँ आप ही क्षीण हो जाएँगी। इसके बाद अत्यन्त निर्मल श्रेष्ठ भाव का नैवेद्य भगवान् को अर्पण कर। विशुद्ध भाव का सुन्दर नैवेद्य लक्ष्मीपति भगवान् को परम सन्तोषकारी होगा। फिर दुःख, समस्त सन्देह, और अपार संसार की वासनाओं के बीज का नाश करनेवाले 'प्रेम' का ताम्बूल भगवान् को निवेदन कर। तदनन्तर शुभाशुभ कर्म-रूपी घृत में डूबी हुई दस इन्द्रिय-रूपी बत्तियों को त्याग की अग्नि से जलाकर सत्त्वगुण-रूपप्रकाश कर। इस तरह भक्ति, वैराग्य और विज्ञान-रूपी दीपावली की आरती जगन्निवास भगवान् को अर्पण कर। आरती के बाद निर्मल हृदय-रूपी मन्दिर में शान्ति-रूपी सुन्दर पलंग बिछाकर उसपर महाराज श्रीरामचन्द्रजी को शयन करवाकर विश्राम करा। वहाँ महाराज की सेवा के लिए क्षमा, करुणा आदि मुख्य दासियों को नियुक्त कर। जहाँ भगवान् हरि रहते हैं, वहाँ भेद-रूपी माया नहीं रहती। सनकादि, वेद, शुकदेवजी, शेष, शिवजी, नारदजी और सभी तत्त्व-दर्शी मुनि ऐसी आरती में सदा लगे रहते हैं। निर्मलमति मुनियों का दास तुलसी कहता है कि जो कोई ऐसी आरती करता है, वह कामादि-विकारों से छूटकर इस भवसागर से तर जाता है।

इस प्रकार की पूजा को स्वीकार करते हुए भी गोस्वामीजी प्रतीक-पूजा की आवश्यकता को अस्वीकार नहीं करते हैं। मानस में श्रीभरत सर्वथा अप्रतिम पात्र हैं। उनका विवेक वाराह बनकर गुरु वशिष्ठ और जनक-जैसे महापुरुषों की बुद्धि-रूपा अपहृता पृथ्वी का उद्धार करता है :

साक कनक लोचन मति छोनी।
हरी बिमल गुनगन जग जोनी।।
भरत बिबेक बराह बिसाला।
अनायास उघरी तेहि काला।।

उनकी भावना से पाषाण भी द्रवित हो जाता है। उनका दिव्य स्नेह जड़ को चेतन और चेतन को जड़ बना देता है :

होत न भूतल भाउ भरत को।
अचर सचर चर अचर करत को।।

वे धर्म के मूर्तिमान् विग्रह हैं। समग्र धर्मों का एक साथ निर्वाह केवल उनके चरित्र में ही उपलब्ध होता है :

जौं न होत जग जनम भरत को।
सकल धरम धुरि धरनि धरत को।।

ज्ञान, भक्ति और धर्म की ऐसी समग्रता जिस महापुरुष के जीवन में विद्यमान हो, उसका स्थूल प्रतीक के प्रति इतना आग्रह यह सिद्ध कर देता है कि मानस की दृष्टि में प्रतीक अथवा मूर्ति की आराधना साधारण कक्षा की वस्तु नहीं है। मानस के इस दृष्टिकोण को हृदयंगम करना अनेक भ्रान्तियों का निवारण करनेवाला सिद्ध होगा। तुलसी की दृष्टि में भावनात्मक उपासना और मूर्ति अथवा प्रतीक की पूजा एक-दूसरे की विरोधी न होकर पूरक हैं। उनकी दृष्टि में शरीर और प्राण के समान दोनों ही एक-दूसरे के लिए अपेक्षित हैं। यह विवाद कि शरीर और प्राण में कौन श्रेष्ठ है, सर्वथा निरर्थक है। तर्क की दृष्टि से यह कहना भले ही युक्ति-युक्त प्रतीत हो कि शरीर की तुलना में प्राण श्रेष्ठ हैं, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यह मान्यता सर्वथा अर्थहीन है। शरीर के अभाव में प्राण की कोई उपयोगिता नहीं है, और प्राण के अभाव में शरीर शवमात्र सिद्ध होगा। दोनों मिलकर ही एक जीवन्त और गतिशील व्यक्ति का निर्माण करते हैं। प्रतीक की पूजा यदि शरीर है तो भावनात्मक उपासना उसका प्राण। भावना और विचार से शून्य आराधना शव-पूजा की भाँति निरर्थक है। ठीक उसी तरह स्थूल पूजा के अभाव में उपासना की सत्ता ही संदिग्ध हो जाती है।

तार्किकता के अतिरेक में जिन मतों अथवा संप्रदायों ने मूर्ति-पूजा को अस्वीकार कर दिया, वे भाषणों में भले ही स्वयं को सफल सिद्ध कर दें, किन्तु व्यवहार में उन्हें प्रतिक्षण मिथ्याचार को ही स्वीकार करना पड़ा। भले ही कुछ लोग ईश्वर की मूर्ति के रूप में आराधना न करें, किन्तु उनमें से अनेक गुरु के शरीर को ही पूजा अर्पित करने लग जाते हैं। कुछ लोगों की दृष्टि में उपासना का स्थल ही पवित्रता का प्रतीक बन जाता है, तो कहीं ग्रन्थ को वह स्थान प्राप्त हो जाता है। अतः स्थूल मूर्ति अथवा प्रतीक के बिना कोई भी उपासना-पद्धति चल ही नहीं सकती। यह बात और है कि कुछ लोग उसके गौरव को सीधे स्वीकार कर लें, और कुछ लोग द्रविण प्राणायाम की भाँति उसको घुमा-फिराकर ग्रहण करें। तुलसी ने झूठी तार्किकता के मोह में यथार्थ को अस्वीकार नहीं किया, फिर ईश्वर का अवतार स्वीकार करनेवाला व्यक्ति मूर्ति और प्रतीक की पूजा को अस्वीकार भी कैसे कर सकता है? निर्गुण-निराकार ब्रह्म से जब समाज की समस्याओं का समाधान प्राप्त नहीं होता है, और जब भक्त को द्रष्टा और कूटस्थ ब्रह्म से पूर्ण तृप्ति का बोध नहीं होता है, तभी वह उनसे सूक्ष्म से स्थूल होने की प्रार्थना करता है। निर्गुण-निराकार ब्रह्म केवल विचार को ही सन्तुष्ट कर सकता है। किन्तु जब वह भक्त की प्रार्थना पर शरीर ग्रहण कर लेता है, तब वह विचार, भावना और शरीर सभी को परितृप्ति देने वाला सिद्ध होता है। भक्त अन्तर्यामी को बहिर्यामी बना देना चाहता है। तुलसीदास से किसी ने प्रश्न किया, "अन्त-

र्यामी ब्रह्म की तुलना में बाहर मूर्ति में स्थित रहने वाला ईश्वर कैसे श्रेष्ठ हो सकता है ?" तुलसी ने व्यंग-भरा उत्तर दिया, "प्रह्लाद की पुकार पर उनके हृदय में रहने वाला ब्रह्म कहाँ आया ? हाँ, सामने के प्रस्तर-स्तम्भ से प्रकट हो कर ईश्वर ने अवश्य उनकी रक्षा की। इसलिए मेरी दृष्टि में तो अन्तर्यामी ब्रह्म की अपेक्षा बहिर्यामी ईश्वर ही श्रेष्ठ है" :

अन्तरजामि हुतें बड़े बाहेर जामी हैं राम जे नाम लिए तें।
धावत धेनु पेन्हाइ लवाइ ज्यों बालक-बोलनि कान किए तें॥
आपनि बूझि कहै तुलसी, कहिबे की न बावरि बात बिये तें।
पैज परें प्रहलादहु को प्रगटे प्रभु पाहन ते न हिए तें॥

इसके स्पष्टीकरण के लिए उन्होंने गाय का दृष्टान्त प्रस्तुत किया। गाय का वात्सल्य प्रसिद्ध है। उसके द्वारा उपलब्ध होने वाला दूध व्यक्ति को तृप्ति और पुष्टि प्रदान करता है। गाय में दूध की विद्यमानता का ज्ञान होने से ही क्षुधा की समस्या का समाधान नहीं हो जाता। दूध को स्थूल रूप में प्रकट करने का प्रयास करना होता है। इसके लिए गाय के समक्ष बछड़ा खड़ा करना पड़ता है, तभी गाय का सूक्ष्म वात्सल्य उमड़कर दुग्ध को स्तनों में एकत्र करने में समर्थ होता है। बछड़े के ही माध्यम से वह दूध अन्य लोगों को भी प्राप्त हो जाता है। ईश्वर गाय के सदृश है। उसके अस्तित्व का ज्ञान विचार को भले ही सन्तुष्ट कर दे, किन्तु मानवीय जीवन की समस्याओं का समाधान पाने के लिए उसकी करुणा को द्रवित करना होगा। भक्त अपने भाव-वत्स के द्वारा कृपा-दुग्ध पाने में सफल होता है। ब्रह्म-निर्गुण से सगुण होकर ही उसकी समस्याओं का समग्र समाधान करता है। ऐसी स्थिति में सूक्ष्म की तुलना में स्थूल को अधिक महत्त्व देना ही उसके लिए स्वाभाविक है।

श्रीभरत भी भक्ति के इसी दर्शन को स्वीकार करते हैं। प्रभु की वाणी के द्वारा विचार और भावना की तृप्ति होने के बाद भी वे स्थूल प्रतीक की आवश्यकता का अनुभव करते हैं। राज-सत्ता का मुख्य चिह्न सिंहासन है। वे उस सिंहासन पर अपने स्थूल शरीर को बैठाने की कल्पना भी नहीं कर सकते। सिंहासन पर बैठकर केवल भावनात्मक रूप से यह चिन्तन करना कि यह राज्य ईश्वर का है, उन्हें मिथ्याचार प्रतीत होता है। उन्हें तो एक ऐसा प्रतीक चाहिए, जो न केवल उन्हें, अपितु सारी अयोध्या के लोगों को, यह स्मरण दिलाता रहे कि यह राज्य केवल प्रभु का है। भावना और विचार के नाम पर व्यक्ति आत्म-प्रवंचक भी बन सकता है, किन्तु प्रतीक इस प्रवंचना से बचाता है।

एक विषय-लोलुप व्यक्ति केवल अपनी जिह्वा को तृप्त करने के लिए स्वयं

भोजन करता हुआ यह बहाना बना सकता है कि वह अन्तर्यामी ब्रह्म की आराधना कर रहा है। किन्तु भगवान् की मूर्ति को नैवेद्य अर्पित करने पर वह प्रसाद के रूप में परिवर्तित हो जाता है। उस पर एक व्यक्ति का अधिकार न होकर वह प्रसाद के रूप में प्रत्येक व्यक्ति को उपलब्ध होता है। इसलिए व्यक्तिगत भोग की भावना और मिथ्याचार को मिटाने के लिए मूर्ति अथवा प्रतीक सर्वश्रेष्ठ साधन है।

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

सुनि सखि पाइ असीस बड़ि, गनक बोलि दिन साधि।
सिंघासन प्रभु पादुका, बैठारे निरुपाधि॥

× ×

नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति।
मागि मागि आयसु करत, राज-काज बहु भाँति॥

अर्थ—गुरुदेव की शिक्षा और आशीर्वाद पाकर श्रीभरत ने ज्योतिषी को बुलाया, और शुभ मुहूर्त शोधकर राज्य-सिंहासन पर श्रीराम की चरण-पादुकाएँ बिना किसी बाधा के प्रतिष्ठित कर दीं। श्रीभरत नित्य प्रभु की चरण-पादुका का पूजन करते थे। उनके हृदय में इतना अधिक प्रेम था कि वह हृदय में समा नहीं रहा था। वे उन पादुकाओं से ही आज्ञा माँग-माँगकर सारा राजकाज चलाते थे।

गुरु वशिष्ठ के समक्ष श्रीभरत ने अपनी भावनाओं का निवेदन किया। उनके हृदय में दो संकल्प थे—सिंहासन पर श्रीराघवेन्द्र की पादुकाओं का अभिषेक और नन्दिग्राम से राज-कार्य का संचालन। श्रीभरत के दोनों विचार परम्परागत धर्म से भिन्न थे। इसलिए उन्होंने गुरु वशिष्ठ से आदेश लेना आवश्यक समझा। किन्तु ब्रह्मर्षि चित्रकूट से लौटने के बाद पूरी तरह परिवर्तित हो चुके थे। उन्हें धर्म की व्याख्या के लिए चित्रकूट में नयी दृष्टि प्राप्त हुई थी। इसलिए श्रीभरत की नम्रता-भरी जिज्ञासा से वे पुलकित हो उठे। उन्होंने श्रीभरत की सराहना करते हुए उन्हें एक अनुपम प्रमाण-पत्र दिया—"भरत, मैं तो यह समझता हूँ कि तुम्हारा विवेक, तुम्हारी वाणी और तुम्हारी क्रिया ही धर्म का सार है":

सानुज गे गुरु गेह बहोरी।
करि दण्डवत कहत कर जोरी॥

आयसु होइ त रहउँ सनेमा।
बोले मुनि तनु पुलकि सप्रेमा ।।
समुझब, कहब करब तुम्ह जोई।
धरम सार जग होइहि सोई ।।

चित्रकूट जाने से पहले गुरु वशिष्ठ के द्वारा श्रीभरत के समक्ष एक विकल्प प्रस्तुत किया गया था। पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए श्रीभरत चौदह वर्ष के लिए राज्य स्वीकार कर लें, और श्रीराघवेन्द्र के आने पर उन्हें राज्य समर्पित कर दें। उनकी दृष्टि से इसमें महाराजश्री की मर्यादा और श्रीभरत की भावना दोनों ही सुरक्षित रह जातीं :

अवसि नरेस बचन फुर करहू।
पालहु प्रजा सोक परिहरहू ।।
सुरपुर नृप पाइहि परितोषू।
तुम्ह कहँ सुकृत सुजसु नहिं दोषू ।।
बेद बिदित संमत सबही का।
जेहि पितु देइ सो पावइ टीका ।।
करहु राज परिहरहु गलानी।
मानहु मोर बचन हित जानी ।।
सुनि सुख लहब राम बैदेही।
अनुचित कहब न पण्डित केही ।।
कौसल्यादि राम महतारी।
तेउ प्रजा सुख होहिं सुखारी ।।
परम तुम्हार राम कर जानिहि।
सो सब बिधि तुम्ह सन भल मानिहि ।।
सौंपेहु राज राम के आए।
सेवा करेहु सनेहुँ सुभाए ।।

किन्तु इस प्रस्ताव को श्रीभरत ने स्वीकार नहीं किया। साधारण दृष्टि से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि अन्त में चित्रकूट से लौटने के पश्चात् श्रीभरत को गुरु वशिष्ठ का ही प्रस्ताव स्वीकार करना पड़ा। चौदह वर्ष तक राज्य करने के बाद भरत ने श्रीरामभद्र को राज्य सौंप दिया। किन्तु अन्तरंग में पैठकर देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीभरत का दर्शन गुरु वशिष्ठ के प्रस्ताव से सर्वथा भिन्न है। जहाँ गुरु वशिष्ठ की मान्यता यह थी कि राजा अपनी वस्तु किसी को

भी देने के लिए स्वतंत्र है। महाराज श्रीदशरथ ने यह राज्य भरत को दिया, उसे स्वीकार कर लेना भरत का कर्त्तव्य है। और राज्य का स्वामित्व पाने के बाद वे स्वतंत्रतापूर्वक यह राज्य चाहे जिसे दे सकते हैं। किन्तु श्रीभरत यह कल्पना स्वप्न में भी नहीं करते हैं कि अयोध्या राज्य के स्वामी बनकर वे उसे श्रीराम को देने की धृष्टता करें। उनकी दृष्टि में सारी सम्पत्ति एकमात्र प्रभु की है। उनकी ही वस्तु उन्हें देने की धृष्टता वे कैसे कर सकते थे? उनकी चित्रकूट यात्रा का मुख्य उद्देश्य प्रभु से अयोध्या के स्वामित्व की स्वीकृति लेना था। श्रीराघवेन्द्र से पादुका पाकर ही वे सन्तुष्ट हुए। क्योंकि पादुकाएँ पद में धारण की जाती हैं। अयोध्या के राज्य-पद को प्रभु यदि अपना स्वीकार न करते, तो वे पादुकाएँ न देते। श्रीभरत के लिए राज्य-सञ्चालन समस्या नहीं थी, किन्तु वे एक राजा के रूप में यह भार लेने के लिए प्रस्तुत नहीं थे। पादुकाओं की उपलब्धि से उन्हें वह आधार प्राप्त हो गया, जिसे केन्द्र बनाकर वे सेवा-कार्य सम्पन्न कर सकते थे। इसीलिए उन्होंने ब्रह्मर्षि से पादुकाओं को ही सिंहासन पर अभिषिक्त करने की प्रार्थना की।

पद और सिंहासन पाकर भले-से-भले व्यक्ति भी बदल जाया करते हैं। जब तक व्यक्ति सत्ता से दूर रहता है, तब तक वह भले ही उसके प्रलोभन में न फँसे या उससे दूर रहना चाहे, किन्तु एक बार उसका स्वाद पा लेने पर उसे छोड़ने का मन होना सरल नहीं है। सिंह साधारणतया मनुष्य पर आक्रमण नहीं करता है, किन्तु यह भी अनोखा सत्य है कि एक बार भूले-भटके यदि वह नरभक्षी हो जाए तो फिर वह अपने आक्रमण का लक्ष्य मनुष्यों को ही बनाता है। राजा भी जिस आसन पर आसीन होता है, उसे 'सिंहासन' की संज्ञा दी गयी है। सिंह वनराज है; वह शौर्य और शूरता का प्रतीक है। वह उन्मत्त हाथियों को भी परास्त कर देता है। राजा भी शूरवीर हो, यह लोक-संरक्षण के लिए अभीष्ट है। वह 'मत्त करि-राज' की भाँति मतवाले व्यक्तियों से भी प्रजा-वन की रक्षा करे तो उसकी शोभा है। पर यदि वह नरभक्षी व्याघ्र की भाँति प्रजा को ही खाने पर तुल जाए तो उससे कौन रक्षा कर सकता है? इतिहास इस प्रकार की अनगिनत घटनाओं से भरा पड़ा है, जहाँ राजा रक्षक के स्थान पर भक्षक बन गया।

वाल्मीकि-रामायण में एक प्रसङ्ग आता है। श्रीराम लंका से व्यग्रतापूर्वक श्रीभरत से मिलने के लिए चल पड़े। वे पुष्पक विमान पर आरूढ़ थे। उन्होंने श्रीहनुमान को दूत बनाकर श्रीभरत के पास अपना समाचार देने के लिए भेजा। उन्हें यह ज्ञात था कि श्रीभरत उनका समाचार पाने के लिए व्याकुल होंगे। किन्तु उन्होंने आञ्जनेय से यह भी कह दिया, "उनका मन यदि अयोध्या के राज्य में रम गया हो तो तुम लौट आना। ऐसी स्थिति में मैं अयोध्या लौटकर नहीं जाऊँगा।

भरत ही वहाँ आनन्दपूर्वक राज्य करें" :

उपयातं च मां सौम्य भरताय निवेदय।
सह राक्षसराजेन हरीणामीश्वरेण च॥
जित्वा शत्रुगणान् रामः प्राप्य चानुत्तमं यशः।
उपायाति समृद्धार्थः सह मित्रैर्महाबलैः॥
एतच्छ्रुत्वा यमाकारं भजते भरतस्ततः।
स च ते वेदितव्यः स्यात् सर्वं यच्चापि मां प्रति॥
ज्ञेयाः सर्वे च वृत्तान्ता भरतस्येंगितानि च।
तत्वेन मुखवर्णेन दृष्ट्या व्याभाषितेन च॥
सर्वकामसमृद्धं हि हस्त्यश्व-रथ-संकुलम्।
पितृपैतामहं राज्यं कस्य नावर्तयेन्मनः॥
संगत्या भरतः श्रीमान् राज्येनार्थी स्वयं भवेत्।
प्रशास्तु वसुधां सर्वामखिलां रघुनन्दनः॥

अर्थात्—भरतसे यह भी निवेदन करना कि श्रीराम शत्रुओंको जीतकर, परम उत्तम यश पाकर, सफल-मनोरथ होकर राक्षसराज विभीषण, वानरराज सुग्रीव तथा अपने अन्य महाबली मित्रों के साथ आ रहे हैं, और प्रयाग तक आ पहुँचे हैं। यह बात सुनकर भरत की जैसी मुखमुद्रा हो, उस पर ध्यान रखना और समझना तथा भरत का मेरे प्रति जो कर्त्तव्य या बर्त्ताव हो, उसको भी जानने का प्रयत्न करना। वहाँ के सारे वृत्तान्त तथा भरत की चेष्टाएँ तुम्हें यथार्थ रूप से जाननी चाहिए। मुख की कान्ति, दृष्टि और बातचीत से उनके मनोभावों को समझने की चेष्टा करनी चाहिए। समस्त मनोवांछित भोगों से सम्पन्न तथा हाथी, घोड़े और रथों से भरपूर बाप-दादों का राज्य सुलभ हो तो वह किसके मन को नहीं पलट देता ? यदि कैकेयी की संगति अथवा चिरकाल तक राज्य-वैभव का संसर्ग होने से श्रीमान् भरत स्वयं ही राज्य पाने की इच्छा रखते हों, तो वे रघुकुलनन्दन भरत बेखटके समस्त भूमण्डल का राज्य करें (मुझे उस राज्य को नहीं लेना है, उस दशा में हम कहीं अन्यत्र रहकर तपस्वी जीवन व्यतीत करेंगे)।

श्रीभरत के सन्दर्भ में यह सत्य नहीं था। तुलसी के राम के हृदय में तो क्षण-भर के लिए भी यह संशय नहीं होता कि भरत राज्य पाकर उसमें आसक्त हो गए होंगे। किन्तु वाल्मीकि के राम जो कहते हैं वह मनुष्य-जाति के अनगिनत अनुभवों का ही परिणाम था। श्रीभरत इस इतिहास से अनभिज्ञ नहीं थे। वे प्रतिक्षण सजग थे। सिंहासन पर पादुकाओं की प्रतिष्ठा और नन्दिग्राम से राज्य का सञ्चालन, दोनों ही इस सजगता के परिणाम हैं। वे सत्ता और भोग के दोनों

केन्द्रों से दूर रहने का दृढ़ निश्चय कर चुके थे।

सत्ता का सम्बन्ध मन से है और भोगों का सम्बन्ध शरीर से है। मन और शरीर दोनों ही एक दूसरे के प्रति आसक्त हैं। एक का प्रभाव दूसरे पर पड़ता ही है। एक बार मन सत्ता की सुरा का अभ्यस्त होते ही भोग के अन्य उपकरणों की माँग करता है; और यदि शरीर एक बार भोगों का अभ्यस्त हो जाय तो इन भोगों की स्थिरता के लिए उसे सत्ता की आवश्यकता का अनुभव होता है। इस तरह शरीर और मन दोनों मिलकर ऐसा षड्यंत्र करते हैं कि विवेक खड़ा-खड़ा देखता रह जाता है। प्रारम्भ में वह चेतावनी देता है, किन्तु बाद में वह भी मौन हो जाता है, और अन्त में वह समर्थन की स्थिति में भी उतर सकता है। देखते-ही-देखते व्यक्ति इतना बदल जाता है कि विश्वास ही नहीं होता कि कभी यही व्यक्ति धर्मात्मा, सदाचारी और शीलवान् था। यह इतिहास इतनी अधिक बार दुहराया गया है कि इसे सृष्टि का अकाट्य सत्य मान लिया गया—"ऐसा कोई शरीरधारी नहीं है, जो प्रभुता पाकर उन्मत्त न हो जाय" :

नहिं कोउ अस जनमा जग माहीं।
प्रभुता पाइ जाहि मद नाहीं॥

इससे बचने के लिए केवल विवेक ही यथेष्ट नहीं है। शरीर और मन पर नियंत्रण रखना आवश्यक है। यह नियंत्रण बाह्य और आन्तरिक दोनों ही रूपों में आवश्यक है। कोई भी व्यक्ति कितना ही महान् क्यों न हो, अपने मन पर अत्यधिक विश्वास करने पर धोखा खाये बिना नहीं रहता है। श्रीमद्भागवत में एक उद्बोधक कथा आती है। शंकर ने भगवान् विष्णु से अनुरोध किया कि वे उन्हें उस मोहिनी-रूप का दर्शन करावें, जिसका दर्शन करके असुर इतने मोहित हुए कि उन्होंने अमृत-कुम्भ उनके हाथों में सौंप दिया। असुरों ने समुद्र-मन्थन में कठिन श्रम किया था। अमृत पाना ही उसका उद्देश्य था। सुधा-घट पर असुरों का अधिकार भी हो गया। देवताओं को वे उसमें से एक बूंद भी नहीं देना चाहते थे। किन्तु भगवान् को मोहिनी-रूप में देखते ही वे कलश उन्हें दे देते हैं। शिव को आश्चर्य होता है। चौकन्ने असुरों को रूप ने इतना मोहासक्त कैसे बना दिया? वे उस रूप को अपनी आँखों से देखना चाहते हैं। विष्णु ने चेतावनी दी, किन्तु रुद्र को अपने मन पर पूरा भरोसा था। किन्तु मोहिनी का दिव्य सौंदर्य देखकर वे उन्मत्त की भाँति उसके पीछे भागे। यह संकेत था सभी लोगों के लिए। जब भगवत्कोटि के शिव भी सौंदर्य के आकर्षण से स्खलित हो सकते हैं तब अन्य लोगों का कहना ही क्या! वहाँ व्यास भी यही कहते हैं तथा भगवान् शंकर ने भी देवी सती से यही कहा :

अपि व्यपश्यस्त्वमजस्य मायां,
परस्य पुंसः परदेवतायाः।
अहं कलानामृषभो विमुह्ये
ययावशोन्ये किमुता स्वतन्त्रताः ।।

"देवि ! तुमने परम पुरुष परमेश्वर भगवान् विष्णु की माया देखी । यों तो मैं समस्त कला-कौशल, विद्या आदि का स्वामी और स्वतन्त्र हूँ, फिर भी उस माया से विवश होकर मोहित हो जाता हूँ । फिर दूसरे जीव तो परतन्त्र हैं ही । अतः यदि वे मोहित हो जाएँ तो इसमें कहना ही क्या है !"

श्रीभरत नन्दिग्राम में रहकर कठिन साधना और तपस्या में संलग्न रहें, यह उनके प्रबुद्ध विवेक का परिचायक था । उन्होंने यह नहीं मान लिया कि मेरा मन इतना विरागी है कि वह भोगों को भोगता हुआ भी उनमें आसक्त नहीं होगा । उनकी तपस्या तुलसी की दृष्टि में एक कसौटी है, जिस पर शरीर-स्वर्ण को वे निरंतर कसकर देखते रहते हैं । "भरत भवन बसि तप तनु कसहीं" में इसीकी ओर इङ्गित है । यदि शरीर प्रभु की सेवा का उपकरण बन जाए तो भक्तों की दृष्टि में वह शुद्ध स्वर्ण है । भौतिक स्वर्ण की परीक्षा भले ही एक बार हो, पर यह शरीर परिवर्तनशील स्वर्ण है । इसमें भोगों की मिलावट की आशङ्का है । यह सोने से लोहा और उसके बाद मिट्टी भी बन सकता है । इसीलिए इस स्वर्ण की निरन्तर परीक्षा करते रहना चाहिए कि कहीं उसमें बदलाव या मिलावट तो नहीं आ रही है । श्रीभरत भी अपने शरीर को तप की कसौटी पर कसकर देखते हैं कि कहीं यह तप म्लान तो नहीं हो रहा है । विषयों का आकर्षण इसे बदल तो नहीं रहा है । यह सजगता ही साधक का सर्वोत्कृष्ट लक्षण है। सैद्धान्तिक रूप से यद्यपि यही प्रतिपादन किया जाता है कि सिद्धस्थिति में पतन की कोई आशंका नहीं रह जाती । वह "पद्मपत्रमिवाम्भसा" (जल में कमल की भाँति) निर्लेप हो जाता है :

जे बिरंचि निर्लेप उपाए ।
पदुम पत्र जिमि जल जग जाए ।।

सच्चे विराग का लक्षण भी यही है। श्रीभरत का विराग इसी कोटि का है । श्रीभरत नन्दिग्राम में ही नहीं रहते थे, वे राज्य की व्यवस्था के लिए महलों में भी आते थे । उन्हें सारी प्रजा के लिए, परिवार के लिए भोगों के उपकरण भी एकत्र करने पड़ते होंगे । फिर भी वे उनमें इसी भाँति रहे, जैसे भ्रमर चम्पक बाग में रहता है :

अवध राज सुरराज सिहाहीं।
दसरथ धन सुनि धनद लजाहीं ।।
तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा।
चंचरीक जिमि चम्पक बागा ।।

किन्तु प्रश्न यह है कि विभाग के साथ बाह्य त्याग की कोई अपेक्षा है या नहीं ? मानस का मत यही है कि केवल आन्तरिक विराग ही नहीं, जीवन में त्याग भी आवश्यक है। केवल विराग के नाम पर व्यक्ति स्वयं को और समाज को धोखा दे सकता है। एक श्रीमन्त को मैं जानता हूँ जो बात-बात में यह घोषित करते हैं कि मैं तो सारी सम्पत्ति भगवान् की मानता हूँ, किन्तु वे उस सम्पत्ति का स्वयं के लिए उपभोग करते हैं। लोकोपकार और दान से दूर भागते हैं। अत: उनके मुख से निकला हुआ "सम्पत्ति सब रघुपति कै आही" मिथ्याचार और दम्भ का परिचायक है। सम्पत्ति यदि प्रभु की है तो उसकी सार्थकता भी वितरण और दान से ही सिद्ध होगी। श्रीभरत के चरित्र में वैराग्य की पूर्णता तो है ही, उनका त्याग भी उतना ही महान् है। बहुधा नियम-व्रत को कर्मकाण्ड का अंग माना जाता है। यह भी कहा जाता है कि प्रेम में नियम नहीं होता। सिद्धांतत: यह भी सत्य हो सकता है। पर इस तरह प्रेम के नाम पर उच्छृंखलता को स्वीकार करने वाले अनगिनत व्यक्ति मिल जाते हैं। नियम और व्रत के द्वारा जब किसी लौकिक या पारलौकिक पदार्थ की कामना की जाती है, तब वह कर्म-का ही अंग है। प्रेमी के जीवन में नियम किसी भौतिक आकांक्षा से प्रेरित नहीं होता, किन्तु उसकी भी उपयोगिता है। एक व्यक्ति आम के स्थान पर बबूल का वृक्ष लगावे तो सम्भव है उसे बुद्धिमान् न माना जाय; किन्तु यदि कोई व्यक्ति आम के वृक्ष के चारों ओर सुरक्षा के लिए बबूल के काँटेदार वृक्ष का बाड़ के रूप में उपयोग करे तो उसके विवेक की सराहना करनी होगी। सजग प्रेमी भी अपने प्रेम-तरु के चारों ओर दुर्गुण-रूप पशुओं से सुरक्षा के लिए नेम की बाड़ लगा देता है।

श्रीभरत के चरित्र में वैराग्य के साथ त्याग और प्रेम के साथ नेम भी विद्यमान है। इसीलिए उनके प्रेम में पतन की कोई आशंका नहीं है। नन्दिग्राम में रहकर श्रीभरत जिस नियम-व्रत का पालन करते हैं, उसमें इसी समन्वय-साधना का परिचय प्राप्त होता है :

नन्दि गाँव करि परन कुटीरा।
कीन्ह निबास धरम धुर धीरा ।।

जटा जूट सिर मुनि पट धारी।
महि खनि कुस साँथरी सँवारी॥
असन बसन बासन ब्रत नेमा।
करत कठिन रिषि धरम सपेमा॥
भूषन बसन भोग सुख भूरी।
मन तन बचन तजे तिन तूरी॥
अवधराज सुरराज सिहाई।
दसरथ धन सुनि धनद लजाई॥
तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा।
चंचरीक जिमि चम्पक बागा॥
रमा बिलास राम अनुरागी।
तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥
राम प्रेम भाजन करत, बड़े न एहि करतूति।
चातक हंस सराहिअत, टेक बिबेक बिभूति॥

साहित्य में चातक को प्रेम का और हंस को विवेक का प्रतीक माना जाता है। भरत के व्यक्तित्व की व्याख्या के लिए गोस्वामीजी दोनों के एकत्रीकरण की कल्पना करते हैं। उनका विवेक प्रेम का प्रतिद्वन्द्वी न होकर उसे सुरक्षित रखने में सहायता देता है। साधारणतया साधक विवेक के द्वारा मुक्ति चाहता है; क्योंकि साधना-प्रणाली में ज्ञान को मोक्षप्रद माना गया है :

धर्म ते बिरति जोग ते ग्याना।
ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना॥

श्रीभरत के जीवन में मोक्ष की कोई कामना नहीं है। उनका विवेक प्रभु के आदर्शों की रक्षा करने में सहायक बनता है। यदि वे केवल प्रेमी होते तो प्रभु के सन्निकट रहकर उनकी सेवा करना चाहते। श्रीलक्ष्मण के चरित्र में प्रेम का यही स्वरूप विद्यमान है। किन्तु यदि श्रीभरत प्रभु से दूर रहकर भी अयोध्या के राज्य का संचालन स्वीकार कर लेते हैं, तो उसका कारण प्रेम के साथ विवेक का समन्वय ही है। यदि वे प्रेमपूर्ण अन्तःकरण से प्रभु की पादुकाओं का पूजन करते हैं, तो विवेक के द्वारा अयोध्या के राज्य-कार्य का संचालन करने में भी समर्थ हैं। उनके लिए काष्ठ की पादुकाएँ केवल जड़ पदार्थ नहीं हैं, उन्होंने उन पादुकाओं में भी प्रभु का साक्षात्कार किया :

भरत मुदित अवलम्ब लहे ते।
अस सुख जस सिय राम रहे ते ।।

साधारण व्यक्ति जब प्रतीक अथवा मूर्ति की पूजा करता है, तब उसकी आराधना अधूरी होती है, क्योंकि वह परम्परा के रूप में ही इस प्रक्रिया को स्वीकार करता है। उसे उस मूर्ति में समग्र चैतन्यता का साक्षात्कार नहीं होता। इसीलिए जब वह प्रार्थना और स्तोत्र-पाठ करता है तब देवता की ओर से उत्तर का स्वर न सुनायी देने पर भी उसे कोई असन्तोष नहीं होता। जब भी व्यक्ति समाज में किसी दूसरे व्यक्ति से वार्तालाप करता है, तब वह उससे प्रत्युत्तर की आशा अवश्य करता है। जब वह किसी के समक्ष भोजन परोसता है, तब वह यह आशा रखता है कि सामने वाला व्यक्ति उसे स्वीकार करेगा; किन्तु मूर्ति के समक्ष नैवेद्य अर्पित करते हुए वह यह कल्पना भी नहीं करता कि यह नैवेद्य स्वीकार कर लिया जाएगा। किन्तु एक सच्चे भक्त के लिए प्रतिमा एक प्रतीक-मात्र नहीं है। वह उसमें अपने इष्टदेव का साक्षात्कार करता है। पूजा की समग्रता यही है कि जब प्रतिमा से व्यक्ति को उत्तर प्राप्त हो।

पुष्प-वाटिका में श्रीसीता द्वारा पार्वती के पूजन का उल्लेख किया गया है। वे पुष्प-वाटिका में पार्वती-पूजन के लिए ही पधारी थीं। पूजन का यह आदेश उन्हें माँ की ओर से प्राप्त हुआ था :

तेहि अवसर सीता तहँ आई।
गिरिजा पूजन जननि पठाई ।।

इस पूजन में उन्होंने शास्त्रीय व्यवस्था का पूरी तरह पालन किया था। सखियों के साथ वे वाटिका में आती हैं, सरोवर में स्नान करती हैं, और तब पूजा की सामग्री लेकर वे मंदिर में प्रविष्ट होती हैं। अनुराग-भरे हृदय से भवगती उमा का पूजन सम्पन्न करती हैं, और अन्त में अपने अनुरूप वर की याचना भी करती हैं। यह सब-कुछ परम्परा के ही अनुकूल था। पार्वतीजी की प्रतिमा से कोई स्वर नहीं निकलता है। परम्परागत पूजा में इसकी आशा भी नहीं की जाती है। इस पूजन का चित्र गोस्वामीजी पाँच पंक्तियों में प्रस्तुत कर उसे समाप्त कर देते हैं :

तेहि अवसर सीता तहँ आई।
गिरिजा पूजन जननि पठाई ।।
संग सखी सब सुभग सयानीं।
गावहिं गीत मनोहर बानीं ।।

सर समीप गिरिजा गृह सोहा।
बरनि न जाइ देखि मन मोहा।।
मज्जन करि सर सखिन्ह समेता।
गई मुदित मन गौरि निकेता।।
पूजा कीन्हि अधिक अनुरागा।
निज अनुरूप सुभग बरु माँगा।।

किन्तु कुछ समय बाद ही वे गिरिजा-गृह में पुनः प्रविष्ट होती हैं। इस बार उनके साथ पूजा के उपकरण नहीं थे। किन्तु मंदिर में प्रविष्ट होकर प्रार्थना करते ही पार्वती की प्रतिमा मुस्करा पड़ी और उनके मुख से आशीर्वाद के मधुर स्वर गूँज उठे :

बिनय प्रेम बस भई भवानी।
खसी माल मूरति मुसुकानी।।
सादर सिय प्रसाद सिर धरेऊ।
बोली गौरि हरष हिय भरेऊ।।
सुनु सिय सत्य असीस हमारी।
पूजिहि मनकामना तुम्हारी।।
नारद बचन सदा सुचि साचा।
सो बरु मिलिहि जाहि मन राचा।।
मन जाहि राचेउ मिलिहि, सो बरु सहज सुन्दर साँवरो।
करुना निधान सुजान सील सनेह जानत रावरो।।
एहि भाँति गौरि असीस सुनि सिय सहित हिय हरषीं अली।
तुलसी भवानिहि पूजि पुनि-पुनि मुदित मन मंदिर चली।।

इस अन्तर का क्या कारण है? प्रथम पूजन परम्परागत पद्धति से था। किन्तु दूसरी बार पार्वती-मन्दिर में उनका प्रवेश हृदय की प्रेरणा से होता है। हार्दिक प्रेरणा और विश्वास की पूर्णता से ही यहाँ प्रतिमा से उत्तर प्राप्त होता है। श्रीभरत के द्वारा पादुका-पूजन परम्परा की पूर्ति-मात्र नहीं था। वे प्रेम-भरे अन्तःकरण से पादुका-पूजन करते हुए उनसे आदेश भी प्राप्त करते हैं। वे राज-कार्य के सञ्चालन में उनके आदेश के अनुरूप ही सारी व्यवस्था सम्पन्न करते हैं :

नित पूजत प्रभु पाँवरी, प्रीति न हृदयँ समाति।
मागि मागि आयसु करत, राज काज बहु भाँति।।

जब राजकार्य का सञ्चालन सेवक बनकर किया जाता है, जब सञ्चालन करने वाला स्वयं सत्ता और भोग से दूर रहकर प्रजा की सेवा करता है, तब इस सुदृढ़ नींव पर आधारित राज्य ईश्वरीय राज्य का प्रतीक बन जाता है।

चौदह वर्ष की वनय-त्ना से लौटते ही राम-राज्य की स्थापना केवल ईश्वरीय चमत्कार का परिणाम न थी। वह सन्त भरत के द्वारा स्थापित उस नवीन दर्शन का परिणाम था, जिसमें व्यक्ति के राजा न बनते हुए भी उसके द्वारा राज्य का सुव्यवस्थित सञ्चालन होता है। इसीलिए भगवान् राम राम-राज्य की स्थापना का समग्र श्रेय श्रीभरत को देते हैं।

